महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अन्तर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya
(A Central University Established by Parliament by Act No. 3 of 1997)
नैक द्वारा 'A' ग्रेड प्राप्त / Accredited with 'A' Grade by NAAC

हिन्दी नीतिकाव्य और मूल्य चेतना

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
चतुर्थ सेमेस्टर
प्रथम पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 19

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट – हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा – 442001 (महाराष्ट्र)

2

हिन्दी नीतिकाव्य और मूल्य चेतना

प्रधान सम्पादक

प्रो॰ गिरीश्वर मिश्र
कुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास
अनुसंधान अधिकारी एवं पाठ्यक्रम संयोजक- एम. ए. हिन्दी पाठ्यक्रम
दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सम्पादक मण्डल

प्रो॰ आनन्द वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ कृष्ण कुमार सिंह
निदेशक, दूर शिक्षा निदेशालय एवं विभागाध्यक्ष, हिंदी एवं तुलनात्मक साहित्य विभाग
साहित्य विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

प्रो॰ चन्द्रकला त्रिपाठी
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, महिला महाविद्यालय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो॰ अरुण कुमार त्रिपाठी
प्रोफेसर एडजंक्ट, जनसंचार विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

पुरन्दरदास

प्रकाशक
कुलसचिव, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा, महाराष्ट्र, पिन कोड : 442001

© सम्पादक

प्रथम संस्करण : जून 2018

पाठ्यक्रम परिकल्पना, संरचना एवं संयोजन
आवरण, रेखांकन, पेज डिज़ाइनिंग, कम्पोज़िंग ले-आउट एवं टंकण

पुरन्दरदास

पाठ-रचना

पुरन्दरदास

खण्ड – 1 : इकाई – 1, 2 एवं 3
खण्ड – 2 : इकाई – 1, 2 एवं 3
खण्ड – 3 : इकाई – 1 एवं 2
खण्ड – 4 : इकाई – 1, 2, 3, 4 एवं 5
खण्ड – 5 : इकाई – 1, 2 एवं 3

कार्यालयीय सहयोग

श्री विनोद रमेशचंद्र वैद्य
सहायक कुलसचिव, दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण पृष्ठ पर संयुत विश्वविद्यालय के वर्धा परिसर स्थित गांधी हिल स्थल का छायाचित्र श्री राजदीपसिंह राठौर फोटोग्राफर एंड डॉक्यूमेंटेशन सहायक, जनसंपर्क विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा से साभार प्राप्त

http://hindivishwa.org/distance/contentdtl.aspx?category=3&cgid=77&csgid=65

- यह पाठ्यसामग्री दूर शिक्षा निदेशालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में प्रवेशित विद्यार्थियों के अध्ययनार्थ उपलब्ध करायी जाती है।
- इस कृति का कोई भी अंश लिखित अनुमति लिए बिना मिमियोग्राफ अथवा किसी अन्य साधन से पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
- पाठ में विश्लेषित तथ्य एवं अभिव्यक्त विचार पाठ-लेखक के अध्ययन एवं ज्ञान पर आधारित हैं। सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का उससे सहमत होना आवश्यक नहीं है।
- इस पुस्तक को यथासम्भव त्रुटिहीन एवं अद्यतन रूप से प्रकाशित करने के सभी प्रयास किए गए हैं तथापि संयोगवश यदि इसमें कोई कमी अथवा त्रुटि रह गई हो तो उससे कारित क्षति अथवा संताप के लिए पाठ्यक्रम संयोजक, सम्पादक, प्रकाशक एवं मुद्रक का कोई दायित्व नहीं होगा।
- किसी भी परिवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र वर्धा, महाराष्ट्र ही होगा।

अपनी बात

बीते दशकों में विकास की प्रक्रिया बहुत तीव्र हुई है। शिक्षा, चिकित्सा, खेल आदि प्रायः सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व कीर्तिमान स्थापित हुए हैं। भौतिक संसाधन बढ़े हैं, दूरियाँ घटी हैं, तकनीकी सुख-सुविधाओं का विस्तार हुआ है, बावजूद इसके प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के पास समय की कमी महसूस की जा रही है। सूचना-संग्रहण और तथ्य-संकलन की क्षमता एवं प्रवृत्ति का विस्तार हुआ है किन्तु अध्ययन, चिन्तन और मनन की प्रवृत्ति नष्ट होती जा रही है। आजीविका हेतु नवीन कार्यक्षेत्रों का उद्घाटन हुआ है किन्तु कठोर परिश्रम करके खाने-कमाने की प्रवृत्ति विकसित नहीं हो पा रही है। कर्त्तव्य से विमुख होकर केवल अधिकार-प्राप्ति के प्रति आतुरता दिखाई देती है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक और ईश्वर को कोरी परिकल्पना सिद्ध करने का दुष्परिणाम यह हुआ है कि नैतिकता, जीवन-मूल्य और आदर्श बेमानी हो चले हैं। अवसरवादिता की प्रवृत्ति ने छल-छद्मपूर्ण जीवनचर्या को ही आदर्श और सफल जीवन शैली घोषित कर दिया है। 'देने' की प्रवृत्ति का लगभग नाश हो चुका है जबकि दोहन की लालसा निरन्तर बढ़ती जा रही है। केवल 'पाने' की कुत्सा के दुष्परिणामों का अनुमान नष्ट होते पर्यावरण को देखकर सहज ही किया जा सकता है। वर्तमान विकृत परिदृश्य महज एक आईना है। ऐसी स्थितियों में आने वाली पीढ़ियाँ किस परिवेश में कैसा जीवन जीएँगी ! यह सोचना भयावह है।

आज भी अनेक विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा के दौरान नैतिक शिक्षा का पाठ प्रमुखता से पढ़ाया जाता है। माध्यमिक कक्षाओं में यह गौण हो जाता है। उच्च माध्यमिक कक्षाओं में इसका स्थान दूसरे विषय ले लेते हैं। स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर तो इसकी तलाश करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि शिक्षित होने के बाद ही मनुष्य जीवन का दूसरा प्रमुख चरण प्रारम्भ होता है। स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर ही उसे नैतिक शिक्षा दिए जाने की सर्वाधिक आवश्यकता होती है क्योंकि यहाँ से शिक्षित होने के पश्चात् ही उसका सामाजिक दायित्व-निर्वहन के क्षेत्र में अवगाहन होता है।

इसी चिन्ता को लक्ष्य कर महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के दूर शिक्षा निदेशालय द्वारा संचालित एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम में समाविष्ट करने हेतु **हिन्दी नीतिकाव्य और मूल्य चेतना** पाठ्यचर्या की संकल्पना की गई है। चार क्रेडिट की इस पाठ्यचर्या के पाँच खण्डों में कुल सोलह इकाइयाँ निर्धारित की गई हैं। पाठ्यचर्या के प्रथम खण्ड में नीतिकाव्य, जीवन-मूल्य और मूल्य चेतना की अवधारणा तथा सैद्धान्तिकी स्पष्ट करने तथा नीतिकाव्य का परम्परावलोकन करने के उद्देश्य से कुल तीन इकाइयाँ निर्धारित की गई हैं जबकि शेष चार खण्डों की तेरह इकाइयों के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन अट्ठारह विशिष्ट कवियों को वर्गीकृत किया गया है जिनके नीतिकाव्य में अभिव्यक्त शारीरिक, चारित्रिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक, आर्थिक एवं राजनैतिक जीवन-मूल्यों का विस्तृत विवेचन मिलता है।

नीतिकवियों द्वारा विरचित काव्य मनुष्य को जीवनोपयोगी संस्कार और नैतिक मूल्यों की शिक्षा प्रदान करता है। उक्त पाठ्यचर्या के समावेश से न केवल समाजोपयोगी शिक्षा का प्रचार-प्रसार होगा प्रत्युत हिन्दी नीतिकाव्य-परम्परा के प्रायः विस्मृत नीतिकवियों को महत्त्व दिए जाने का उद्देश्य भी सिद्ध होगा। इत्यलम्।

पाठ्यचर्या विवरण

चतुर्थ सेमेस्टर
प्रथम पाठ्यचर्या (अनिवार्य)
पाठ्यचर्या कोड : MAHD – 19
पाठ्यचर्या का शीर्षक : हिन्दी नीतिकाव्य और मूल्य चेतना

क्रेडिट – 4

खण्ड – 1 : नीति और नीतिकाव्य : अवधारणा एवं सैद्धान्तिकी

इकाई – 1 : 'नीति' और 'नीतिकाव्य' : अवधारणा एवं स्वरूप, नीति के प्रकार, नीतिकाव्य : काव्यत्व विषयक मत, नीतिकाव्य का प्रयोजन, पद्य, सूक्ति और काव्य में भेद

इकाई – 2 : मूल्य चेतना : अवधारणा एवं स्वरूप, मूल्य और जीवन-मूल्य, जीवन-मूल्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण, विविध पक्ष

इकाई – 3 : नीतिकाव्य की परम्परा : वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, पालि साहित्य, प्राकृत साहित्य, अपभ्रंश साहित्य, आदिकालीन साहित्य, भक्तिकालीन साहित्य, रीतिकालीन साहित्य में नीति और मूल्य चेतना

खण्ड – 2 : सन्तकवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : कबीर

इकाई – 2 : रज्जब

इकाई – 3 : सुन्दरदास

खण्ड – 3 : भक्तकवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : तुलसीदास

इकाई – 2 : रहीम

खण्ड – 4 : रीतिकालीन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : बिहारीलाल

इकाई – 2 : वृन्द

इकाई – 3 : घाघ-भड्डरी

इकाई – 4 : गिरिधर कविराय

इकाई – 5 : दीनदयाल गिरि

खण्ड – 5 : अन्य कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : रैदास (रविदास)

इकाई – 2 : नानक, रसखानि

इकाई – 3 : जमाल, रामसहाय दास, सम्मन, बेताल

निर्धारित पाठ्य कृतियाँ :

01. कबीर : चयनित अंश, कबीर ग्रन्थावली, सम्पादक – डॉ॰ श्यामसुन्दरदास, प्रकाशक – नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, उन्नीसवाँ संस्करण - वि. सं. 2054
02. रज्जब : चयनित अंश, श्री रज्जब वाणी, टीकाकार – स्वामी नारायणदास पुष्कर, प्रकाशक – नारायणसिंह शेखावत, सन्त साहित्य प्रकाशन, अजमेर, संस्करण सन् 1980 ई.
03. सुन्दरदास : चयनित अंश, सुन्दर-विलास, सम्पादक – किशोरीलाल गुप्त, प्रकाशक – कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, प्रथम संस्करण सन् 1973 ई.
04. तुलसीदास : चयनित अंश, गोस्वामी तुलसीदास जी रचित दोहावली, अनुवादक – हनुमानप्रसाद पोद्दार, प्रकाशक – मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर, सत्रहवाँ संस्करण – वि. सं. 2022
05. रहीम : चयनित अंश, रहीम ग्रन्थावली, सम्पादक – विद्यानिवास मिश्र, गोविन्द रजनीश, प्रकाशक – वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण सन् 1999 ई.
06. बिहारी : चयनित अंश, – बिहारी-रत्नाकर, जगन्नाथदास 'रत्नाकर', प्रकाशक –प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, संस्करण सन् 2009 ई.
07. वृन्द : चयनित अंश, वृन्द सतसई, संपादक – पन्नालाल श्रीवास्तव, प्रकाशक – श्री गणेश पुस्तकालय, इलाहाबाद
08. घाघ : चयनित अंश, घाघ और भड्डरी, सम्पादक – रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक – हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् 1931 ई.
09. भड्डरी : चयनित अंश, घाघ और भड्डरी, सम्पादक – रामनरेश त्रिपाठी, प्रकाशक – हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण सन् 1931 ई.
10. गिरिधर कविराय : चयनित अंश, गिरिधर की सुबोध कुण्डलियाँ, सम्पादक – वियोगी हरि, प्रकाशक – यशपाल जैन, सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1977 ई.
11. दीनदयाल गिरि : चयनित अंश, दीनदयालगिरि-ग्रन्थावली, सम्पादक – श्यामसुन्दरदास, प्रकाशक – नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, वि. सं. 1906
12. रैदास (रविदास) : चयनित अंश, महात्मा रैदास जी की बानी, प्रकाशक – बेलवीडियर प्रिंटिंग वर्क्स, इलाहाबाद, ग्यारहवाँ संस्करण सन् 1988 ई.
13. नानक, चयनित अंश, सप्तसिन्धु नानक-वाणी, सम्पादक – डॉ॰ रमेशचन्द्र मिश्र, प्रकाशक – हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण सन् 1995 ई.
14. रसखानि : चयनित अंश, रसखान रचनावली, सम्पादक – विद्यानिवास मिश्र, सत्यदेव मिश्र, प्रकाशक – वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण सन् 2014 ई.
15. जमाल : चयनित अंश, जमाल दोहावली, सम्पादक – महावीरसिंह गहलोत, प्रकाशक – पुस्तक-भवन, काशी, सन् 1945 ई.
16. रामसहाय दास : चयनित अंश, रामसहाय दास ककहरा, सम्पादक – आचार्य दीपांकर वशिष्ठ
17. सम्मन : चयनित अंश, (i) हिन्दी साहित्य का इतिहास, सम्पादक – डॉ॰ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, संस्करण 2009 (ii) हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि के आधार, सम्पादक – रामरतन भटनागर (iii) आचार्य राजेन्द्र सहाय द्वारा सम्पादित पुस्तक (iv) विविध इंटरनेट स्रोत
18. बेताल : चयनित अंश, हरिऔध ग्रन्थावली, खण्ड : 6, भाषा की परिभाषा, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', सम्पादक – तरुण कुमार, प्रकाशक – हिंदी समय, म. गां. अं. हिं वि., वर्धा

सहायक पुस्तकें :

01. अकथ कहानी प्रेम की : कबीर की कविता और उनका समय, पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन
02. अथर्ववेद संहिता, श्रीव्रजजीवन प्राच्य भारती ग्रन्थमाला-86, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली-7, संस्करण : सन् 1996 ई.
03. अन्योक्तिकल्पद्रुम, सं. रामदास गौड़, साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, द्वितीय संस्करण : संवत् 1988
04. अपभ्रंश का जैन साहित्य और जीवन-मूल्य, डॉ॰ साध्वी साधना, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1991
05. अमृतलाल नागर-कृत मानस का हंस : सामाजिक मूल्य, अंजना विजन, ज्ञान प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण : 2006
06. आठवें दशक की हिन्दी कहानी में जीवन-मूल्य, डॉ॰ रमेश देशमुख, विद्या प्रकाशन, कानपुर, 1994
07. उत्तर मध्यकालीन कविता, सं. ओम्प्रकाश सिंहल, पीताम्बर पब्लिशिंग कम्पनी, 888, ईस्ट पार्क रोड़, करौल बाग, नयी दिल्ली-5, द्वितीय संस्करण : सन् 1991 ई.
08. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, सं. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण : वि.सं. 2021
09. ऋग्वेद का सुबोध-भाष्य, म. प. पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
10. ऋग्वेद विद कमेन्ट्रीज पार्ट छह तथा पार्ट सात, सं. विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, प्रथम संस्करण : सन् 1964 ई. तथा सन् 1965 ई.
11. कबीर, सं. डॉ॰ वासुदेवसिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद-2, संस्करण : सन् 1994 ई.
12. कबीर, सं. विजयेन्द्र स्नातक, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, सातवाँ संस्करण : सन् 1995 ई.
13. कबीर, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, द्वितीयावृत्ति : सन् 1973 ई.
14. कबीर : एक अनुशीलन, रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद
15. कबीर : एक नई दृष्टि, रघुवंश, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
16. कबीर एक पुनर्मूल्यांकन, सं. बलदेव वंशी, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा
17. कबीर : कवि और युग, एक पुनर्मूल्यांकन, के. श्रीलता, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा
18. कबीर का रहस्यवाद, रामकुमार वर्मा, साहित्य भवन, इलाहाबाद
19. कबीर की खोज, सं. राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
20. कबीर की चिन्ता, बलदेव वंशी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
21. कबीर के आलोचक, धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
22. कबीर के आलोचक – 2, कबीर के कुछ और आलोचक, धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
23. कबीर के आलोचक – 3, सूत न कपास, धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
24. कबीर के काव्य में रूपक विधान, शगुफ़्ता नियाज़, अनंग प्रकाशन, दिल्ली
25. कबीर ग्रन्थावली, पारसनाथ तिवारी
26. कबीर ग्रन्थावली (सटीक), रामकिशोर शर्मा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
27. कबीर : दृष्टि-प्रतिदृष्टि, सं. राजेन्द्र टोकी, विमला बुक्स, दिल्ली
28. कबीर : नई सदी में : एक, कबीर : हजारीप्रसाद का प्रक्षिप्त चिन्तन, धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
29. कबीर : नई सदी में : दो, कबीर और रामानंद, किंवदंतियाँ, धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
30. कबीर : नई सदी में : तीन, कबीर बाज भी, कपोत भी, पपीहा भी, धर्मवीर, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली

31. कबीर, निराला और मुक्तिबोध, ललिता अरोड़ा, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, नयी दिल्ली
32. कबीर बीजक में विचार और काव्य, रजनी जैन, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी
33. कबीर मीमांसा, रामचन्द्र तिवारी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
34. कबीर : व्यक्तित्व, कृतित्व एवं सिद्धान्त, लेखक : डॉ॰ सरनामसिंह शर्मा, भारतीय शोध-संस्थान, गाँधी शिक्षण-समिति गुलाबपुरा, प्रथम संस्करण : सन् 1969 ई.
35. कबीर वांग्मय : खण्ड – 1, रमैनी, जयदेवसिंह, वासुदेवसिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
36. कबीर वांग्मय : खण्ड – 2, सबद, जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
37. कबीर वांग्मय : खण्ड – 3, साखी, जयदेवसिंह, वासुदेवसिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
38. कबीर विचार और दर्शन, सं. एस. एस. गौतम, गौतम बुक सेन्टर, दिल्ली
39. कल्याण, चरित्र-निर्माणांक, संख्या-1, गीता प्रेस, गोरखपुर, 1983
40. कल्याण, भक्तचरितांक, वर्ष-26 (संख्या-1), गीताप्रेस गोरखपुर, द्वितीय संस्करण : वि.सं. 2048
41. कल्याण, रामांक, वर्ष-46 (संख्या-1), गीताप्रेस गोरखपुर, संस्करण : सन् 1972 ई.
42. कविवर बिहारी, जगन्नाथदास रत्नाकर, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी
43. कविवर वृन्द : व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व, डॉ॰ सुधीर शर्मा, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1998
44. गोसाँई तुलसीदास, विश्वनाथप्रसाद मिश्र
45. गोस्वामी तुलसीदास, रामचन्द्र शुक्ल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
46. गिरिधर कविराय, डॉ॰ गीता शर्मा, किताबघर, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2007
47. जीवन-मूल्य (भाग – 1, 2, 3), प्र. ग. सहस्रबुद्धे, सुरुचि प्रकाशन, दिल्ली, 2000
48. तुलसी : आधुनिक वातायन से, रमेश कुंतल मेघ, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
49. तुलसी-काव्य-मीमांसा, उदयभानुसिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली
50. तुलसी की साहित्य-साधना, लल्लन राय, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
51. तुलसी के ग्यारह ग्रन्थ भाग – 2, युगेश्वर, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
52. तुलसी के रचना सामर्थ्य का विवेचन, योगेन्द्र प्रताप सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
53. तुलसी के हिय हेरि, विष्णुकांत शास्त्री, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
54. तुलसीकृत विनयपत्रिका एवं त्यागराज-कीर्तन में भक्तिरस, लीला ज्योति, लोकभारती प्रकाशन
55. तुलसी ग्रन्थावली, भाग – 1, नागरी प्रचारिणी सभा
56. तुलसी-दर्शन, सं. डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र, मौलिचन्द्र शर्मा, सचिव, प्रथम शासन निकाय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सातवाँ संस्करण : सन् 1967 ई.
57. तुलसी-दर्शन-मीमांसा, उदयभानुसिंह, लखनऊ विश्वविद्यालय लखनऊ, प्रथम संस्करण : वि.सं. 2018
58. तुलसीदास, माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, लोकभारती प्रकाशन
59. तुलसीदास, रामचन्द्र तिवारी, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली
60. तुलसीदास, रामजी तिवारी, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
61. तुलसीदास, सं. वासुदेव सिंह, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
62. तुलसीदास और उनका युग, डॉ॰ राजपति दीक्षित, ज्ञानमण्डल, बनारस, प्रथम संस्करण : वि.सं. 2009
63. तुलसीदास : एक मूल्यांकन, सं. अजय तिवारी, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा

64. तुलसीदास के काव्य में नैतिक मूल्य, डॉ॰ चरणदास शर्मा 'शास्त्री', भारतीय ग्रन्थ निकेतन, 133, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-6, प्रथम संस्करण : 1971
65. तुलसीदास के साहित्य में लोक और शास्त्र, वन्दना शाही, लोकायत प्रकाशन, वाराणसी
66. तुलसीदासोत्तर हिन्दी राम-साहित्य, लेखक : डॉ॰ रामलखन पाण्डेय, प्रकाशन : श्रीरामेश्वरप्रसाद मेहरोत्रा, अभिनव भारती-42, सम्मेलन मार्ग, इलाहाबाद-3, प्रथम संस्करण : सन् 1972 ई.
67. तुलसी-पूर्व राम-साहित्य, डॉ॰ अमरपालसिंह, रचना प्रकाशन, 5, ख़ुसरोबाग रोड़, इलाहाबाद-1, प्रथम संस्करण : सन् 1968 ई.
68. तुलसी प्रेरणा प्रतिफलन, हरिकृष्ण अवस्थी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी
69. दयानन्द-यजुर्वेद भाष्य, भास्कर, महर्षि दयानन्द का वेद-भाष्य (व्याख्या सहित)
70. देव और बिहारी, कृष्ण बिहारी मिश्र
71. नई कविता में मूल्य बोध, शशि सहगल, अभिनव प्रकाशन, दिल्ली, 1993
72. निराला काव्य में मानव-मूल्य और दर्शन, डॉ॰ देवेन्द्रनाथ त्रिवेदी, सुलभ प्रकाशन, अशोक मार्ग, लखनऊ, प्रथम संस्करण : 1992
73. निराला साहित्य में जीवन-दर्शन, डॉ॰ विनोदिनी श्रीवास्तव, सुलभ प्रकाशन, अशोक मार्ग, लखनऊ, प्रथम संस्करण : 1988
74. नीति प्रवेशिका, जे. एस. मकेंजी (अनुवाद : डॉ॰ गोवर्धन भट्ट), राजकमल प्रकाशन, संस्करण : 1972
75. नीतिशतकम्, भर्तृहरि विरचित, विजयशंकर मिश्र, हिन्दी व्याख्या वैताल, चौखम्भा संस्कृत साहित्य सीरीज, वाराणसी
76. परिशोध, मानव-मूल्य विशेषांक, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़, 91वाँ अंक, मार्च 1993
77. पालि साहित्य का इतिहास, भिक्षु धर्मरक्षित, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1971
78. ब्रज-साहित्य का इतिहास, डॉ॰ सत्येन्द्र, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण : वि.सं. 2024
79. बिहारी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, संजय बुक सेंटर, वाराणसी
80. बिहारी अनुशीलन (वक्रोक्ति के सन्दर्भ में), सरोज गुप्ता, ईशा ज्ञानदीप
81. बिहारी का नया मूल्यांकन, बच्चनसिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
82. बिहारी काव्य का अभिनव मूल्यांकन, किशोरीलाल, साहित्य भवन, इलाहाबाद
83. बिहारी की वाग्विभूति – विश्वचनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, वाराणसी
84. बिहारी-बोधिनी, टीकाकार लाला भगवानदीन, साहित्य सेवा सदन, बनारस, अष्टम परिशोधित संस्करण : 2013
85. बिहारी-सतसई, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
86. बिहारी सतसई (लालचंद्रिका), सुधाकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी
87. बिहारी सतसई (संजीवन भाष्य), पद्मसिंह शर्मा
88. बिहारी-सतसई श्रृंगारेतर मूल्यांकन, देवेन्द्र, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर
89. बिहारी सार्धशती, ओम्प्रकाश, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
90. बेहद्दी मैदान में कबीर, सं. मुहम्मद ज़की, शिल्पायन, दिल्ली
91. भक्तमाल, नाभादास, सं. एवं टीकाकार : रूपकला, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, तृतीय आवृत्ति : सन् 1951 ई.

92. भक्तमाल, राघवदास, सं. स्वामी नारायणदास, पुष्कर, श्रीदादूदयालु महासभा, श्रीदादू महाविद्यालय, मोती डूँगरी रोड, जयपुर सिटी (राज.), प्रथम आवृत्ति : वि.सं. 2026
93. भागवत पुराण (हिन्दी अनुवाद), सं. डॉ॰ रामचन्द्र वर्मा शास्त्री, धर्मग्रन्थ प्रकाशन, कमलानगर, दिल्ली-7
94. भारतीय जीवन-मूल्य, डॉ॰ धर्मपाल मैनी, भारतीय संस्कृति संस्थान, चंडीगढ़, तृतीय संस्करण : 2002
95. भारतीय जीवन-मूल्य, डॉ॰ सुरेन्द्र वर्मा, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, प्रथम संस्करण : 1996
96. भारतीय नीति का विकास, डॉ॰ श्री राजबली पाण्डेय, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, संवत् 2022
97. भारतीय नीतिकाव्य-परम्परा और रहीम, डॉ॰ बालकृष्ण 'अकिंचन', अलंकार प्रकाशन, दिल्ली-51, प्रथम संस्करण : 1974
98. भारतीय साहित्य के निर्माता कबीर, प्रभाकर माचवे, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
99. भारतीय सौन्दर्यबोध और तुलसीदास, रामविलास शर्मा, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
100. मध्यकालीन धर्म-साधना, हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण : सन् 1956
101. मध्यकालीन हिन्दी साहित्य भक्ति और रीति सन्दर्भ, सं. डॉ॰ विजयेन्द्र स्नातक, डॉ॰ रामजी मिश्र, भूमिका प्रकाशन, 2/38, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, संस्करण : सन् 1991 ई.
102. महाभागवतपुराण, गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई, संस्करण : सन् 1913 ई.
103. महाभारत (खण्ड – द्वितीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ), गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण : वि.सं. 2044
104. मूल्य मीमांसा, गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1989
105. रहीम ग्रन्थावली, सं. विद्यानिवास मिश्र, गोविन्द रजनीश, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण 1999
106. रहीम रचनावली, सं. डॉ॰ सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण : 2004
107. राग कल्पद्रुम भाग-1, संकलनकर्त्ता : कृष्णानन्द राग सागर, बंगीय साहित्य परिषद्, कलकत्ता, संस्करण : सन् 1916 ई.
108. रामचरितमानस और रामचन्द्रिका तुलनात्मक अध्ययन, डॉ॰ जगदीशनारायण अग्रवाल, श्रीप्रमोदबिहारी, राज्यश्री प्रकाशन, तिलकद्वार, मथुरा, संस्करण : सन् 1972-73 ई.
109. राम-साहित्य का स्वरूप और तुलसीदास, साहित्यालंकार सत्यदेव चतुर्वेदी, श्रीमती आर्या सुरसति चतुर्वेदी, हिन्दी-साहित्य-सृजन-परिषद्, मधारे टोला, जौनपुर उत्तरप्रदेश, संस्करण : सन् 1978
110. रीतिकालीन नीतिकाव्य की सामाजिक भूमिका, डॉ॰ संजीव सिंह नेगी, नवराज प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2004
111. रीतिकालीन नीतिकाव्य में जीवन-मूल्य, डॉ॰ विकास कुमार, हेमाद्रि प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2012
112. रीतिकालीन रीतिकवियों का काव्य-शिल्प, डॉ॰ महेन्द्र कुमार, आर्य बुक डिपो, द्वितीय संस्करण : 1984
113. रीतिकालीन शृंगार कवियों की नैतिक दृष्टि, डॉ॰ शकुन्तला अरोड़ा, सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1978
114. रीतिकालीन हिन्दी साहित्य में उल्लिखित वस्त्राभरणों का अध्ययन, लल्लन राय, पब्लिकेशन ब्यूरो, पंजाब यूनिवर्सिटी, चंडीगढ़, प्रथम संस्करण : 1974
115. रीतिकालोत्तर कवि और काव्य, डॉ॰ श्यामानन्द प्रसाद, अनुपम प्रकाशन, पटना, 1979
116. लोकवादी तुलसीदास, डॉ॰ विश्वनाथ त्रिपाठी, अरविन्दकुमार, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली-6, संस्करण : सन् 1974 ई.

117. वेदामृत (भाग-6), पद्मश्री डॉ॰ कपिदेव आचारय, विश्वभारती अनुसंधान परिषद्, ज्ञानपुर (भदोही), द्वितीय संस्करण : सन् 1998
118. वृन्द और उनका साहित्य, डॉ॰ जनार्दन राव चेलेर, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1972
119. वृन्द-ग्रन्थावली, डॉ॰ जनार्दन राव चेलेर, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, 1971
120. वृन्द : व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व, डॉ॰ सुधीर शर्मा, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 1998
121. शान्ति पर्व में नैतिक मूल्य, डॉ॰ हरिवंश अनेजा, कादम्बरी प्रकाशन, दिल्ली, 1986
122. शुक्लयजुर्वेद संहिता, हिन्दी व्याख्याकार : डॉ॰ रामकृष्ण शास्त्री, सं. रीविद्याभवन प्राच्य विद्या ग्रन्थ माला-39, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-1, प्रथम संस्करण : सन् 1992 ई.
123. श्रीदादूवाणी, सं. पण्डित चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, सन्त साहित्य अकादेमी, वाराणसी (उत्तरप्रदेश), प्रकाशन वर्ष : सन् 1985 ई.
124. श्रीमद्भगवद्गीता, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2063, 61वाँ पुनर्मुद्रण
125. श्रीमद् भागवत महापुराण (प्रथम एवं द्वितीय खण्ड), गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर, उन्नीसवाँ संस्करण : वि.सं. 2050
126. श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण (प्रथम तथा द्वितीय भाग) गोविन्दभवन कार्यालय, गीताप्रेस गोरखपुर, अट्ठारहवाँ संस्करण : वि.सं. 2054
127. संस्कृत साहित्य का इतिहास, बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर वाराणसी, सप्तम संस्करण : सन् 1965
128. संस्कृति के चार अध्याय, रामधारीसिंह दिनकर, केदारनाथ सिंह, उदयाचल, राष्टकवि दिनकर पथ, राजेन्द्र नगर, पटना-16, द्वितीय संस्करण : सन् 1977 ई.
129. सन्त दादूदयाल के काव्य में अध्यात्म-तत्त्व, डॉ॰ आशा देवी, वरुण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2003
130. सन्त-साहित्य और समाज, रमेशचन्द्र मिश्र, आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, 1994
131. सन्त साहित्य में मानव-मूल्य, डॉ॰ देवमणि उर्फ मीना मिश्र, साहित्य भवन, इलाहाबाद, 1983
132. सुन्दर ग्रन्थावली, सं. पुरोहित हरिनारायण शर्मा
133. सुन्दर ग्रन्थावली, सं. स्वामी नारायणदास, पुष्कर
134. सुन्दर ग्रन्थावली, सं. स्वामी द्वारिकादास शास्त्री
135. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग 1 एवं 2, सं. रमेशचन्द्र मिश्र, किताबघर, नयी दिल्ली
136. सुन्दरदास, रमेशचन्द्र मिश्र, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली
137. सुन्दरदास, त्रिलोकीनारायण दीक्षित
138. सवैया ग्रन्थ (सुन्दरविलास), सं. महन्त बजरंगदास शास्त्री
139. सामन्ती परिवेश का यथार्थ और बिहारी का काव्य, रामदेव शुक्ल, अभिव्यक्ति प्रकाशन, इलाहाबाद
140. संस्कृति तत्त्व मीमांसा, डॉ॰ नन्दलाल मेहता 'वागीश', सूर्यप्रभा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2004
141. साठोत्तर हिन्दी कहानी, : मूल्यों की तलाश, डॉ॰ वासुदेव शर्मा, शारदा प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1986
142. साहित्य के शाश्वत मूल्य, रमेशचन्द्र गुप्त, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2004
143. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास : मूल्य संक्रमण, डॉ॰ हेमेन्द्र कुमार पानेरी, संधि प्रकाशन, जयपुर, 1976
144. हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य, डॉ॰ मोहिनी शर्मा, साहित्यागार, जयपुर, 1986

145. हिन्दी कहानी में जीवन-मूल्य, डॉ॰ रमेशचन्द्र लवानिया, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण : 1973
146. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, डॉ॰ पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, अनुवादक : पण्डित परशुराम चतुर्वेदी, सं. : डॉ॰ भगीरथ मिश्र, : अवध पब्लिशिंग हाउस, पान दरीबा, लखनऊ, द्वितीयावृत्ति वि.सं. 2007
147. हिन्दी के ललित निबन्धों में मानव-मूल्य, डॉ॰ बालकृष्ण राय, कला मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2004
148. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ॰ नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, पंचम संस्करण: 1971
149. हिन्दी नाटक : मूल्य संक्रमण, डॉ॰ गिरिराज शर्मा 'गुंजन', संधि प्रकाशन, जयपुर, 1978
150. हिन्दी निर्गुण सन्त-काव्य : दर्शन और भक्ति, डॉ॰ कृष्णा रैना, शारदा प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 1977
151. हिन्दी नीतिकाव्य, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा
152. हिन्दी नीतिकाव्यधारा, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, किताब महल, दिल्ली, 1984
153. हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास, रामस्वरूप शास्त्री 'रसिकेश', भारती भाषा प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 1962
154. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, छठा संस्करण : सन् 1990 ई.
155. हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, छठा संस्करण : 1996
156. हिन्दी साहित्य का अतीत (प्रथम भाग), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 2006
157. हिन्दी साहित्य का अतीत (दूसरा भाग), आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण : संवत् 2023
158. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ॰ रामकुमार वर्मा, रामनारायणलाल, इलाहाबाद, संस्करण : सन् 1954 ई.
159. हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. डॉ॰ नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, मयूर पेपरबैक्स, ए -95, सेक्टर-5, नोएडा-1, चौबीसवाँ संस्करण : सन् 1997 ई.
160. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पन्द्रहवाँ पुनर्मुद्रण, संवत् 2022
161. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ पूरनचंद टंडन, डॉ॰ विनीता कुमारी, जगतराम एंड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2002
162. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ सुधीन्द्र कुमार, नवलोक प्रकाशन, 2006
163. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ॰ हुकुमचंद राजपाल, डीसेंट पब्लिशर्स, दिल्ली-94, संस्करण 2006
164. हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल, डॉ॰ महेन्द्र कुमार, आर्य बुक डिपो, करोल बाग, दिल्ली, तृतीय संस्करण : 1991
165. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, डॉ॰ बच्चन सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, संशोधित परिवर्धित संस्करण : दूसरी आवृत्ति, 2009

166. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास (भाग-7), सं. भगीरथ मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, संवत् 2029
167. हिन्दी साहित्य की भूमिका, डॉ॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, संस्करण : 2008
168. हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, सम्पादक मण्डल : धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजेश्वर वर्मा, रामस्वरूप चतुर्वेदी, रघुवंश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी-1, द्वितीय संस्करण : सन् 1986 ई.
169. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खण्ड), डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, संस्करण : सन् 1959 ई.
170. हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, डॉ॰ शिवकुमार शर्मा, अशोक प्रकाशन, नयी सड़क, दिल्ली-6, चतुर्थ संस्करण : सन् 1968 ई.

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

पाठानुक्रमणिका

क्र.सं.	खण्ड	इकाई	पृष्ठ क्रमांक
01.	खण्ड – 1	इकाई – 1	15 – 26
02.	खण्ड – 1	इकाई – 2	27 – 40
03.	खण्ड – 1	इकाई – 3	41 – 55
04.	खण्ड – 2	इकाई – 1	56 – 71
05.	खण्ड – 2	इकाई – 2	72 – 87
06.	खण्ड – 2	इकाई – 3	88 – 106
07.	खण्ड – 3	इकाई – 1	107 – 129
08.	खण्ड – 3	इकाई – 2	130 – 151
09.	खण्ड – 4	इकाई – 1	152 – 170
10.	खण्ड – 4	इकाई – 2	171 – 190
11.	खण्ड – 4	इकाई – 3	191 – 204
12.	खण्ड – 4	इकाई – 4	205 – 230
13.	खण्ड – 4	इकाई – 5	231 – 248
14.	खण्ड – 5	इकाई – 1	249 – 265
15.	खण्ड – 5	इकाई – 2	266 – 287
16.	खण्ड – 5	इकाई – 3	288 – 301

खण्ड – 1 : नीति और नीतिकाव्य : अवधारणा एवं सैद्धान्तिकी

इकाई – 1 : 'नीति' और 'नीतिकाव्य' : अवधारणा एवं स्वरूप, नीति के प्रकार, नीतिकाव्य : काव्यत्व विषयक मत, नीतिकाव्य का प्रयोजन, पद्य, सूक्ति और काव्य में भेद

इकाई की रूपरेखा

1.1.00. उद्देश्य कथन
1.1.01. प्रस्तावना
1.1.02. 'नीति' और 'नीतिकाव्य' : अवधारणा एवं स्वरूप
    1.1.02.1. नीति : अभिप्राय, परिभाषा एवं स्वरूप
    1.1.02.2. नीतिकाव्य की अवधारणा
    1.1.02.3. 'नीति' और 'नीतिकाव्य' का अन्तःसम्बन्ध : लोकमंगल
1.1.03. नीति के प्रकार
    1.1.03.1. संरचना-आधारित
    1.1.03.2. देशकाल व स्थायीत्व-आधारित
    1.1.03.3. पुरुषार्थ-आधारित
    1.1.03.4. विषय-व्यापारादि-आधारित
1.1.04. नीतिकाव्य : काव्यत्व विषयक मत
    1.1.04.1. नीतिकाव्य की परम्परा
    1.1.04.2. नीतिकाव्य का स्वरूप
1.1.05. नीतिकाव्य का प्रयोजन
1.1.06. पद्य, सूक्ति और काव्य में भेद
1.1.07. पाठ सार
1.1.08. कठिन शब्दावली
1.1.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.1.10. बोध प्रश्न

1.1.00. उद्देश्य कथन

समकालीन परिवेश में व्यक्ति का चिन्तन और व्यवहार, नीति और आचरण से पूरी तरह असम्बद्ध हो चुका है। सत्य, सदाचार, परोपकार, इन्द्रिय-निग्रह, सन्तोष, कर्त्तव्यनिष्ठा, आस्था, विकारशून्यता, निर्लिप्तता, आडम्बरहीनता, सद्भाव, ईमानदारी, परदुःखकातरता, सम्वेदनशीलता, दया, मैत्री, अहिंसा आदि नैतिक मूल्य हाशिए पर चले गए हैं। भौतिकता, भोग-लिप्सा, धन-पद-नाम का आशातिरेक ताण्डव मचा रहा है। पारस्परिक सम्बन्धों की परिभाषा और उद्देश्य बदल चुके हैं। भारतीय परिवेश का ऐसा पाश्चात्यीकरण सोचनीय है। जन साधारण के लिए इस कारुणिक समय में लोक-कल्याण के निमित्त नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना ही आज मानवीय

चिन्तन-व्यवहारों की वास्तविक कुंजी हो सकती है। प्रस्तुत इकाई 'नीति और नीतिकाव्य' मानव-जीवन के ऐसे ही विविध आयामों का सरलीकरण है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नीति और नीतिकाव्य की अवधारणा एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।
ii. नीति के विभिन्न प्रकारों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाल सकेंगे।
iii. नीतिकाव्य के काव्यत्व विषयक मत से परिचित हो सकेंगे।
iv. नीतिकाव्य के प्रयोजन को स्पष्ट कर सकेंगे।
v. पद्य, काव्य और सूक्ति में विभेद कर सकेंगे।

1.1.01. प्रस्तावना

मानव-समाज जीवन की जिन संकल्पनाओं व अनुभूतियों के साथ प्रकट हुआ है उसमें पर्याप्त विविधताएँ विद्यमान हैं। अतः इसका किसी कालखण्ड या प्रवृत्ति के सापेक्ष मूल्यांकन ही पर्याप्त नहीं है। मानवीय व्यवहार नैतिक बोध से निर्धारित होता है। नैतिकता के मानदण्डों का निर्धारण नीतिशास्त्र द्वारा होता है। वस्तुतः समाज मनुष्य की सचेतन अवस्था की निरन्तरता का सूचक है। नैतिक तत्त्वों से मानव अपना मानसिक व शारीरिक परिष्कार करता है तथा अपनी परिष्कृत उज्ज्वल वृत्तियों से समाजोन्नयन एवं राष्ट्रोत्थान करता है। उसमें जीवन व्यवहार, नीति सम्बन्धी विभिन्न दशाओं एवं प्रवृत्तियों के विविध रूप मिलते हैं। चूँकि, हिन्दी साहित्य का मूल स्वरूप नीति के ही अनेक तानों-बानों से निर्मित हुआ है इसलिए जब-जब संस्कृति में आरोह-अवरोह आए हैं; देशकाल, परिवेश तथा विदेशी आक्रान्ताओं के प्रभावस्वरूप जीवन-व्यवहार में परिवर्तन आए हैं, तब-तब नीति का स्वरूप आन्दोलित हुआ है। इस आन्दोलन को समेकित रूप में साहित्य ने ही शब्दायित किया है।

1.1.02. 'नीति' और 'नीतिकाव्य' : अवधारणा एवं स्वरूप

'नीति' और 'नीतिकाव्य' पूर्णतः विषयनिष्ठ हैं जिनका निर्धारण व्यक्तिगत रुचि और सुविधा से निर्धारित नहीं हो सकता। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार निःश्रेय की प्राप्ति ही नैतिक आचरण का अन्तिम लक्ष्य है। और, नैतिकता का उद्देश्य मानवीय मूल्यों की अवाप्ति है। श्रेय-सत्य का उद्‌घाटन ही अभिव्यक्ति का परम लक्ष्य है। भारतीय रचनाकारों ने काव्य के स्वान्तःसुखाय और लोकोपकाराय दोनों स्वरूपों का चित्रण अपनी रचनाओं में किया है। हिन्दी साहित्य के अधिकांश कवियों की रचनाओं में नीति-उपदेश-सम्बन्धी विषयों का विस्तार मिलता है। डॉ॰ सरयूप्रसाद अग्रवाल के अनुसार इस प्रकार के काव्य में भावों की विभोरकारिणी अभिव्यंजना नहीं मिलती किन्तु उनमें मनुष्य की सहज अनुभूति के दर्शन होते हैं। समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को उचित रीति से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति कराने के लिए जिन विधेय या निषेधमूलक वैयक्तिक और सामाजिक नियमों का विधान देशकाल और पात्र के सन्दर्भ में किया जाता है उन्हें विद्वज्जन 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं। जैसा कि सभी इस तथ्य से भली-भाँति अवगत हैं कि जिन मनीषियों ने समाज के नैतिक

आदर्शों को बदला या उनका विरोध किया, वे भी नैतिक मूल्यों को व्यक्तिगत सुविधा के आधार पर नहीं बदल रहे थे। इस मायने में नीति और नीतिकाव्य को सार्वभौमिक माना जा सकता है।

1.1.02.1. नीति : अभिप्राय, परिभाषा एवं स्वरूप

'नीति' शब्द की अवधारणा प्राचीन और व्यापक है। वैदिककाल से ही नीति शब्द का प्रचलन दिखाई देता है। 'बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाश: कर्त्ताधरिस्तत्वचन्नीति' के रूप में महर्षि पतंजलि के महाभाष्य में नीतितत्त्व का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, पुराण साहित्य और संस्कृत ललित साहित्यमें 'नीति' शब्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण के आरम्भ में ही मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र के विभिन्न गुणों के साथ उनके नीतिमान होने का संकेत दिया है – "बुद्धिमाननीतिमान् वाग्मी श्रीमान्छहत्रुनिवर्हण:।" वाल्मीकीय रामायण में 'नीति' शब्द का प्रयोग राजनीति के पर्याय के रूप में होता रहा है। महाभारत में 'नीति' को 'कर्त्तव्य' के रूप में प्रयुक्त किया गया है। महाभारत में प्रसिद्ध विदुरनीति तथा कणकनीति ध्यातव्य है। चाणक्य ने नीति का प्रयोग लोकव्यवहार के अर्थ में किया।

समेकित रूप में कहा जाए तो जो साधन मानव-जीवन को धार्मिक, मानसिक, भौतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक आदि समस्त दिशाओं में प्रगति के पथ पर ले जाय, वही नीति है। यह मानव की सर्वतोन्मुखी उन्नति की प्रदर्शिका है। नीति को युक्ति, उपाय अथवा दृष्टिकोण भी कहा जाता है। 'नीति' शब्द की व्युत्पत्ति के सन्दर्भ में अमरकोश में स्पष्ट किया गया है कि 'नय' तथा 'नीति' शब्द एक ही अर्थ के विधायक हैं। दोनों का उद्गम भी प्रेरणार्थक धातु 'नी' से निष्पन्न हुआ है। व्याकरण के अनुसार इसमें 'अच्' प्रत्यय लगने से 'नी' के 'ई' को गुण तथा 'ए' को 'अय' आदेश होने पर 'नय' शब्द सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भावे स्त्रियां क्तिन' सूत्र से 'नी' धातु में लगे 'क्तिन' प्रत्यय के 'न्' तथा 'क्' का लोप होने से केवल 'ति' ही शेष रहता है। इस प्रकार धातु 'नी' के साथ संयोग होने से 'नीति' शब्द निष्पन्न होता है। 'नीति' शब्द संस्कृत की 'नी' धातु और 'क्तिन' प्रत्यय के योग से बना है जिसका अर्थ आचरण, व्यवहार, कुशलता, बुद्धिमान आदि है। संस्कृत-हिन्दी कोश के अनुसार मूलतः 'नी' धातु का अर्थ है – 'ले जाना'। इस प्रकार 'नीति' वह है जो आगे अथवा उच्चता की ओर ले जाए। अभिप्राय यह है कि नीति के सहारे ही जीवन के विविध क्षेत्रों में आगे बढ़ा जा सकता है।

विभिन्न कोशग्रन्थों में 'नीति' के विभिन्न अर्थ देखने को मिलते हैं। 'हिन्दी शब्दसागर' के अनुसार नीति का अर्थ है – ले जाना या चलने की क्रिया, व्यवहार की रीति, आचार-पद्धति, व्यवहार की वह रीति जिससे अपना कल्याण हो और समाज को भी कोई बाधा न पहुँचे, लोक या समाज के कल्याण के लिए उचित ठहराया गया आचार-व्यवहार, सदाचार, राजा और प्रजा की रक्षा के लिए निर्धारित व्यवस्था, राजनीति, राज्य की रक्षा के लिए काम में लाई जाने वाली युक्ति, शासक और शासित की व्यवहार पद्धति, युक्ति, उपाय आदि।

नीति के स्वरूप पर विचार करते हुए 'संस्कृत काव्य में नीतितत्त्व' के आमुख में गंगाधर लिखते हैं – "मानव समाज को श्लाघनीय एवं सुव्यवस्थित पथ पर अग्रसर करने तथा उसके प्रत्येक व्यक्ति को धर्म, अर्थ, काम

और मोक्ष की सम्यक् एवं सुगमता से उपलब्धि कराने हेतु जिन विधि अथवा वैयक्तिक एवं सामाजिक नियमों का विधान देशकाल एवं पात्र को लक्ष्य रखकर बनाया जाता है, वही 'नीति' है।" महात्मा गाँधी ने नीति को धर्म और नीति को पृथक् नहीं माना है। उनके अनुसार "धर्म ही नीति है और नीति को धर्म के अनुसार होना चाहिए।" डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा ने नीति को परिभाषित करते हुए लिखा है – "समाज को स्वस्थ एवं सन्तुलित पथ पर अग्रसर करने एवं व्यक्ति को अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष की उचित रीति से प्राप्ति करने के लिए जिन विधि निषेधमूलक, सामाजिक, व्यावहारिक, आचारिक, धार्मिक तथा राजनैतिक आदि नियमों का विधान देशकाल और पात्र सन्दर्भ में किया जाता है, उसे 'नीति' शब्द से अभिहित करते हैं।" डॉ॰ रामदुलारी देवी के अनुसार "नीति का तात्पर्य सदाचार है जिससे यह निश्चित किया जाता है कि जीवन को सुचारु रूप से व्यतीत करने के लिए कौनसे कार्यों को करना चाहिए और किसे छोड़ देना चाहिए। वे सदाचरण जिससे देश, समाज तथा व्यक्ति की उन्नति हो, उसे नीति कहते हैं।" 'नीति' को परिभाषित करते हुए डॉ॰ दीनदयाल गुप्त कहते हैं – "मनुष्य का वह ज्ञान और अनुभूति का भण्डार जो मानव के व्यावहारिक जीवन को सुखमय और उन्नत बनाने में सहायक होता है, नीतिसाहित्य है। मनुष्य क्या करता है, इस बात को छोड़कर मनुष्य को क्या करना चाहिए 'नीति' है।" डॉ॰ जर्नादन राव चेलेर ने कहा है – "नीति एक आदर्श-सापेक्ष तत्त्व है, अर्थात् निश्चित आदर्श या लक्ष्य के सन्दर्भ में निर्धारित तत्त्वसाधक नियमों या उपायों को नीति कहते हैं।" डॉ॰ शकुन्तला अरोड़ा के मतानुसार "नीति जीवन की गुत्थियों को सुलझाने का एक उपाय है। अतः इस दृष्टि से जीवन तथा उसके विभिन्न पक्षों पर चलने का मार्ग ही 'नीति' कहेंगे। अतः 'नीति' शब्द से यह तात्पर्य ग्रहण करना ही ठीक होगा कि वह जीवनयापन का सफल मार्ग है।"

समग्रतः उचित और अनुचित का विवेक ही 'नीति' है। जीवन में मनुष्य को विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न निर्णय लेने पड़ते हैं। किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थितियों में 'नीति' उसके निर्णय लेने में सहायक सिद्ध होती है। स्मृति में प्रसुप्तावस्था में अवस्थित नीतिवाक्य उसका मार्गदर्शन करते हैं। 'नीति' समाज के प्रत्येक व्यक्ति को मर्यादित रूप में सुख-सन्तोष, मान-सम्मान, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की प्राप्ति कराती है। वह ईर्ष्या-द्वेष आदि बुराइयों को नष्ट कर दया, करुणा, प्रेम, त्याग, सहानुभूति आदि सद्प्रवृत्तियों को जाग्रत् करती है।

1.1.02.2. नीतिकाव्य की अवधारणा

नीतिकाव्य की अवधारणा विस्तृत एवं व्यापक है। चूँकि, इसका उद्भव एवं विकास सामाजिक तथा वैयक्तिक आवश्यकताओं के लक्ष्यार्थ हुआ है इसलिए नीतिकाव्य का सम्यक् मूल्यांकन ऐतिहासिक तथा विषयगत, दोनों ही दृष्टियों से किया जा सकता है। इसका उद्देश्य जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुरूप मनुष्य को नीति या उचित व्यवहार की शिक्षा देना होता है। नीतिकाव्य के स्वरूप पर विचार करते हुए अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'हिन्दी नीतिकाव्य' में डॉ॰ भोलानाथ तिवारी लिखा है – "जिस काव्य का विषय नीति हो या दूसरे शब्दों में जिस काव्य का प्रधान ध्येय नैतिक शिक्षा देना हो, उसकी संज्ञा 'नीतिकाव्य' है।" नीतिकाव्य को परिभाषित करते हुए डॉ॰ रामस्वरूप शास्त्री लिखते हैं – "यदि इतना मान लिया जाय कि उचित व्यवहार का नाम नीति है तो इसे मानने में भी कोई समस्या नहीं होनी चाहिए कि उचित व्यवहार के प्रतिपादक काव्य का नाम नीतिकाव्य है।"

1.1.02.3. 'नीति' और 'नीतिकाव्य' का अन्तःसम्बन्ध : लोकमंगल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसीदास को कबीर से अधिक महत्त्व दिया है। वस्तुतः उनकी इस मान्यता के मूल में तुलसी-काव्य में लोकमंगल की प्रधानता ही है। वस्तुतः मानव-समाज किसी न किसी रूप में साहित्य से जुड़ा रहा है। 'साहित्य' शब्द का अर्थ ही है कि 'हित के साथ' या 'हित सहित' चलने वाला माध्यम। संसार में वही साहित्य प्रचलित हो पाता है जो किसी न किसी रूप में जीवन-मूल्यों से जुड़ा हो या जीवन मूल्यों को दर्शाता हो। तुलसी के राम असुर निकन्दन और भवभयभंजन हैं। वे जब-जब धर्म की हानि होते देखते हैं तब-तब मनुज शरीर धारण कर सज्जनों का दु-ख-दर्द दूर करते हैं। यही काव्य का लोकमंगल है, यही रचना का लोकमंगल है। इस दृष्टि से नीतिकाव्य की भावभूमियाँ पूरा विस्तार लेकर चलती हैं।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अपने स्वार्थों की पूर्ति के साथ ही लोककल्याण के निमित्त उसे अन्य व्यक्तियों के हितों का भी अपेक्षित ध्यान रखना पड़ता है। सामाजिक कल्याण की भावना से प्रत्येक समाज शान्ति-रक्षा एवं व्यवस्था के लिए एक विशेष प्रकार की आचरण पद्धति अपनाता है। इस पद्धति का अनुसरण करके समाज के सदस्य परस्पर सौहार्दमय व्यवहार करते हैं। मानव-जीवन का समग्र रूप से विकास करने में सहायक इस विशेष पद्धति को नीति की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। व्यापकता, गहनता और विविधता के कारण मानव-जीवन जटिल बन गया है। जीवन की इस जटिलता को सरल, शान्त, व्यवस्थित एवं सुखी बनाने के लिए समाज एक नीति का निर्धारण करता है। क्षेत्र चाहे सामाजिक हो अथवा राजनैतिक, आध्यात्मिक हो या चारित्रिक, नीति के माध्यम से ही सर्वतोन्मुखी उन्नति का मार्ग निर्धारित किया जा सकता है। सामाजिक जीवन जीने के लिए मानव को किन-किन गुणों को ग्रहण करना है और किन-किन अवगुणों को छोड़ना है, इसका निर्धारण नीति ही करती है।

1.1.03. नीति के प्रकार

आदिकाल से ही मनुष्य एकाकी न रहकर समाज के एक अंग के रूप में कार्य कर रहा है। ऐसा नहीं है कि समाज का अंग होने से व्यक्ति का अस्तित्व विलीन हो जाता है, अपितु वह व्यष्टि एवं समष्टि दोनों रूपों में अभिव्यक्त होता दिखाई देता है। चूँकि समाज में रहकर व्यक्ति की तमाम आवश्यकताओं की पूर्ति सहज ही होती है अतः समाज के प्रति भी उसका दायित्व होता है। अपने कर्त्तव्य-निर्वहन में वह जो आचरण और व्यवहार करता है, उसका प्रभाव निकटतम इकाई परिवार से समाज की ओर तथा समाज से राष्ट्र की ओर होता हुआ उस क्षेत्र में पहुँच जाता है जहाँ व्यष्टि और समष्टि में दिखाई देने वाला भेद विलुप्त हो जाता है और मनुष्य एक व्यापक मानवता के धरातल पर पहुँच जाता है। पारस्परिक आधार प्रदान करने वाली सामाजिक व्यवस्था के सुचारु संचालन के लिए मनुष्य को देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार विभिन्न कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। ये कर्त्तव्य उसे स्वयं के प्रति, परिवार के प्रति, समाज के प्रति, राष्ट्र के प्रति तथा समूचे प्राणी जगत् के प्रति निर्वहन करने होते हैं। इस प्रकार नीति का दायरा देश, काल तथा परिस्थिति के अनुसार विस्तृत होता जाता है। अध्ययन की सुगमता की

दृष्टि से नीति को संरचना, देशकाल व स्थायीत्व, पुरुषार्थ, विषय व व्यापारादि आधारित नाना वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

1.1.03.1. संरचना-आधारित

वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय, धार्मिक व सांस्कृतिक घटकों पर आधारित नीति संरचना-आधारित नीति है। वैयक्तिक नीति से व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास सम्भव होता है। इसके बिना व्यक्तित्व-विकास में विकृति की सम्भावना बनी रहती है। विश्लेषण की दृष्टि वैयक्तिक नीति के पाँच भेद किये जा सकते हैं – शारीरिक नीति, मानसिक या बौद्धिक नीति, चारित्रिक नीति, वाचिक नीति और जीवनव्यापी नीति।

परिवार समाज की पहली इकाई है। वास्तव में परिवार व्यक्ति और समाज के बीच की कड़ी है। परिवार जितना सुसंगठित व संस्कारित होगा, समाज भी उतना ही व्यवस्थित एवं गुणवत्तापरक बनेगा। पारिवारिक जीवन सामाजिक जीवन का आधार-स्तम्भ होता है। सहजता, समरसता, त्याग एवं निःस्वार्थता आदि गुण पारिवारिक जीवन के मूलाधार हैं। इनको लागू करने की नीति पारिवारिक नीति कहलाती है। कोई भी परिवार प्रेम, दया, करुणा, सहानुभूति, त्याग, बलिदान आदि नैतिक व्यवहारों की बदौलत ही सुखी, शान्त व समृद्ध हो सकता है। इसकी पुष्टि अथर्ववेद में भी की गई है – "हे गृहस्थो ! मैं तुम्हें हृदय की एकता, मन की एकता और आपस में द्वेष के त्याग का उपदेश देता हूँ, तुम्हारा परस्पर प्रेम सम्बन्ध उस पराकाष्ठा का प्रेम हो जैसा एक गौ का नवजात बछड़े के साथ होता है।"

समाज के विभिन्न वर्ग, समूह, धर्म, जाति आदि के लोगों के साथ समुचित व्यवहार सामाजिक नीति है। सामाजिक परिस्थितियाँ और आवश्यकताएँ समाज में रहने वाले व्यक्ति को विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों में सूत्रबद्ध कर देती हैं। समाज में व्यक्ति के सामान्य धर्म और कर्त्तव्यों की संकल्पना की गई है जो समयानुकूल नैतिक नियमों का रूप धारण कर लेते हैं। उदाहरण के तौर पर भारतीय समाज के सामान्य धर्मों में क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य अपेक्षित हैं। इन धर्मों के पालन की अपेक्षा प्रत्येक सामाजिक मनुष्य से की जाती है। इन सामान्य धर्मों के अतिरिक्त अष्टांग योग में पाँच यम – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और पाँच नियम – शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान निर्देशित किये गए हैं। महात्मा गाँधी ने भी आश्रम में रहने वालों के लिए ग्यारह व्रतों का पालन अनिवार्य किया था। ये ग्यारह व्रत हैं – अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंग्रह (अपरिग्रह), शरीर श्रम, अस्वाद, सर्वत्र भय वर्जनं, सर्वधर्म समानत्वं, स्वदेशी और स्पर्श भावना। उपर्युक्त धर्म-नियम भारतीय सामाजिक नैतिक प्रणाली का स्वरूप स्थिर करते हैं।

अर्थोपार्जन के लिए बनाए गए नियमों एवं विधानों को अर्थनीति कहते हैं। धन सम्बन्धी प्रत्येक विचार, योजना, रीति और क्रिया-कलाप इसके अन्तर्गत समाहित किये जा सकते हैं। मनीषियों ने अर्थ को सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति का एक माध्यम स्वीकार किया है। अर्थ जीवनयापन का महत्त्वपूर्ण साधन तो है परन्तु उसे ही

सबकुछ अथवा मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार नहीं किया जा सकता। संस्कृति में समस्त सुखों का मूल 'धर्म' को स्वीकार किया गया है। आग्नेयपुराण में कहा गया है कि "अर्थ यदि वृत्त है तो धर्म उसका मूल है।" पण्डित दीनदयाल उपाध्याय ने भी अर्थाभाव एवं अर्थप्रभाव, दोनों का ही निषेध किया है। अस्तु, नीति-धर्मरहित अर्थ को भारतीय जीवन-दर्शन में महत्त्वपूर्ण नहीं माना गया है।

राजनीति राष्ट्र या राज्य संगठन की रक्षा तथा व्यवसाय को स्थायी रखने के लिए सुनिश्चित की जाती है। राजनीति मूलतः राज्य की नीति है और इसे राज्य के विस्तृत रूप से सम्बन्धित किया जा सकता है जिसका एकमात्र उद्देश्य राज्य का संरक्षण है।

धर्म एक विशिष्ट नीति का ही नाम है। हालाँकि यहाँ धर्म का सम्बन्ध उस भावना है जिसके द्वारा मानव 'तेरा-मेरा' विषयक दृष्टिकोण से ऊपर उठकर अपनी आत्मा का सर्वव्यापक परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है। संयम, सदाचार, सत्य, अहिंसा, समदर्शिता आदि आचरण धर्म के ही विभिन्न घटक हैं। उक्त समस्त आचरण धार्मिक नीति के अन्तर्गत परिगणित किए जाते हैं।

1.1.03.2. देशकाल व स्थायीत्व-आधारित

देशकाल व स्थायीत्व-आधारित नीति के चार भेद किये जा सकते हैं – सामयिक नीति, शाश्वत नीति, एकदेशीय नीति व सार्वदेशिक नीति। डॉ॰ बालकृष्ण शर्मा अपने ग्रन्थ 'भारतीय नीतिकाव्य-परम्परा और रहीम' में सामयिक नीति और शाश्वत नीति का भेद स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "जहाँ सामयिक नीति का सम्बन्ध समकालिकता से है तथा एक समय-सीमा के बाद उसकी उपादेयता स्वयमेव नष्ट हो जाती है वहीं शाश्वत नीति का स्वरूप कालजयी होता है।" इसी अनुक्रम में एकदेशीय नीति व सार्वदेशिक नीति का भेद स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि "एकदेशीय नीति स्थानीय व क्षेत्रीय प्रकृति की होती है जबकि सार्वदेशिक नीति का स्वरूप विस्तृत एवं व्यापक होता है।"

1.1.03.3. पुरुषार्थ-आधारित

सभी प्रकार की नीतियाँ अपने मूल स्वरूप में पुरुषार्थचतुष्टय में समाहित हैं। इस दृष्टि से उन्हें धर्मनीति, अर्थनीति, कामनीति और मोक्षनीति वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

1.1.03.4. विषय-व्यापारादि-आधारित

नीति वस्तुतः एक व्यक्ति विशेष द्वारा परिस्थिति विशेष, वातावरण विशेष, काल विशेष, समाज विशेष, क्षेत्र विशेष, पात्र विशेष के अनुसार किया गया व्यवहार है जो सामान्यतः परम्परागत औचित्य का उल्लंघन नहीं करता। व्यक्ति के विषय-व्यापारादि मूलतः नीतिरूपी व्यवहार का वास्तविक लक्ष्य व्यष्टि से समष्टि तक समग्र दृष्टि

से कल्याण ही होता है। इस आधार पर नीति के अनेक भेद किए जा सकते हैं; यथा – अर्थ नीति, व्यापार नीति, शिक्षा नीति, स्वास्थ्य नीति, विज्ञान नीति, सुरक्षा नीति, युद्ध नीति, विज्ञान नीति, प्रशासन नीति आदि।

डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने नीति का वर्गीकरण विभिन्न कालों के आधार पर किया है; यथा – प्राचीन नीति, मध्ययुगीन नीति, अर्वाचीन नीति आदि।

1.1.04. नीतिकाव्य : काव्यत्व विषयक मत

नीतिकाव्य के काव्यत्व को लेकर कतिपय विद्वानों ने सन्देह प्रकट किया है कि 'नीतिकाव्य' वस्तुतः काव्य है भी अथवा नहीं ! सामान्यतया नीतिकाव्य पर जो आक्षेप लगाया जाता है, वह यह है कि नीति विषय को लेकर रची जाने वाली कविताओं में उत्कृष्ट काव्यत्व दृष्टिगोचर नहीं होता। इस दृष्टि से नीति विषयक काव्य पद्य या सूक्ति मात्र हो सकता है, उत्कृष्ट काव्य नहीं। नीतिकाव्य के काव्यत्व पर सन्देह प्रकट करने वाले विद्वज्जनों का तर्क है कि उत्कृष्ट काव्य वही है जो गुण, अलंकार आदि काव्यांगों से पूर्णतः युक्त हो। फिर कहा तो यह भी जाता है कि काव्य और नीति का गठबन्धन हो भी सकता है या नहीं, क्योंकि कतिपय काव्य-चिन्तक कला या काव्य का उद्देश्य केवल आनन्द मानने के पक्षधर रहे हैं।

वस्तुतः किसी रचना में उत्कृष्टता का समावेश कवि विशेष की प्रतिभा और कवित्व-शक्ति पर निर्भर करता है। कवि किसी भी विषय को लेकर अपने रचना-कौशल और कल्पना द्वारा उत्कृष्ट काव्य की रचना कर सकता है। काव्य के अन्य विषयों की भाँति नीति भी एक विषय है और कवि विशेष अपनी योग्यतानुसार उस पर सुन्दर काव्य की रचना कर सकता है। यह सहज और स्वाभाविक है। इस आलोक में डॉ॰ अकिंचन ने ठीक ही कहा है कि "नीतिकाव्य की काव्यमयता आवश्यकता तथा महत्त्व स्वतःसिद्ध है। कुशल कवि उसमें सुन्दर तत्त्व का आयोजन भी अपनी प्रतिभा द्वारा उच्चतर एवं उच्चतम अंशों में समाविष्ट कर सकता है। सत्य तो नीतिकाव्य में स्वतःसिद्ध रहता है। शिव नीति से पृथक् नहीं है। अतः 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की दृष्टि से नीतिकाव्य उत्कृष्ट कोटि का काव्य हो सकता है और होता है।"

नीति और काव्य के गठबन्धन के निहितार्थ काव्य के प्रमुख उद्देश्य आनन्द या शिक्षा को लेकर कई विद्वान काव्य में नीति का पूर्णतः समर्थन करते हैं। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने तो स्पष्टतः लिखा है कि "काव्य और नीति का गठबन्धन सर्वथा सम्भव है। रामायण, रघुवंश, मानस, गीतांजलि आदि सभी में यह बात पाई जाती है।"

1.1.04.1. नीतिकाव्य की परम्परा

प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' में देवताओं की स्तुति के साथ-साथ दान और सत्य की महत्ता, कुल परम्परा का अनुसरण आदि नीतिपरक आख्यायिकाएँ उल्लिखित हैं। इसी प्रकार सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में भी एकता, मधुर वचन, मित्रता, लोभ-परित्याग, मातृभूमि-प्रेम आदि से सम्बद्ध उपदेशात्मक बातें कही गई हैं। नीति-कथन या उपदेश की यह परम्परा ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी अक्षुण्ण मिलती है। कालान्तर में यह परम्परा

स्मृतिसूत्रों तथा आयुर्वेद आदि ग्रन्थों से होती हुई संस्कृत ललित साहित्य में भी गतिमान दिखाई देती है। 'वाल्मीकीय रामायण' और 'महाभारत' में प्रसंगानुकूल अनेकशः नीतिवचन कहे गए हैं। स्मृतियों का तो विषय ही प्रायः नीति है। नीति-उपदेश की दृष्टि से 'मनुस्मृति' का विशिष्ट महत्त्व है। पुराण साहित्य भी नीति-वचन की दृष्टि से बहुत सम्पन्न हैं। अधिकांश कथासाहित्य का मुख्य उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ राजनीति तथा लोकनीति की शिक्षा देना रहा है। स्फुट साहित्य में नीति सम्बन्धी ग्रन्थों की संख्या शताधिक हैं जिनमें शुक्र नीति, चाणक्य नीति, भर्तृहरि-कृत नीतिशतक आदि ख्यातिलब्ध हैं। संस्कृत, पालि, प्राकृत व अपभ्रंश साहित्य में स्थान-स्थान पर नीतिपरक बातों का उल्लेख है। हिन्दी नीतिकाव्य की परम्परा का समुचित विकास लगभग दसवीं सदी के आसपास गोरखनाथ के फुटकर छन्दों में मिलने लगता है। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी के अनुसार "विशेषतः आदि, भक्ति और आधुनिक युग में युगानुकूल नीति का प्राधान्य है; पर भक्ति व रीतिकाल में तात्कालिक से कम ध्यान सर्वकालिक या शाश्वत नीति पर नहीं है। भक्तिकाल में जीवन के प्रत्येक पक्ष की ओर सन्तुलित दृष्टिकोण होने के कारण ही सम्भवतः ऐसा हुआ है, पर रीतिकाल में शाश्वत नीति-कथन सन्तुलित दृष्टिकोण का परिणाम न होकर कदाचित अनुकरण या पूर्ववर्ती बातों को नए आवरण में कहने के प्रयास का ही फल है।"

1.1.04.2. नीतिकाव्य का स्वरूप

नीतिकाव्य मानव-व्यवहार को सरल एवं कल्याणकारी बनाने में सहयोग प्रदान करता है। नैतिक चेतना सामाजिक चेतना का ही अभिन्न अंग है। वैसे तो समाज को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए विधि एवं कानून का विधान है लेकिन सम्पूर्ण मानव-व्यवहार को केवल कानून एवं विधि द्वारा नियन्त्रित कर पाना असम्भव है। नीतिकाव्य का प्रतिपाद्य सामूहिक संस्कार व स्वीकृति से सम्बन्धित होता है इसलिए यह आचरण एवं व्यवहार को शुभ्र आभा से आलोकित करती है, उसे सुष्ठु एवं अनुकरणीय बनाती है। नीतिकाव्य का स्वरूप-निरूपण निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत किया जा सकता है –

i. नीतिकाव्य का मूल लक्ष्य समाज में आदर्श व लोकमंगल की स्थापना करना है।
ii. 'कला कला के लिए' सिद्धान्त से सामान्यतया नीतिकाव्य का कोई सम्बन्ध या लगाव नहीं है।
iii. नीतिकाव्य में काव्यात्मक सौन्दर्य की अपेक्षा अनुभूति की सच्चाई, सजीव दृष्टान्त, सार्वजनीनता एवं सामाजिक अभिव्यक्ति का विशेष महत्त्व होता है।
iv. नीतिकाव्य मानवीय जीवन-शैली को निरूपित करता है जिसे व्यवहार में अपनाकर व्यक्ति जाति-पाँति की निकृष्ट भावनाओं से ऊपर उठकर समरस हो जाता है।
v. नीतिकाव्य सहज चिन्तन को अभिप्रेरित करता है जिससे बाह्याडम्बरों के स्थान पर अन्तस्साधना की ज्योतिष्मति छवि प्रकाशित होती है।
vi. नीतिकाव्य का सम्बन्ध संस्कार से है। वह अन्तस् और बाह्य दोनों का संस्कार करता है।
vii. नीतिकाव्य में सामरस्यपूर्ण मानव-जीवन के सभी पहलू सम्बद्ध और अभिन्न रूप से मौजूद रहते हैं।

1.1.05. नीतिकाव्य का प्रयोजन

काव्यशास्त्रीय चिन्तन-परम्परा में काव्यचिन्तकों ने आनन्द को काव्य का प्रमुख उद्देश्य स्वीकार किया है तथापि शिक्षा एवं व्यावहारिक ज्ञान का उपदेश भी काव्य का अन्तर्निहित लक्ष्य है। चूँकि, नीतिकाव्य मूलतः शिक्षा एवं व्यावहारिक ज्ञान को लक्ष्य कर लिखा जाता है इसलिए यह अन्य काव्यों की अपेक्षा भिन्न होता है। अपने उद्देश्य में नीतिकाव्य नीतिशास्त्र के अधिक करीब होता है। वस्तुतः दोनों का लक्ष्य मनुष्य में उचित-अनुचित, कर्तुम-अकर्तुम का विवेक जाग्रत् करना है। नीतिकाव्य के प्रयोजन को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता है –

i. नीतिकाव्य लोकमंगल का काव्य है। सम्पूर्ण मानवता का कल्याण इसका प्रधान लक्ष्य है।
ii. नीतिकाव्य आचारिक एवं मानसिक परिष्कार का सम्वाहक व सम्प्रसारक है।
iii. नीतिकाव्य के माध्यम से लौकिक एवं पारलौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सकती है।

1.1.06. पद्य, सूक्ति और काव्य में भेद

कवियों का वर्गीकरण करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है – "चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। ऐसी रचना करने वालों को हम कवि न कहकर सूक्तककार कहेंगे।" इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने नीति साहित्य के दो भेद (सूक्ति और पद्य) मानते हैं। सूक्ति वह है जिसमें दृष्टान्त, उदाहरण आदि अलंकारों या शब्द-चमत्कार आदि के कारण कुछ आकर्षण हो तथा जिसमें श्रोता को प्रभावित करने की शक्ति अधिक हो। लेकिन पद्य सूक्ति से भिन्न होता है जिसमें कोरे तथ्य बिना किसी वक्रता आदि के छन्दोबद्ध कर दिए जाते हैं। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने स्पष्ट किया है कि "नीतिकाव्य के तीन रूप हैं। एक तो वह जिसमें केवल पद्यात्मकता है। इसे पद्य या पद्य मात्र कह सकते हैं। दूसरा रूप वह है जिसमें चमत्कार होता है। इस प्रकार के नीतिकाव्य से हृदय फड़क उठता है लेकिन काव्य की यथार्थ रसानुभूति नहीं होती। इसे चमत्कार मात्र वाला नीतिकाव्य कह सकते हैं। तीसरा रूप वह है जिसमें यथार्थ रूप में काव्यत्व मिलता है।" समवेततः कह सकते हैं कि जब कोई रचना छन्द मात्र होगी तो वह पद्य होगी, लेकिन उसमें जब कुछ चमत्कार होगा तो वह सूक्ति कहलाएगी। और, यदि रचना आनन्द, मार्मिकता, राग तथा कल्पना का समुच्चय होगी तो वह काव्य कहलाएगी।

1.1.07. पाठ सार

जीवन की संघर्ष-यात्रा में जहाँ उदात्त अनुभूतियाँ होती हैं वहीं कलुषित स्थितियाँ भी चाहे-अनचाहे घटित होती हैं। उदात्तता और कलुषता के संघर्ष में विविध धारणाओं, मान्यताओं व दृष्टिकोणों की सृष्टि होती है। इन्हीं का आधार पाकर विभिन्न नैतिक जीवन-मूल्यों का उदय होता है। वैसे तो समय बदलने के साथ सामयिक परिस्थितियों के अनुरूप नैतिक जीवन-मूल्यों की अवधारणा में भी न्यूनाधिक परिवर्तन होता रहता है तथापि लोकमंगल व सदाचरण सर्वकालिक एवं सार्वभौमिक नीति के रूप में सदैव विद्यमान रहते हैं।

1.1.08. कठिन शब्दावली

उदात्त	:	श्रेष्ठ
सम्यक्	:	सम्पूर्ण / सांगोपांग/ अच्छी तरह से
समष्टि	:	समूह
निरूपण	:	विवेचन

1.1.09. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ, हिन्दी नीतिकाव्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.
2. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ, हिन्दी नीतिकाव्यधारा, किताब महल, नयी दिल्ली.
3. पाण्डेय, डॉ॰ श्री राजबली, भारतीय नीति का विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
4. मैकेंजी, जे.एस., नीति प्रवेशिका, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. वर्मा, डॉ॰ सुरेन्द्र, भारतीय जीवन-मूल्य, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.
6. पाण्डेय, गोविंदचंद्र, मूल्य मीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर.
7. राजकिशोर (सम्पादक), नैतिकता के नए सवाल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

1.1.10. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. नीति के प्रकार।
2. नीतिकाव्य की परम्परा।
3. नीतिकाव्य का स्वरूप-निरूपण।
4. नीतिकाव्य का प्रयोजन।
5. पद्य, सूक्ति और काव्य में भेद।
6. नीति और नीतिकाव्य का अन्तस्सम्बन्ध।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नीति का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसकी अवधारणा और स्वरूप पर प्रकाश डालिए।
2. "नीतिकाव्य आचारिक एवं मानसिक परिष्कार का सम्वाहक है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' की दृष्टि से नीतिकाव्य का स्वरूप होता है –
   (क) उच्च कोटि का
   (ख) निम्न कोटि का
   (ग) मध्यम कोटि का
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. नीतिकाव्य का प्रधान लक्ष्य है –
   (क) आनन्द प्रदान करना
   (ख) शिक्षा देना
   (ग) विचार प्रकट करना
   (घ) उपर्युक्त सभी

3. मानवीय आचरण निर्धारित होता है –
   (क) राजनैतिक बोध से
   (ख) आर्थिक बोध से
   (ग) नैतिक बोध से
   (घ) इनमें से कोई नहीं

4. नैतिक कर्म और नैतिक औचित्य होते हैं –
   (क) पूर्णतः विषयनिष्ठ
   (ख) पूर्णतः वस्तुनिष्ठ
   (ग) आंशिक विषयनिष्ठ और आंशिक वस्तुनिष्ठ
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. छन्दोबद्ध रचना मात्र है –
   (क) पद्य
   (ख) सूक्ति
   (ग) काव्य
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

❖❖❖

खण्ड – 1 : नीति और नीतिकाव्य : अवधारणा एवं सैद्धान्तिकी

इकाई – 2 : मूल्य चेतना : अवधारणा एवं स्वरूप, मूल्य और जीवन-मूल्य, जीवन-मूल्य विषयक भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण, विविध पक्ष

इकाई की रूपरेखा

1.2.0. उद्देश्य कथन
1.2.1. प्रस्तावना
1.2.2. मूल्य-चेतना : अवधारणा एवं स्वरूप
  1.2.2.1. मूल्य-चेतना का अर्थ एवं स्वरूप
  1.2.2.2. मूल्य-चेतना के विविध आयाम
  1.2.2.3. मूल्य-चेतना और नैतिक व्यवहार
1.2.3. मूल्य और जीवन-मूल्य
  1.2.3.1. जीवन-मूल्य की अवधारणा
  1.2.3.2. जीवन-मूल्यों के प्रकार
  1.2.3.3. जीवन-मूल्य : मानवीय उत्कर्ष की कुंजी
1.2.4. जीवन-मूल्य विषयक दृष्टिकोण
  1.2.4.1. भारतीय दृष्टिकोण
  1.2.4.2. पाश्चात्य दृष्टिकोण
1.2.5. मूल्य-चेतना के विविध पक्ष
1.2.6. पाठ सार
1.2.7. कठिन शब्दावली
1.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.2.9. बोध प्रश्न

1.2.0. उद्देश्य कथन

व्यक्ति को मानवीयता की ओर अग्रसर करने का श्रेय जीवन-मूल्यों को जाता है जो अनिवार्यतः मानव-जीवन के हर पक्ष में गुम्फित होते हैं। साहित्य और जीवन-मूल्यों का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है क्योंकि साहित्य का आलम्बन मानवीय जीवन-व्यवहार ही है। जीवनमूल्य-चेतना साहित्य की रचनाशीलता का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। प्रस्तुत इकाई मूल्य-चेतना की अवधारणा एवं स्वरूप, मूल्य और जीवन-मूल्य की अवधारणा, जीवन-मूल्य विषयक विविध दृष्टिकोण और मूल्य-चेतना के विविध पक्षों पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. मूल्य-चेतना की अवधारणा एवं स्वरूप को समझ सकेंगे।
ii. मूल्य और जीवन-मूल्य की अवधारणा से परिचित हो सकेंगे।

iii. जीवन-मूल्य विषयक भारतीय व पाश्चात्य दृष्टि का अनुशीलन कर सकेंगे।

iv. मूल्य-चेतना के विविध पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

1.2.1. प्रस्तावना

लोक-कल्याण के लिए समाज का मूल्यनिष्ठ होना आवश्यक है। मूल्य-चेतना से ही विश्व विष और क्लेशमुक्त हो सकता है। लेकिन जीवन-मूल्य किसी हाट से नहीं खरीदे जा सकते और न ही इन्हें आशीर्वादस्वरूप प्राप्त किया जा सकता है। जीवन-मूल्य केवल जीवन-संघर्ष से उद्भूत 'चिन्तन' से ही सम्भव है। लोकरंजकता मानवीय जीवन-मूल्यों की मूल आस्था व प्रतिज्ञा है जिसमें लोककल्याण की विराट् चेतना अन्तर्निहित है। लोकमंगल के प्रबल आकांक्षी मानवीय जीवन-मूल्य एक मायने में प्रतिगामी शक्तियों का पुरजोर विरोध भी करते हैं। यह विरोध अनिवार्यतः सजग, सक्रिय और कालदर्शी है। ऐसे में संघर्ष, मर्यादा और धर्म ये तीनों जीवन-मूल्य के ही तीन रूप हैं जो अन्ततः कविता और कविता के लक्ष्य को भी उदात्त बनाते हैं।

1.2.2. मूल्य-चेतना : अवधारणा एवं स्वरूप

मूल्य एक सापेक्षिक अवधारणा है। वस्तुतः मूल्यवादी चेतना मानवतावाद का पूर्वरूप ही है। मानवतावाद शोषित, दलित और अधिकार-वंचित जनता के पक्ष में संघर्ष एवं सहानुभूति की चेतना है। जीवनमूल्य-चिन्तन और कर्म में प्रतिमानवीय शक्तियों की धारदार पहचान और उनके उन्मूलन की प्रतिबद्धता अनिवार्य है। मानवतावाद के आधार पर विवेक और संघर्ष की निरन्तरता द्वारा मूल्योचित पक्ष की स्थापना का आग्रह होता है। मूल्य ही व्यवहारों को संस्कारित कर नैतिक बनाते हैं। जड़ता और क्रूरता के विरुद्ध गति और करुणा का सनातन संघर्ष, उत्साह व धैर्य जीवनमूल्य-चेतना के स्थायी आधार-स्तम्भ है। वास्तव में मूल्य-चेतना लोकमंगल की कामना से अभिप्रेरित, सम्पोषित और संचालित है। इस सन्दर्भ में महात्मा गाँधी के विचार द्रष्टव्य हैं। वे कहते हैं – "कुल सात ऐसे सामाजिक पाप हैं जो व्यक्ति और समाज को नष्ट कर देंगे। ये बिना सिद्धान्तों की राजनीति, कार्य के बिना सम्पत्ति, चेतनता के बिना आनन्द, चरित्र के बिना जानकारी, नैतिकता के बिना व्यापार, मानवता के बिना विज्ञान और त्याग के बिना पूजा की तरह हो सकते हैं।"

1.2.2.1. मूल्य-चेतना का अर्थ एवं स्वरूप

सामाजिक मूल्य से अभिप्राय है रचना के भीतर वर्तमान रहने वाला ऐसा उद्देश्य जो उसे किसी सामाजिक आदर्श, व्यक्तिगत उच्चता आदि से सम्बद्ध करे। साहित्य में मूल्य मानवीय सम्वेदनाओं के गहन स्तरों से जुड़ कर मानवीय मूल्य हो जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है कि 'मूल्य' शब्द वस्तुतः नीतिशास्त्र के 'वैल्यू' शब्द का पर्यायवाची है। नीतिशास्त्र मूल्य को लक्ष्य, उद्देश्य और आदर्श के रूप में व्याख्यायित करता है। साहित्य नीतिशास्त्र के इसी प्रयोजन की पूर्ति में सहायक बनता है। वह अपनी सामाजिक पैठ के सहारे लोक जनमानस में कभी सीधे-सीधे तो कभी परोक्ष रूप से इन मूल्यों के प्रति चेतना जाग्रत् करता है। भारतीय साहित्य प्रारम्भिककाल से ही इन जीवन-मूल्यों की सामाजिक प्रतिष्ठापना हेतु सतत प्रयत्नशील रहा है। वैदिक साहित्य,

रामायण, महाभारत, पुराण साहित्य, भगवद्गीता, सन्त साहित्य, सूफी साहित्य, रामभक्ति-काव्यधारा, कृष्णभक्ति-काव्यधारा और बाद में रीतिकालीन कवियों विरचित नीतिकाव्य में भारतीय सांस्कृतिक चेतना तथा जीवन-मूल्यों के प्रति दृष्टिकोण सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है। ये कालदर्शी साहित्य वस्तुतः समाजशास्त्रीय आदर्शों की संहिता हैं। सामाजिक जीवन में मूल्य-चेतना हेतु साहित्य ने अपने ढंग से प्रबंधन किया। रामायण ने आदर्श राज्य व्यवस्था का बोध कराया तो कर्म और पुरुषार्थ के साथ विवेकसम्मत् निर्णयात्मिका बुद्धि की पक्षधर, भारतीय परम्परा में प्रस्थानत्रयी का अंग भगवद्गीता ने अन्याय, अत्याचार, अधर्म और असत्य के विरुद्ध संघर्ष की प्रेरणा दी। इसी प्रकार मानव जीवन के साथ सतत् चलने वाली जीवन्त दिशाबोधक संजीवनी रामचरितमानस ने जीवन और जगत् की विविध प्रवृत्तियों का अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया तो सन्तों और सूफियों ने सरल शब्दों में विरचित अपने साहित्य द्वारा व्यावहारिक जीवन का मार्गदर्शन किया। सच तो यह है कि भारतीय साहित्य ने व्यक्ति को क्रियाशील जीवन हेतु प्रेरित करने के साथ-साथ सामाजिक मूल्य-स्थापना का महनीय कार्य किया है। मूल्य-चेतना का अभिप्राय मानव मात्र में सामाजिक हित की प्रवृत्ति विकसित करने का आह्वान है।

1.2.2.2. मूल्य-चेतना के विविध आयाम

किसी वस्तु का वह गुण जो एक व्यक्ति या समूह में रुचि उत्पन्नकरता है, वह उसके मूल्य का द्योतक है। इस प्रकार मूल्य वे सांस्कृतिक अथवा व्यक्तिगत धारणाएँ अथवा आदर्श हैं जिनके द्वारा वस्तुओं अथवा घटनाओं की तुलना एक दूसरे के साथ की जा सकती है। उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार किया जा सकता है। साथ ही साथ सापेक्षिक रूप से यह देखा जा सकता है कि क्या वांछित है और क्या अवांछित, क्या अच्छा है और क्या बुरा, क्या अधिक ठीक है और क्या कम ठीक है। मूल्यों को ऐसा लक्ष्य अथवा उद्देश्य कहा गया है जिसके प्रति एक व्यक्ति अथवा सम्पूर्ण समाज के व्यवहार को निर्देशित किया जाता है। स्वतन्त्रता, न्याय, राष्ट्रभक्ति, अहिंसा, शान्ति, सत्ता आदि मूल्यों के ही विविध आयाम हैं। कहना गलत न होगा कि मूल्य साध्य हैं जबकि मानदण्ड इन साध्यों के साधन स्वीकार किए जा सकते हैं।

साहित्य में मूल्य की व्याप्ति एक सतत प्रवाह के रूप में पाई जाती है। इसका कारण यह है कि मानव मात्र के मानसिक जगत् में मूल लोकमानस विद्यमान रहता है। उसमें पुरातनकाल से चली आ रही धारणाओं, विश्वासों एवं लोकवार्ताओं आदि का गहरा प्रभाव हमेशा बना रहता है। तथाकथित सभ्यता और संस्कृति के कितने ही आवरण मूल्य में समाहित लोकतत्त्व को निर्मूल अथवा जड़ीभूत करने में असमर्थ सिद्ध होते हैंक्योंकि ऐसा प्रत्येक तत्त्व मूल्य के साँचों में ढलकर ही ग्राह्य हो पाता है। 'मानविकी' के सन्दर्भ में मूल्य व उसके विविध आयामों को उद्घाटित करते हुए डॉ॰ कुमार विमल कहते हैं – "मूल्य जीवनदृष्टि या स्थापित वैचारिक इकाई है। चूँकि, मानव के वैचारिक धरातल पर ही मूल्यरूपी अवधारणा की सत्ता निर्भर करती है इसलिए मानव ही मूल्यों का निर्धारण व संचालन करता है तथा उसी की आवश्यकता के अनुरूप मूल्य बनते अथवा बिगड़ते हैं। परिवेश एवं व्यक्ति के अन्तर्मन का सम्मिलित रूप मूल्यों को व्यापक आयाम प्रदान करता है।" अस्तु, साहित्य में मूल्य का महत्त्व न केवल उसकी परिव्याप्ति में ही निहित है अपितु उसके दृष्टिकोण को समक्ष रखने से साहित्यानुशीलन में भी पर्याप्त

सहायता मिलती है। मूल्य-चेतना के विविध आयामों को निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किया जा सकता है –

i. मूल्य-चेतना सीमारहित, एकीकरण, सम्पूर्णता और जीवन की ऊर्जा एवं संसाधनों का निरन्तर तथा प्राकृतिक प्रवाह है।
ii. किसी भी मूल्य-गतिविधि के दो भाग होते हैं – समेकन और उसे लागू करना।
iii. मूल्य-चेतना आत्मा का प्रकाश है जो मनोवैज्ञानिक हृदय के प्रकोष्ठों में जलती है।
iv. मूल्य-चेतना बुद्धिमता व सजगता को हर प्रकार की स्वतन्त्रता का आनन्द उठाने में सक्षम करती है तथा चिन्ता का उन्मूलन करती है।
v. विश्वास और जानकारी मूल्य-परिवर्तन के उत्तरदायी घटक स्वीकार किए जा सकते हैं।
vi. समाज और राज्य निरन्तर बदलाव की स्थिति में होते हैं इसलिए मूल्यों का निरूपण राज्य व समाज-निरपेक्ष नहीं हो सकता है।
vii. मूल्य-चेतना में अनेक प्रकार की विषमताओं का समाहार निहित है तथा समरसता मूल्य-चेतना का बुनियादी स्वरूप है।
viii. मूल्य-चेतना में अन्याय, अनीति, भेदभाव, निष्प्राण, रूढ़िवाद, धार्मिक वितण्डावाद आदि का विरोध निहित है।
ix. मनुष्य की वास्तविक पीड़ा व कठिनाइयों से द्रवीभूत होकर ही मूल्य-चेतना मुखरित हुई है।
x. यदि मूल्य-चेतना का स्वरूप कहीं कठोर व आक्रामक है तो ऐसा केवल अमानवीय इरादों के खिलाफ ही हुआ है जिन्हें उनकी प्रशस्त मानवीयता किसी सूरत में सहन नहीं कर सकी है।

1.2.2.3. मूल्य-चेतना और नैतिक व्यवहार

मूल्य-चेतना किसी मत विशेष का आग्रह नहीं है। मूल्य-चेतना व्यक्ति-व्यवहारों में सनातन मूल्यों व नैतिक व्यवहारों के उस एकमात्र नियामक दृष्टिकोण को अपनाने के लिए प्रेरित करती है जो समन्वय, समवाय और सम्प्रीति के जीवन-मन्त्र की शिक्षा देता है। यह समाज को अपने उच्चाशय वाले जीवन-सिद्धान्तों व व्यवहारों को मथकर उनका महत्त्वपूर्ण सार ग्रहण करने के लिए प्रेरित करती है। मानवीय व्यवहारों में असमानताएँ सहज व स्वाभाविक हैं। मूल्य-चेतना का सार है व्यष्टि समष्टि-हित को ध्यान में रखते हुए प्रयत्नपूर्वक ऊर्ध्वगामी और उदात्त चरित्र वाला बने। जीवन को उदात्त बनाने वाले मूल्य जब जीवन में व्यवहृत होने लगते हैं तब नैतिक व्यवहारों का आरम्भ माना जाना चाहिए। साहित्य, कला, दर्शन, धर्म आदि किसी भी क्षेत्र से जो भी मूल्यपरक सामग्री मिल सकती है उसे ग्रहण करना ही नैतिक व्यवहारों की उचित शिक्षा और सच्ची उपयोगिता है।

1.2.3. मूल्य और जीवन-मूल्य

वामन शिवराम आप्टे-कृत 'संस्कृत-हिन्दी कोश' के अनुसार 'मूल्य' शब्द संस्कृत की 'मूल' धातु में 'यत्' प्रत्यय लगने से बना है जिसका अर्थ है मोल लेने के योग्य, कीमत, मोल, लागत, मजदूरी आदि। 'वृहत् हिन्दी शब्दकोश' के अनुसार 'मूल्य' का अर्थ है – (क) खरीदने योग्य वस्तु के बदले में दिया जाने वाला धन, कीमत, दाम, वेतन, उपयोगिता आदि (ख) रचना के भीतर वर्तमान रहने वाला ऐसा उद्देश्य जो उसे किसी सामाजिक आदर्श, व्यक्तिगत उच्चता आदि से सम्बद्ध करे। 'हिन्दी शब्दसागर 'के अनुसार 'मूल्य' का अर्थ है – (क) किसी वस्तु के बदले में मिलने वाला धन या दाम या कीमत (ख) प्रतिष्ठा के योग्य, कद्र के लायक। 'मानक हिन्दी कोश' में 'मूल्य' का अर्थ है – (क) मुद्रा के रूप में उतना धन जो कोई चीज क्रय करने के लिए उसके बदले में किसी को देना पड़ता है (ख) वह दर या भाव जिस पर कोई चीज बिकती हो (ग) वह गुण या तत्त्व जिसके आधार पर किसी का महत्त्व या मान होता है (घ) वह जो कुछ किसी को कारणवश झेलना, भुगतना या बलिदान करना पड़ता है।

उपर्युक्त कोशगत अर्थों में 'मूल्य' को मुख्यतः आर्थिक अवधारणा ही माना गया है। हालाँकि, 'वृहत् हिन्दी कोश' का अर्थ-सन्दर्भ मूल्य को लक्ष्य, उद्देश्य, आदर्श के रूप में भी व्याख्यायित करता है। इसी आलोक में विद्वान जे.एम. मैकेंजी का मानना है कि "सर्वाधिक प्रचलित अर्थ में मूल्य को एक आर्थिक अवधारणा माना जाता है।" विलियम लिली ने भी 'मूल्य' को अर्थशास्त्र से सम्बन्धित मानते हुए कहा है – "अर्थशास्त्र में इसका प्रयोग (क) प्रचलित मूल्य अर्थात् किसी वस्तु की मानवीय आवश्यकताओं और इच्छापूर्ति की क्षमता; और (ख) विनिमय दर अथवा अन्य वस्तुओं के विनिमय से प्राप्त किसी वस्तु के मान के लिए किया जाता है।" इस प्रकार 'मूल्य' शब्द को मूलतः अर्थशास्त्र से सम्बन्धित माना जा सकता है। लेकिन सन्त साहित्य में मानवीय मूल्य का निरूपण करते हुए डॉ॰ देवमणि ने यह विचार प्रकट किया है कि "अर्थशास्त्र का यह शब्द जब मानवीय सम्वेदनाओं के गहन स्तरों से जुड़ता है तो मानवीय सम्वेदनाओं की तरह उसकी सीमाएँ भी फैल जाती हैं।" मानवीय सम्वेदनाओं का यही सम्बन्ध मूल्य को दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, गणितशास्त्र, मनोविज्ञान, साहित्य आदि विभिन्न विषयों से जोड़कर अनेकार्थी बना देता है।"

वस्तुतः 'मूल्य' शब्द किसी निश्चित एवं विशिष्ट अर्थबोध से सम्पृक्त नहीं है । अपनी-अपनी आवश्यकताओं एवं अभिरुचियों के अनुसार लोगों ने इसका प्रयोग व व्यवहार भिन्न-भिन्न रूपों में किया है। नीतिशास्त्र में वह 'वैल्यू' का पर्यायवाची है तो अर्थशास्त्र में वह 'बाज़ारवाद' के अर्थविनिमय के एक आवश्यक प्रतिमान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। नीतिशास्त्र में इस मुद्दे पर विस्तार से चर्चा की गई है कि मानवीय क्रियाओं में, आचार-व्यवहार में अच्छाई या शिवत्व का क्या मूल्य है ! यद्यपि ऐसा सर्वव्यापक, सर्वसम्मत मूल्य-निर्धारण असम्भव है। ऐसे में मिल, जोंस आदि आदि चिन्तकों ने 'अधिकों का हित' सम्बन्धी उपयोगितावादी सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

अर्थशास्त्र में प्रयुक्त 'मूल्य' शब्द की महत्ता की भाँति जीवन-मूल्य भी मूल्यवान् हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सामाजिक जीवन में सभी प्रकार के मूल्यों का सन्तुलन बना रहे। अर्थ का महत्त्व मानने के साथ ही जीवन के मूल तत्त्वों पर दृष्टि केन्द्रित करते हुए उनके पोषण और समृद्धि-विकास के निमित्त नये-नये प्रयोग करना आवश्यक है। पुरानी अप्रासंगिकरूढ़ियों, परम्पराओं और जड़ता का परित्याग कर नवाचारों, नव-जीवनमूल्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील होना परिवर्तित देश-काल-परिस्थिति के फलस्वरूप अपेक्षित है। किन्तु यहाँ सावधानी बरतनी होगी कि नवीन गतिविधियाँ और नए प्रयोग साधन ही बनें रहें, साध्य न बन जाएँ। मुख्य लक्ष्य नव-जीवनमूल्यों की स्थापना है। यदि मुख्य लक्ष्य को भूलकर प्रक्रिया को अधिक महत्त्व दिया जाने लगेगा तो अपेक्षाएँ अपनी सार्थकता खो बैठेंगी। जिस समाज में शास्त्रज्ञ विद्वान, अन्याय-अत्याचार के विरोध में तत्पर साहसी युवा, कर्त्तव्यनिष्ठ महापुरुष और अपने नागरिकों का बहुमुखी विकास करने वाला शासनतन्त्र का अभाव हो जाएगा उस समाज का कल्याण कदापि नहीं हो सकता। सत्य, दया, क्षमा, उदारता, त्याग, परोपकार, करुणा, प्रेम, सहिष्णुता, मैत्री आदि जीवन-मूल्यों से सम्पन्न व्यक्ति ही एक अच्छे समाज व राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। समाजोन्नयन में कोई व्यक्ति कितना उपादेय है और किस सीमा तक नैतिक व मानवीय जीवन-मूल्यों का पोषक है, इसकी परख उसके आचरण और व्यवहार को मूल्य और जीवन-मूल्य की कसौटी पर कसकर की जा सकती है। पहली कसौटी यह कि, "रूढ़ियों, पूर्वाग्रहों, अन्धविश्वासों व आडम्बरों को तोड़ने के साथ वह भौतिक सुख-सुविधाओं, संसाधनों के प्रति कितना आसक्त है!" दूसरी कसौटी यह कि, "कर्त्तव्य-निर्वहन और अधिकार-प्राप्ति में से उसका रुझान किस ओर है!"

1.2.3.1. जीवन-मूल्य की अवधारणा

मानवीय मूल्यों को मूल्यवान् बनाने का सामर्थ्य जिन गुणों में होता है उन्हें जीवन-मूल्य कहा जाता है। मूल्य और जीवन-मूल्य मानव द्वारा मानव के लिए ही निर्धारित किये जाते हैं और इनका मूल लक्ष्य भी मानव-जीवन का उदात्तीकरण ही होता है। सम्वेदनशील साहित्यकार अपनी परिवेशगत स्थितियों से अनुप्राणित होकर इन्हें प्रतिष्ठापित करता है। डॉ॰ नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'मानविकी पारिभाषिक कोश' में जीवन-मूल्य को परिभाषित करते हुए लिखा है – "साहित्यकार की अनुभूतियाँ ही उसके जीवन-मूल्य कहे जा सकते हैं।" डॉ॰ मोहिनी शर्मा के अनुसार मूल्य शब्द का आशय मूलतः जीवन-मूल्य अथवा जीवन के मापदण्ड से ही होता है। इस प्रकार जीवन-मूल्यों से अभिप्राय किसी भी काल के जीवन के मूल में जो सम्वेदना है, उसका बोध कराने से होता है। हालाँकि, डॉ॰ ज्योत्स्ना प्रसाद का विश्वास है कि "मनुष्य अपने समय, समुदाय, समाज के प्रति चिन्तन करता है। मूल्य आचरण एवं व्यवहार को अपेक्षित बनाते हैं। सामाजिक प्राणी होने के कारण उसका यही चिन्तन परम्परा-पोषित होकर जीवन-मूल्यों के विविध रूपों में उपस्थित होता है।" इस तरह उन्होंने किसी समय विशेष और समाज विशेष की परिस्थितियों के उद्घाटन और व्याख्या को ही जीवन-मूल्य स्वीकार किया है।

1.2.3.2. जीवन-मूल्यों के प्रकार

जीवन-मूल्यों की उद्भावना मानव-जीवन के विभिन्न आयामों के अनुरूप ही हुई है। जीवन-मूल्य मानव के साधन हैं तो उनके साध्य भी हैं। युगीन परिवर्तन के कारण जीवन-मूल्य भी परिवर्तनीय हैं। हालाँकि, जीवन-मूल्य वास्तविक स्तर पर अमूर्त्त हैं जिन्हें मानव अनुभव के स्तर पर जीता है। उसके ये व्यक्तिगत अनुभव ही उत्तरोत्तर समष्टिगत स्तर पर आदर्श बनते हैं। चूँकि, जीवन-मूल्य अनिवार्यतः द्रष्टा की दृष्टि से जुड़े होते हैं अतः दृष्टिकोण-भेद के अतिरिक्त आवश्यकता, परिवेश, परिस्थितियों के अनुसार जीवन-मूल्य वर्गीकरण में भी भिन्नता पायी जाती है। वस्तुतः प्रत्येक विचारधारा जीवन-मूल्य सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों के बावजूद मुख्यतः सनातन जीवन-मूल्यों, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को ही किसी-न-किसी रूप में व्याख्यायित करती रही है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुरूप जीवन-मूल्यों का वर्गीकरण किया जाता है, फिर भी सूक्ष्म अन्तर्भेद के कारण कई बार यह वर्गीकरण दुरूह हो जाता है। तथापि मोटे तौर पर समग्र जीवन-मूल्यों को निम्नलिखित वर्गों में विभक्त किया जा सकता है – व्यक्तिगत जीवन-मूल्य, सामाजिक जीवन-मूल्य, सांस्कृतिक जीवन-मूल्य, आर्थिक जीवन-मूल्य, धार्मिक जीवन-मूल्य, आध्यात्मिक जीवन-मूल्य, दार्शनिक जीवन-मूल्य एवं राजनैतिक जीवन-मूल्य।

व्यक्ति विशेष की निजी सीमा में परिगणित किये जाने वाले जीवन-मूल्य व्यक्तिगत जीवन-मूल्य कहे जा सकते हैं। दूसरे शब्दों में व्यक्तिगत जीवन-मूल्य वे हैं जिनका सृजन वैयक्तिक बोध ने किया है। शरीर सम्बन्धी जीवन-मूल्य, चारित्रिक जीवन-मूल्य एवं कामपरक जीवन-मूल्य इसी वर्ग के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं। डॉ॰ रमेशचंद्र लवानिया मनुष्य के विकास के लिए वैयक्तिक जीवन-मूल्यों को आवश्यक मानते हैं। वे प्रेम, सौन्दर्य, काम, व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, स्वाभिमान, सत्य, इन्द्रियनिग्रह से सम्बन्धित अभिवृत्तियों से उत्पन्न जीवन-मूल्यों को इस कोटि के अन्तर्गत समाहित करते हैं। उनके अनुसार "किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा, सम्वेदना तथा अभिवृत्तियों से सम्बन्धित मूल्यों को वैयक्तिक जीवन-मूल्य कहा जाएगा। इस जीवन-मूल्य की दृष्टि से समाज, राष्ट्र या धर्म का पक्ष अथवा विपक्ष विचारणीय नहीं होता इसलिए सम्भव है कि वैयक्तिक जीवन-मूल्य राष्ट्रीय अथवा आध्यात्मिक मूल्यों का विरोधी हो।" डॉ॰ माधुरी ने भी इस मत का समर्थन किया है। उनकी दृष्टि में वैसे तो वैयक्तिक जीवन-मूल्यों का समाज-सापेक्ष होना आवश्यक नहीं है, फिर भी वैयक्तिक जीवन-मूल्य को समाज-विरोधी नहीं होना चाहिए।

समाज के विभिन्न घटकों के प्रति दृष्टिकोण ही सामाजिक जीवन-मूल्यों का निर्माण करता है। सामाजिक जीवन-मूल्यों की प्रक्रिया को समझाते हुए डॉ॰ मोहिनी शर्मा कहती हैं – "यह मनुष्य की चेतना का विकास है जो जैविक मूल्यों की पूर्ति के साथ ऊर्ध्वगामी होकर सामाजिकता-सांस्कृतिकता एवं आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होता है। सामूहिकता की प्रवृत्ति मनुष्य की वह नैसर्गिक प्रवृत्ति है जो उसे सामाजिकता की ओर अभिप्रेरित करती है। सामूहिकता, सहानुभूति आदि मूल प्रवृत्तियों के कारण ही एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति, परिवार, राज्य तथा सामाजिक संस्थाओं से व्यवहार रखता है तथा इन व्यवहारों के प्रति निर्मित जीवनदृष्टि ही सामाजिक जीवन-मूल्यों का निर्माण करती है।"

सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का सम्बन्ध संस्कृति से है। 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति 'संस्कार' शब्द से हुई है। हिन्दी विश्वकोश ने संस्कृति को व्यापक अर्थों में परिभाषित किया है। उसमें उल्लिखित परिभाषा के अनुसार संस्कृति सामाजिक अन्तःक्रियाओं व सामाजिक व्यवहारों के उत्प्रेरक प्रतिमानों का समुच्चय है। इस समुच्चय में ज्ञान, विज्ञान, कला, आस्था, नैतिक मूल्य व प्रथाएँ समाविष्ट होती हैं। संस्कृति भौतिक, आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय के उपयुक्त मनुष्य की श्रेष्ठ साधनाओं और समष्टिगत चेष्टाओं की समष्टिगत अभिव्यक्ति है। इस प्रकार समाज विशेष के रहन-सहन, खान-पान, कला, मनोरंजन आदि का उद्घाटन करने वाले मूल्य सांस्कृतिकजीवन-मूल्य कहे जा सकते हैं।

आर्थिक जीवन-मूल्य मनुष्य के आर्थिक जीवन से सम्बन्धित हैं। चूँकि, जीवन में भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति अर्थ के माध्यम से ही सम्भव है इसलिए अर्थ और उससे सम्बन्धित अभिवृत्तियाँ आर्थिक जीवन-मूल्यों के अन्तर्गत समाहित की जा सकती हैं। हालाँकि डॉ॰ रमेशचंद्र लवानिया पद और यश की कामना को भी आर्थिक जीवन-मूल्यों के अन्तर्गत समाविष्ट करने की वकालत करते हैं। उनका तर्क है कि "पद और यश की कामना भी भौतिकता से सम्बन्धित है इसलिए उन्हें भी आर्थिक जीवन-मूल्यों के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है।"

संस्कृति की भाँति धर्म भी अपने में अनेक विशेषताएँ समेटे हुए हैं। इस दृष्टि से आर्थिक, सामाजिक, नैतिक, दार्शनिक आदि जीवन-मूल्य धार्मिक जीवन-मूल्य के अन्तर्गत ही समाहित किए जा सकते हैं। किन्तु चूँकि धर्म को एक विशेषीकृत अर्थ में भी ग्रहण किया जाता है जिसमें वह किसी अलौकिक सत्ता के प्रति सम्बन्ध जोड़ने की पद्धति के रूप में सामने आता है। डॉ॰ मोहिनी शर्मा के शब्दों में "किसी उच्चतर, श्रेष्ठ व पवित्र शक्ति पर विश्वास करके उससे प्रार्थना, पूजा या आराधना के माध्यम से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करना ही धर्म है।" अतः उपास्य सम्बन्धी विश्वास और उपासना सम्बन्धी प्रक्रियाएँ और पद्धतियाँ धार्मिक जीवन-मूल्यों के अन्तर्गत समाविष्ट की जा सकती हैं।

मनुष्य की कुछ इच्छाओं का सम्बन्ध उसके भावात्मक एवं वैचारिक स्तर से होता है। भावना और विचार ही मनुष्य के शारीरिक और सामाजिक व्यक्तित्व के चारों ओर एक तीसरे व्यक्तित्व का निर्माण करते हैं। यह वृत्त सूक्ष्म, कलात्मक और वायवीय होता है। इस वृत्त की सीमा में आने वाले मूल्यों को आध्यात्मिक जीवन-मूल्य कहा जाता है।

दर्शन शब्द की व्याप्ति में तर्कशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, सामाजिक दर्शन, तत्त्वमीमांसा, अध्यात्म आदि क्षेत्र अन्तर्निहित हैं। वस्तुतः दर्शन जीवन के अन्तरंग पक्ष से जुड़ा एक ऐसा पक्ष है जो भौतिक जीवन से निरपेक्ष रहते हुए जीवन के अन्तरंग पक्ष का अन्वेषण करता है। इससे जुड़े तमाम पहलु दार्शनिक जीवन-मूल्यों में परिगणित किये जाते हैं।

राज्य चलाने की नीति को राजनीति कहा गया है। इसका प्रधान कार्य राज्य का सम्यक् संचालन है। राजनैतिक जीवन-मूल्य इस संचालन में उसकी सहायता करते हैं। राजनीति के विभिन्न पक्षों जैसे शत्रु-नीति, दण्ड-नीति, शक्तिशाली राज्य की अवधारणा आदि को राजनैतिक जीवन-मूल्यों में परिगणित किया जाता है। राजनीति का परम दायित्व न्याय की स्थापना करना है। इसके लिए विधि का शासन होना अति आवश्यक है। राजनैतिक मूल्यों पर विचार करते हुए डॉ॰ गोविंदचंद्र पाडे कहते हैं – "अराजकता का विरोध कर विधि-व्यवस्था बनाए रखना और उसके लिए शक्ति-संचयन करना पहला राजनैतिक मूल्य है जबकि व्यवस्था को धर्म के अनुरूप बनाना और सुधारना दूसरा राजनैतिक मूल्य है।

1.2.3.3. जीवन-मूल्य : मानवीय उत्कर्ष की कुंजी

जीवन-मूल्यों का निदर्शन हिन्दी नीतिकाव्य की सर्वोत्तम उपलब्धि है। इसकी मानवीय सदाचरण एवं नैतिक व्यवहार को जीवन-मूल्य के रूप में स्थापित करने की प्रवृत्ति मानवीय उत्कर्ष की कुंजी है। ध्यातव्य है कि मानवीय जीवन-मूल्यों की निर्मिति आत्ममंथन के परिणामस्वरूप हुई है। जीवन-मूल्य तथ्यात्मक आँकड़ों से परे होकर भावना को स्थापित करते हैं। जीवन-मूल्य केवल 'जीवन' का 'मूल्य' निश्चित करने का आधार ही नहीं होते बल्कि जीवन को 'मूल्यों' की ओर ले जाने का कार्य भी करते हैं। सच तो यह है कि जीवन-मूल्य स्वयं में साधन-साध्य, नित्य-अनित्य, सनातन-नूतन सबकुछ समेटे होते हैं।

देश, काल और परिस्थिति के अनुसार निर्धारित जीवन-मूल्य तत्कालीन सन्दर्भों में स्वीकार्य और प्रासंगिक होते हैं तो देश, काल और परिस्थितियों के परिवर्तित होने पर उनमें भी बदलाव देखा जा सकता है। मानव जीवन-मूल्यों का सृजनकर्त्ता है तो उनका उपयोगकर्त्ता भी है। सिद्धान्त रूप में जीवन-मूल्य आदर्शात्मक व उदात्त रूप में ही परिकल्पित हैं। अधिकांश जीवन-मूल्य सनातन और परम्परागत मूल्यों के अनुपालन की वकालत करते हैं। इसलिए इसका एक अन्य पक्ष यह भी है कि कई बार इन मूल्यों की उद्भावना, पालन, अनुपालन और व्याख्या व्यक्ति विशेष या समाज-समुदाय विशेष द्वारा प्रभावित भी की जाती है फलस्वरूप युगीन मानसिकता के अनुरूप जीवन-मूल्यों में परिवर्तन भी होता जाता है। जैसे कुछ समाज-समुदाय-धर्मों में मांसाहार सामान्य है जबकि अन्य धर्मों में इसे घृणित और पाप समझा जाता है। इसी प्रकार कई समुदाय एकपत्नीव्रत की अनिवार्यता घोषित करते हैं जबकि अन्य समुदाय इसे गैर-ज़रूरी मानते हैं। इस तरह का वैभिन्य देश, काल और परिस्थितिवश देखा जा सकता है तथापि मानवता के सन्दर्भ में कुछ जीवन-मूल्य शाश्वत और नित्य हैं; देश, काल और परिस्थिति परिवर्तित होने पर भी वे स्थिर और सर्वमान्य बने रहते हैं। उदात्त चारित्रिक जीवन-मूल्य यथा – सत्य, सज्जनता, साहस, पराक्रम, परिश्रम, दया, निष्पक्षता आदि इसी प्रकार शारीरिक जीवन-मूल्य यथा – स्वस्थ और नीरोगी काया आदि का महत्त्व और प्रासंगिकता प्रत्येक परिवेश में समान रूप से अपेक्षित है।

1.2.4. जीवन-मूल्य विषयक दृष्टिकोण

1.2.4.1. भारतीय दृष्टिकोण

जीवन-मूल्य विषयक भारतीय दृष्टिकोण मुख्यतः 'पुरुषार्थ-चतुष्ट्य' पर आधारित है। पुरुषार्थ का सामान्य अर्थ 'प्रयत्न' है। प्रयत्न वे हैं जिनसे जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति होती है। भारतीय चिन्तन परम्परा में उल्लिखित चारों पुरुषार्थ मनुष्य के बौद्धिक, शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक विकास से सम्बन्धित आवश्यकताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। धर्म के आधार पर बौद्धिक विकास, अर्थ के आधार पर शारीरिक विकास, काम के आधार पर मानसिक विकास तथा मोक्ष के आधार पर आत्मिक विकास के रूप में मानव-जीवन का हर पहलू जुड़ा हुआ है। इस सन्दर्भ में डॉ० मनमोहन सहगल का कहना है कि – "भारतीय ऋषियों ने जब चतुर्लक्ष्य अथवा चार मूल पुरुषार्थों की स्थापना की थी तभी उनके सम्मुख मानव-जीवन की समस्त स्थितियाँ और सम्पूर्णता के समस्त पड़ाव तथा आयाम खुले रहे होंगे। उन्होंने चतुर्लक्ष्य की कल्पना से पूर्व मनुष्य के जीवन को समूचेपन का गहन अध्ययन किया होगा तभी वे इस परिणाम पर पहुँचे होंगे कि जीवन के अलग-अलग मोड़ों पर मनुष्य को विशिष्ट कोटियों के मूल्य अपेक्षित होते हैं। आवश्यक मूल्यों की प्राप्ति के प्रयास तथा प्राप्त्योपरान्त मिलने वाला सन्तोष ही पुरुषार्थ या लक्ष्य-सिद्धि की संज्ञा से अभिहित हुआ होगा।"

यहाँ चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के अनुक्रम का उल्लेख प्रसंगानुकूल है। मोक्ष को अन्तिम क्रम पर रखा गया है यानी मोक्ष-प्राप्ति मानव-जीवन का मूल लक्ष्य है। किन्तु इस मूल लक्ष्य को सीधे ही नहीं साधा जा सकता। उससे ठीक पहले काम को महत्त्व दिया गया है। काम गर्हित नहीं है, वह सर्जना का माध्यम है, वह मानवीय प्रवृत्तियों, कामनाओं, आकांक्षाओं, तृष्णाओं, महत्त्वाकांक्षाओं से संतुष्ट होने का एक साधन है। बिना काम के मोक्ष भी सम्भव नहीं। काम से ठीक पहले अर्थ को महत्त्व दिया गया है क्योंकि बिना अर्थ के कामनाओं की पूर्ति असम्भव है। पहले अनुक्रम पर धर्म को रखा गया है। यानी व्यक्ति का धर्मनिष्ठ होना सबसे ज़्यादा ज़रूरी है। धर्म यहाँ संकीर्ण अर्थ में नहीं लिया जाना चाहिए बल्कि यहाँ 'मानव धर्म' आशय अपेक्षित है। 'पुरुषार्थ-चतुष्ट्य' के अनुक्रम का वैशिष्ट्य यह है कि दूसरे और तीसरे क्रम पर उल्लिखित पुरुषार्थ पहले और चौथे क्रम के पुरुषार्थों से परस्पर गुँथे हुए हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो पहले के अभाव में दूसरे और तीसरे का अनुपालन विकृति ले आएगा और तब चौथे को साधना कल्पनातीत है। या इसे यूँ कहा जाय कि अपेक्षित यह है कि 'अर्थ' और 'काम' 'धर्म'मय हों तभी 'मोक्ष' सुलभ हो सकता है। धर्म पर आधारित काम और अर्थ की सहायता से मोक्ष की प्राप्ति परम्परागत भारतीय जीवन-मूल्य दृष्टि का आधार रही है।

1.2.4.2. पाश्चात्य दृष्टिकोण

पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त के साथ मूल्य मीमांसा का अभ्युदय हुआ और अरस्तू के आचारशास्त्र, राजनीति और तत्त्वविज्ञान में उसका विकास हुआ। डॉ० मोहिनी शर्मा के अनुसार पश्चिम में मूल्यमीमांसा विषयक तीन विचारधाराएँ उल्लेखनीय हैं। प्रथम विचारधारा के अन्तर्गत स्पिनोजा, लोट्ज, डीबी

आदि विद्वान आते हैं। ये फलवादी कहलाए जिन्होंने मूल्यों को व्यक्तिगत मानते हुए उसका निर्माण व्यक्ति की अपनी रुचि, अरुचि, मानसिक स्थिति और आवश्यकताओं के आधार पर माना। लैयर्ड, मूर टफ्टस और एम.सी. आटो आदि विद्वान दूसरी विचारधारा के पोषक हैं जिन्होंने मूल्य को रूप, रस, गन्ध की भाँति व्यक्तिसापेक्ष न मानकर विषयगत माना है। तीसरी विचारधारा मध्यममार्गियों की है जिसमें सर्वप्रमुख दार्शनिक एलेक्जेंडर हैं। उन्होंने व्यक्ति जो मूल्य का अनुभव करता है और वस्तु जिसका मूल्य अनुभव किया जाता है, उन दोनों के सम्बन्ध में मूल्य का अस्तित्व स्वीकार किया है। पाश्चात्य मूल्य-चिन्तकों में डब्यू.एम. अर्बन ने जीवन-मूल्यों को अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्गीकृत किया है जहाँ उन्होंने दैहिक-आर्थिक मूल्यों को आधारभूत मूल्य माना है। समग्रतः पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार निम्नलिखित जीवन-मूल्य माने गए हैं – दैहिक मूल्य, आर्थिक मूल्य, मनोरंजन मूल्य, साहचर्य मूल्य, चारित्रिक मूल्य, सौन्दर्यात्मक मूल्य, बौद्धिक मूल्य और धार्मिक मूल्य।

1.2.5. मूल्य-चेतना के विविध पक्ष

मानवीय मूल्य जीवन की प्रचुरता और सम्पूर्णता से आरम्भ होते हैं। मानवीय व्यवहार के किसी भी क्षेत्र में उत्कृष्टता की उच्चतम अभिव्यक्ति सदैव ही मजबूत, उत्साही और प्रभावी जीवन-मूल्यों पर आधारित रही है। मानव समाज के क्षरण अथवा पतन का मूल कारण जीवन-मूल्यों में क्षरण है। समकालीन परिवेश में सबसे बड़ी चुनौती है – जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना।

ध्यातव्य है कि मनुष्य में अनैतिक व्यवहार मूल्य-चेतना की कमी अथवा निष्क्रियता के कारण ही उत्पन्न होते हैं। अज्ञानता हीनता की भावना पैदा करती है तथा यह उस अंश के साथ पहचानी जा सकती है जो हम वास्तविकता में हैं। मानवीय मूल्य-चेतना व व्यवहार मनुष्य को स्वयं के प्रति जागरूक और जिम्मेदार बनाता है। विद्वानों ने इस प्रक्रिया को 'मानवीय-सामाजिक आभियान्त्रिकी' के रूप में निरूपित करते हुए कहा है कि स्वयं के प्रति अज्ञानता अथवा भ्रम ही हर प्रकार के अनैतिक व मूल्यहीन व्यवहारों का मूल कारण है। उपनिषदों में इस बात का उल्लेख मिलता है कि सारी पीड़ा की वजह अज्ञानता है। इसलिए जब हम सम्पूर्ण रूप से एक हो जाते हैं तो हमारे भीतर उत्तरदायित्व का एक प्राकृतिक भाव सम्वेदना से पैदा होता है। जैसा कि दलाई लामा कहते हैं कि "अपने समय की चुनौतियों का सामना करने के लिए मेरा मानना है कि मानवता को वैश्विक उत्तरदायित्व के साथ विकसित किया जाना है। हममें से हर किसी को केवल स्वयं, परिवार या राष्ट्र के लिए काम नहीं करना चाहिए, अपितु यह सम्पूर्ण मानव जाति के लिए होना चाहिए।" वेदान्त के उपदेश भी ऐसे व्यवहार के प्रति जागरूक करते हैं जो जीवन-मूल्यों की उत्कृष्टता पर आधारित होता है। स्वामी भूमानन्द तीर्थ का मानना है कि "वेदान्त केवल विद्वान के लिए सीमित नहीं हैं, यह यकीनन ही समय व्यतीत करने का साधन नहीं है। हकीकत में यह मानवीय जीवन को सही परिप्रेक्ष्य में समझने में सहायता करता है।" मूल्यों की पुनर्स्थापना और मानवीय नैतिक व्यवहारों पर बल देते हुए महात्मा गाँधी का सुझाव अनुकरणीय है – "उस बदलाव को पहले स्वयं में लाएँ जिसे आप दुनिया में लाना चाहते हैं।"

1.2.6. पाठ सार

जड़-चेतन, प्रकृति तथा मानव-जीवन का पर्याय 'जीवन' शब्द जब अर्थशास्त्र से सम्बन्धित 'मूल्य' शब्द से सम्पृक्त होकर 'जीवन-मूल्य' बनता है तो मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों; यथा व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, दार्शनिक एवं राजनैतिक आदि का आदर्श मानदण्ड तो बनता ही है, साथ-ही-साथ समग्र मानवता के कल्याण हेतु पथ-प्रदर्शक का कार्य भी करता है । मूल्य और जीवन-मूल्य वास्तविक धरातल पर मूर्त नहीं हैं इसलिए जीवन में इनका हस्तक्षेप व महत्त्व आनुभाविक है । जीवन-मूल्य सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों के बावजूद भारतीय और पाश्चात्य विचारधारा मुख्यतः सनातन जीवन-मूल्यों धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को ही किसी-न-किसी रूप में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से व्याख्यायित करती रही हैं।

1.2.7. कठिन शब्दावली

समाहार	:	संग्रह / संक्षेपण
नैसर्गिक	:	स्वाभाविक / प्राकृतिक
उद्घाटित	:	प्रकाशित
आयाम	:	विस्तार
अमूर्त	:	आकार-रहित
मीमांसा	:	विचारपूर्वक तत्त्व-निर्णय
दैहिक	:	शारीरिक
वेदान्त	:	वेद का अवशिष्ट अंश (उपनिषद् और आरण्यक)

1.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. वर्मा, डॉ॰ सुरेन्द्र, भारतीय जीवन-मूल्य, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.
2. गुप्त, रमेशचंद्र, साहित्य के शाश्वत मूल्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. शर्मा, डॉ॰ मोहिनी, हिन्दी उपन्यास और जीवन-मूल्य, साहित्यागार, जयपुर.
4. मैनी, डॉ॰ धर्मपाल, भारतीय जीवन-मूल्य, भारतीय संस्कृति संस्थान, चंडीगढ़.
5. राय, डॉ॰ बालकृष्ण, हिन्दी के ललित निबन्धों में मानव-मूल्य, कला मन्दिर, नयी दिल्ली.
6. लवानिया, डॉ॰ रमेशचंद्र, हिन्दी कहानी में जीवन-मूल्य, अमित प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. राजकिशोर (सम्पादक), नैतिकता के नए सवाल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

1.2.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. जीवन-मूल्य की संकल्पना।

2. पुरुषार्थ-चतुष्टय के अनुक्रम का महत्त्व।
3. व्यक्तिगत जीवन-मूल्य।
4. सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन-मूल्य।
5. मूल्य-चेतना और नैतिक व्यवहार।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जीवन-मूल्य विषयक भारतीय दृष्टिकोण पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. समाजोन्नयन में कोई व्यक्ति कितना उपादेय है और किस सीमा तक नैतिक व मानवीय जीवन-मूल्यों का पोषक है, इसकी परख किन कसौटियों के आधार पर की जा सकती है ? सोदाहरण विस्तारपूर्वक स्पष्ट कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मानविकी के सन्दर्भ में 'मूल्य' शब्द का अर्थ है –
   (क) जीवनदृष्टि
   (ख) अर्थदृष्टि
   (ग) न्यायदृष्टि
   (घ) उपर्युक्त सभी

2. जीवन-मूल्य वर्गीकरण सम्बन्धी भारतीय दृष्टिकोण आधारित है –
   (क) केवल धर्म पर
   (ख) केवल अर्थ पर
   (ग) काम और मोक्ष पर
   (घ) पुरुषार्थ चतुष्टय पर

3. सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों का सम्बन्ध है –
   (क) धर्म से
   (ख) दर्शन से
   (ग) अर्थ व रोजगार से
   (घ) संस्कृति से

4. व्यक्तिगत मूल्यों में शामिल हैं –
   (क) स्वाभिमान
   (ख) आत्मविश्वास

(ग) धैर्य

(घ) उपर्युक्त सभी

5. 'प्रत्यय सिद्धान्त' के प्रणेता हैं –

(क) प्लेटो

(ख) अरस्तू

(ग) मिल

(घ) जोंस

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 1 : नीति और नीतिकाव्य : अवधारणा एवं सैद्धान्तिकी

इकाई – 3 : नीतिकाव्य की परम्परा : वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, पालि साहित्य, प्राकृत साहित्य, अपभ्रंश साहित्य, आदिकालीन साहित्य, भक्तिकालीन साहित्य, रीतिकालीन साहित्य में नीति और मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

1.3.00. उद्देश्य कथन
1.3.01. प्रस्तावना
1.3.02. नीतिकाव्य की परम्परा एवं विकास
1.3.03. वैदिक साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.04. संस्कृत साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.05. पालि साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.06. प्राकृत साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.07. अपभ्रंश साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.08. आदिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.09. भक्तिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.10. रीतिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य
1.3.11. पाठ सार
1.3.12. कठिन शब्दावली
1.3.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
1.3.14. बोध प्रश्न

1.3.00. उद्देश्य कथन

नैतिक चरित्र के सृजन की प्रक्रिया जहाँ नीतिकाव्य में जीवन-मूल्य की अनिवार्यतः सिद्ध करती है, वहीं उसकी नीतिपरकता उसे 'कला कला के लिए' की काव्यशास्त्रीय परिधि से मुक्त करने का कार्य भी करती है। काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विधाओं में तो नैतिक तत्त्व 'रूप विशेष' के अधीन रहता है परन्तु साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नीतिकाव्य में नैतिकता और जीवन-मूल्यों की व्याख्या होती है। भारतीय साहित्य परम्परा के अन्तर्गत स्फुट रचनाओं के रूप में नीतिकाव्य की सुदीर्घ विकसित परम्परा रही है। प्रस्तुत इकाई नीतिकाव्य की परम्परा पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, पालि साहित्य व प्राकृत साहित्य में नीतिकाव्य की परम्पराओं का अनुशीलन सकेंगे।
ii. अपभ्रंश और आदिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य के स्वरूप की विवेचना कर सकेंगे।
iii. भक्तिकालीन व रीतिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य की परम्परा का उद्घाटन कर सकेंगे।

1.3.01. प्रस्तावना

सदियों से नीति और जीवन-मूल्य का निरूपण उतना ही श्रमसाध्य रहा है जितना कि एक सफल जीवन का जीना। घोर व्यावसायिकता, स्वार्थपरकता और अतिव्यस्तता का समकालीन युग पारम्परिक जीवन-मूल्यों का परित्याग कर तथाकथित नए मूल्यों को अपनाने में निरत है। समकालीन परिवेश में जहाँ संदिग्धता का घटाटोप अँधेरा छाया है, ऐसे में व्यक्ति-आचरण एवं व्यवहार का अनपेक्षित हो जाना आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए। हथेली पर सरसों उगाने की तीव्र लालसा ने आधुनिक मानव को 'साधना' से विमुख कर 'साधनों' के पाश में जकड़ दिया है। फिर भी संसार गतिमान है, यह आश्चर्य का विषय है। वास्तव में इसका कारण है – सामाजिक, सांस्कृतिक व नैतिक मूल्य-चेतना, जिसने समय-समय पर मानवीय अन्तर्मन को सिंचित एवं पुष्पित-पल्लवित किया है। चाहे भोगवादी और अवसरवादी प्रवृत्ति ने जीवन-मूल्यों का ह्रास करने में कोई कसर न छोड़ रखी है फिर भी एक दूसरा बड़ा समूह जीवन-मूल्यसिक्त उन महापुरुषों का भी है जिन्होंने समय-समय पर अपने जीवन का आदर्श प्रस्तुत कर मानवीयता की पुनर्स्थापना का महनीय कार्य किया है। महात्मा गाँधी, सरदार भगतसिंह, ए.पी.जे. अब्दुल कलाम आदि महापुरुषों ने मानव समुदाय को सत्य, त्याग और कर्मशील होने का सन्देश देकर जीवन-मूल्यों की सुदीर्घ-परम्परा को पुनर्जीवित किया है। ऐसे महापुरुषों-मनीषियों की बदौलत ही सृष्टि निरन्तर विकासोन्मुख रहती है। चूँकि, नीतिकाव्य मानव जीवन-चरित्र के मूल्य एवं सौन्दर्य पक्ष को उद्घाटित करता है इसलिए सच्चाई एवं जीवन-मूल्यपरकता के कारण नीतिकाव्य का अध्ययन-अवगाहन अन्तर्मन पर प्रबल और स्थायी संस्कार डालता है।

1.3.02. नीतिकाव्य की परम्परा एवं विकास

भारतीय साहित्य की समृद्ध परम्परा में पुरातनकाल से ही नीतिकाव्य की सार्थक अभिव्यक्ति होती रही है। हिन्दी साहित्य के आरम्भ से बहुत पूर्व ही भारतवर्ष में ऐसे कालजयी साहित्य की सर्जना हो चुकी थी जिसने भाव एवं कला, दोनों ही दृष्टियों से हिन्दी साहित्य-लेखन को प्रभावित किया। साहित्य का प्रयोजन यदि लोकमंगल है, साहित्य का मूलाधार यदि बहुआयामी व बहुप्रसारी मानव-जीवन है, साहित्य का रूपायन यदि सहज पुनर्सृजन है तो नीतिकाव्य की परम्परा हर भाँति से सराहनीय है। वस्तुतः नीतिकाव्य शब्दों, अलंकारों व अभिव्यक्ति पद्धतियों का समेकन मात्र नहीं है, बल्कि उसमें मानव जीवनानुभूति के अकृत्रिम मर्मस्पर्शी शब्दायन की जीवन्त छटा सहज ही परिलक्षित होती है। इस मायने में नीतिकाव्य की उपादेयता कभी पर्युषित और अप्रासंगिक नहीं हो सकती।

1.3.03. वैदिक साहित्य में नीतिकाव्य

भारतीय साहित्य का प्रारम्भ वेदों से स्वीकार किया गया है। वैदिक साहित्य में प्रसंगानुकूल नीति की अभिव्यक्ति हुई है। हालाँकि कतिपय विद्वान जहाँ इसमें नीतितत्त्व का उल्लेख सीमित मात्रा में हुआ मानते हैं, वहीं अन्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य को नीतितत्त्व से ओत-प्रोत माना है। डॉ॰ रामस्वरूप ने हिन्दी में नीतिकाव्य के विकास का विवेचन करते हुए मूल संहिताओं ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के समुदाय को वैदिक

साहित्य की संज्ञा से अभिहित किया है। उनके विचार में नीति के समस्त प्रकार संहिताओं में बीजरूप में उपलब्ध होते हैं। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी का मानना है – "वैदिक साहित्य स्तुतिपरक हैं। नीति-निरूपण की दृष्टि से उन्हें सम्पन्न तो नहीं माना जा सकता, फिर भी यत्र-तत्र कुछ उपदेशात्मक उक्तियाँ मिल जाती हैं।" डॉ॰ रामशंकर त्रिपाठी के अनुसार "वैदिक साहित्य में सत्य व त्याग की महत्ता, कुल परम्परा का अनुसरण आदि विषयों पर नीतिपूर्ण आख्यिकाएँ प्रेरणास्पद मानी जा सकती हैं।" वेदों में वर्णित नीति के कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं।

वैयक्तिक नीति के आलोक में देखा जाए तो वेद शारीरिक स्वस्थता को महत्त्वपूर्ण मानता है। शरीर ही प्रभु तक पहुँचने का वास्तविक मार्ग है अतः इस दुर्लभ शरीर का ध्यान रखना चाहिए। वेद में स्पष्टतया उल्लिखित है कि आठ चक्रों तथा नौ दरवाजों वाला हमारा मानव शरीर ही देवताओं की अयोध्यापुरी है जहाँ सुखदायक स्वर्णमय कोश है जो कि प्रभुज्योति से प्रकाशमान है –

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यय: कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥

– अथर्ववेद, 10/2/31

वैयक्तिक नीति के सन्दर्भ में देखें तो वेद यह समझाना चाहता है कि जैसे सूर्य अन्धकार से मुक्त होकर रात्रि को छोड़ देता है तथा प्रभातकालीन प्रकाश का भी परित्याग कर देता है, ठीक उसी प्रकार मैं सारी बुराइयों और हिंसा को छोड़ता हूँ। जैसे हाथी धूल को उड़ा फेंकता है, वैसे ही मैं पापकर्मों को त्यागता हूँ –

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि॥

(अथर्ववेद-संहिता, सम्पादक – प्रो॰ विश्वनाथ शास्त्री)

जो जागता है उसको ही ऋग्वेद के मन्त्र चाहते हैं। सामवेद का ज्ञान उसी को प्राप्त होता है जो कि जागता है। जो जागता है उसी से सोम कहता है कि मैं तुम्हारी मित्रता से प्रसन्न रहता हूँ –

यो जागार: तमृच: कामयन्ते यो जागार तमु सामानि यन्ति।
यो जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः॥

वेदों में समस्त दुर्गुणों से मुक्त होकर उदात्त जीवन चरित्र पाने की प्रबल आकांक्षा अभिव्यक्त हुई है। हे देव ! कृपया आप सारे अवगुणों को दूर कीजिए तथा सारे उत्तम गुण प्रदान कीजिए –

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद् भद्रं तन्न आ सुव॥

मानव-जीवन में पुरुषार्थ का विशेष महत्त्व है। पुरुषार्थ ही सफलता का मूलमन्त्र है। पुरुषार्थ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए वेद कहते हैं –

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनञ्जयो हिरण्यगर्भ ॥

पुरुषार्थ की महिमा का गुणगान ऋग्वेद की निम्नलिखित पंक्तियों में भी ध्यातव्य है –

मा स्रेधत सोमिनो दक्षता महे कृणुध्वं राय आतुजे।
तरणिरिज्जयति क्षेति पुष्यति न देवासः कवत्नवे ॥

भाव यह है कि हे सौम्य गुण वाले मानव ! तुम अपने मार्ग से कभी विचलित न हो। महान् कार्य के लिए तुम सदैव पुरुषार्थ करो ! तुम धन प्राप्ति के लिए प्रयास करो ! क्योंकि पुरुषार्थी ही विजयी होता है, सुख से रहता है तथा धन सम्पदा से सम्पुष्ट होता है। देवता लोग अकर्मण्य की सहायता नहीं करते।

जैसे एक पहिए से रथ नहीं चल सकता है उसी प्रकार बिना पुरुषार्थ के भाग्य सिद्ध नहीं हो सकता –

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं परुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति॥

वेद में 'स्वद' का महत्त्व बताते हुए कहा गया है कि हे मनुष्य ! आत्मा या आत्मबल के प्रभाव से तू दूषक का दूषक है, अस्त्रों का अस्त्र है, वज्र का वज्र है। तुम्हारा कल्याण हो तथा तुम बराबर वालों से श्रेष्ठ हो। इस प्रकार आत्मबल द्वारा ही व्यक्ति अपने सभी दोषों का निवारण करते हुए समाज में अग्रणी बनता है। सामाजिक एकता की उपयोगिता को स्थापित करते हुए वेद में कहा गया है कि हे मनुष्यो ! तुम्हारे संकल्प समान हों। तुम्हारे हृदय समान हों। तुम्हारे मन समान हों। परिणामस्वरूप तुम्हारा संगठन हो।

वैदिककाल में ब्राह्मणग्रन्थों की भी रचना हुई है। प्रमुख ब्राह्मणग्रन्थों में 'ऐतरेय ब्राह्मण', शतपथ, गोपथ, वंशविंश आदि उल्लेखनीय हैं। ब्राह्मणग्रन्थ के सन्दर्भ में डॉ॰ भोलानाथ तिवारी और डॉ॰ रामस्वरूप का मानना है कि यज्ञ के प्रतिपादक होने या यज्ञों के ब्राह्मण संचालित होने के कारण इन्हें ब्राह्मणग्रन्थ की संज्ञा प्रदान की गई है। 'ऐतरेय ब्राह्मण' में लिखा गया है कि सोते रहना 'कलियुग' है, हाथ-पैर चलाना 'द्वापरयुग' है, उठकर बैठना 'त्रेतायुग' है तथा चलना 'सतयुग' है। इस प्रकार कम या अधिक पुरुषार्थ के अनुसार ही व्यक्ति के जीवन में चारों युग आते-जाते हैं –

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतः सम्पद्यते चरन्॥

आरण्यकों में भी नीति की अभिव्यक्ति हुई है परन्तु नीरस गद्य होने के कारण प्रायः वह नीतिकाव्य में परिगणित नहीं किया जाता। उपनिषदों में अभिव्यक्त नीति की चर्चा करते हुए डॉ॰ बालकृष्ण 'अकिंचन' का मत है कि "ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में विशुद्ध अध्यात्म एवं कर्मकाण्ड व्याप्त होने के कारण नीति की स्पष्ट व्यवस्थाएँ उतनी प्रचुरता से प्राप्त नहीं होतीं, फिर भी हैं अवश्य। उपनिषदों में जाकर यह यह कमी जाकर बहुत कुछ पूरी हुई है

किन्तु मूलतः वे भी अध्यात्म एवं दर्शन के ही ग्रन्थ हैं। वहाँ व्यवहार-नीति के जितने भी आख्यान तथा कथन हैं, वे अपने में बेजोड़ हैं। इनका क्षेत्र रति क्रिया तथा मनचाही सन्तान से लेकर मोक्ष ज्ञान तक फैला हुआ है। किन्तु यहाँ भी प्रधानता अध्यात्म दर्शन की है।" उपनिषद् साहित्य का अनुशीलन करते हुए डॉ॰ रामस्वरूप ने कहा है – "उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति से ही प्रतीत होता है कि ये परम ब्रह्म के समीप बैठाने वाले ज्ञान से परिपूर्ण ग्रन्थ हैं। ब्रह्म का स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति का उपाय ही उपनिषदों के प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं। आजकल लगभग दो सौ बीस के लगभग उपनिषद् प्राप्त हैं। यद्यपि उनमें सत्य, त्याग, तप, तृष्णा, दान, दया आदि नैतिक विषय भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं तथापि प्रायः नीरस गद्य या पद्य में होने के कारण काव्य में नहीं गिने जा सकते।"

'चित्तशुद्धि' का उपनिषदों में बहुत महत्त्व है। उदाहरणार्थ, 'मैत्रेयी' उपनिषद् में कहा गया है कि चित्त ही संसार है अतः उसे प्रसन्नतापूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जिसका जैसा चित्त होता है, वह वैसा ही बन जाता है, यह एक सनातन सिद्धान्त है। 'पाशुपातब्रह्मोपनिषद्' में चित्तशुद्धि को ही समाधि का जनक माना गया है। जब तक साधक का चित्त राग-द्वेष आदि दोषों से मुक्त न हो, तब तक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। 'छान्दोग्य उपनिषद्' में इस नीति का प्रतिपादन किया गया है कि मानव जिस प्रकार का अन्न ग्रहण करता है, उसका मन वैसा ही बन जाता है। क्योंकि मन अन्नमय है, प्राण आपोमय होते हैं और वाणी तेजमयी होती है –

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥

समवेततः वैदिक साहित्य में मानव-जीवन एवं व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित नीतिपरक शिक्षा कभी प्रत्यक्षतः तो कभी परोक्षतः किन्तु प्रभावी ढंग से ध्वनित हुई है। वैदिक साहित्य को भले ही अधिकांश विद्वानों ने विशुद्ध नीतिकाव्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है परन्तु वैदिक साहित्य में उल्लिखित नीतितत्त्व ने परवर्ती साहित्य को अवश्य ही प्रभावित किया है।

1.3.04. संस्कृत साहित्य में नीतिकाव्य

लौकिक संस्कृत का साहित्य नीति की दृष्टि से बहुत ही समृद्ध रहा है। वस्तुतः नीतिकाव्य के जो बीज वैदिक साहित्य में अंकुरित हुए, उनका पुष्पन और पल्लवन ही संस्कृत साहित्य में हुआ। संस्कृत साहित्य में दो प्रकार के नीतिकाव्य हैं – मुख्य नीति प्रतिपादक ग्रन्थ (चाणक्यशतकम्, नीतिशतकम् आदि) तथा मिश्रित या गौण नीति प्रतिपादक ग्रन्थ (रामायण, महाभारत, पुराण आदि)।

प्रमुख नीति प्रतिपादक ग्रन्थ वे हैं जिनका उद्देश्य ही नीति की शिक्षा देना रहा है। डॉ॰ रामस्वरूप के अनुसार मुख्य नीति-प्रतिपादक ग्रन्थों में प्राचीनतम नीतिकाव्य 'चाणक्यशतकम्' है जिसमें ज्ञान, दान, सज्जन, दुर्जन, परोपकार आदि सैकड़ों विषयों पर सीधी-सरल भाषा में लोक-व्यवहार की शिक्षा दी गई है।

भर्तृहरि की सुभाषित त्रिशती या शतकत्रयम् (नीतिशतकम्, शृंगारशतकम्, वैराग्यशतकम्) का भी संस्कृत नीतिकाव्य में अपना विशिष्ट स्थान है। 'नीतिशतकम्' में सुजन-दुर्जन, मूर्ख-विद्वान आदि पर, 'शृंगारशतकम्' में

स्त्रियों के सौन्दर्य, स्वभाव आदि पर और 'वैराग्यशतकम्' में तृष्णा, सांसारिकता, नश्वरता आदि पर प्रभावी नीति-कथन हैं। कई विद्वानों ने 'नीतिशतकम्' को 'चाणक्यनीति' से भी श्रेष्ठ व महत्त्वपूर्ण स्वीकार किया है। इसी प्रकार क्षेमेन्द्र के 'चारु-चर्या शतकम्', जल्हण के 'मुग्धोपदेशम्', सिल्हण के 'शान्तिशतकम्' आदि का भी संस्कृत नीति साहित्य में प्रमुख स्थान है।

'नीतिशतकम्' के अनुसार अज्ञानी को बहुत सरलता से प्रसन्न किया जा सकता है। बुद्धिमान विशेषज्ञ को भी आसानी से समझाया जा सकता है, प्रसन्न किया जा सकता है। लेकिन अल्पज्ञानी को ब्रह्मा भी प्रसन्न नहीं कर सकते –

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि तं नरं न रञ्जयति॥

'नीतिशतकम्' में विद्या, तप, दान, गुण, शील, धर्म आदि से रहित मनुष्य को संसार पर बोझ माना गया है। ऐसे मनुष्य वास्तव में मनुष्य न होकर पशु हैं –

येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

यद्यपि संस्कृत नीति साहित्य आकार-प्रकार की दृष्टि से अत्यन्त विशाल है फिर भी संस्कृत के नीति साहित्य में 'चाणक्यनीति' और 'नीतिशतकम्' को ही सर्वप्रमुख माना जाता है।

डॉ॰ रामस्वरूप ने मिश्रित या गौण नीति-प्रतिपादक ग्रन्थों में उन ग्रन्थों को शामिल किया है जिनका प्रधान विषय तो कुछ और होता है लेकिन उनमें नीति मिश्रित या गौण रूप से समाविष्ट होती है। वर्गीकरण की दृष्टि से गौण नीतिकाव्य की श्रेणी में आने के बावजूद इस तरह के संस्कृत काव्य में नीति की प्रभावशाली अभिव्यंजना हुई है। उदाहरणार्थ महाभारत में उद्योग, शान्ति और अनुशासन पर्व तो नीति के भण्डार हैं। सामाजिक समरसता के आलोक में महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लेख मिलता है कि वर्णों में पहले कोई अन्तर नहीं था। ब्रह्मा के सृजन के कारण सम्पूर्ण जगत् ब्रह्ममय था। ईशावास्य उपनिषद् में आया है कि जहाँ सभी प्राणी एक ही ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं वहाँ सभी में एकता देखने पर कैसा शोक और कैसा मोह हो सकता है –

यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोह कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

वैयक्तिक व पारिवारिक सम्बन्धों के आलोक में वैसे तो महाभारत की भाँति रामायण में भी आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श पत्नी आदि की रीति-नीति की बड़ी प्रभावी अभिव्यंजना हुई है फिर भी महाभारत की अपेक्षा रामायण में नीति का मिश्रण काफी कम देखने को मिलता है। रामायण में दृष्टि आदर्श पर केन्द्रित प्रतीत होती है, महाभारत में व्यावहारिकता पर।

पुराणों की संख्या अट्ठारह है। उपपुराणों की संख्या भी अट्ठारह ही स्वीकार की गई है। 'विष्णुपुराण', 'शिवपुराण', 'गरुड़पुराण' आदि प्रमुख पुराण और 'नृसिंहपुराण', 'कपिलपुराण', 'नारदीयपुराण' आदि प्रमुख उपपुराण हैं। पुराणों में स्त्री, पण्डित, विद्वान, मूर्ख, विद्या, सुख-दुःख, सज्जन, दुर्जन, काल, भावशुद्धि, उद्यम, चिन्ता, मित्र-शत्रु आदि नीति के अनेक विषय सहज ही अनुभूत हैं। डॉ॰ रामस्वरूप ने 'गरुड़पुराण' को महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हुए उसमें लोकनीति और नृपनीति को परिलक्षित किया है। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने भी पुराणसाहित्य को नीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना है। वैसे तो पुराणों में अनेक श्लोक वही हैं जो मनुस्मृति, भगवद्गीता, हितोपदेश, पंचतन्त्र तथा शतकत्रयी में भी उपलब्ध हैं।

नीतिकाव्य के आलोक में स्तोत्रसाहित्य पर विचार करने पर परिलक्षित होता है कि स्तोत्रों में मुख्यतः देवी-देवताओं की स्तुतियाँ हैं। बाण का 'चंडीशतकम्', मयूर का 'सूर्यशतकम्', मेरुतुंग का 'भक्ताभरस्त्रोतम्', शंकराचार्य का 'देव्युपराधक्षमापणस्त्रोतम्' आदि उल्लेखनीय स्तोत्रग्रन्थ हैं।

भारतीय दर्शन की कुल संख्या बारह (छह आस्तिक और छह नास्तिक) स्वीकार की गई है। चार्वाक् दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों में आध्यात्मिक नज़रिए से आत्मा और परमात्मा जैसे गूढ़ विषयों पर गम्भीरता से विचार हुआ है। हालाँकि, नीति का कम और परोक्ष ढंग से ही प्रतिपादन हुआ है फिर भी नीति के आलोक में 'वैशेषिक' व 'सांख्य' दर्शन अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

संसार में मनुष्य भौतिक सुखों की लालसा में भटकता रहता है। हालाँकि, वह जान नहीं पाता कि इन भौतिक सुखों के भीतर ही सूक्ष्म रूप में चारों प्रकार के दुःख (परिणाम दुःख, ताप दुःख, संस्कार दुःख और गुणवृत्ति विरोध) छिपे हुए हैं। मानव के समस्त दुःखों का कारण अविद्या है जिसे योगशास्त्र में 'क्लेश' की संज्ञा दी गई है। ये क्लेश ही जीव के बन्धन के मूल कारण हैं। समाधि लाभ के लिए तथा अविद्यादि क्लेशों को दूर करने के लिए क्रिया योग की साधना करनी चाहिए। योग दर्शन में स्पष्ट रूप से लिखा है – "समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।"

संस्कृत ललित साहित्य मृच्छकटिकम्, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, वैराग्यशृंगारमुक्तक, नलचम्पू, विक्रमोदेवचरितम्, मेघदूतम्, बुद्धचरितम्, शिशुपालवधम् आदि एवं स्मृतियों में भी नीतिकाव्य को परिलक्षित किया जा सकता है। इन्हें भारतीय नीति का मेरुदण्ड कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

1.3.05. पालि साहित्य में नीतिकाव्य

500 ई.पू. से 1000 ई. तक के कालखण्ड को प्राकृतकाल कहा जाता है जिसमें प्रायः तीन भाषाओं – पालि, साहित्यिक प्राकृत और अपभ्रंश का प्रचलन रहा। इसमें 500 ई.पू. से ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक के कालखण्ड में रचित साहित्य की भाषा पालि और शिलालेखी प्राकृत रही। 'पालि' शब्द को लेकर अधिकांश विद्वानों का विचार है कि 'पालि' शब्द मूल त्रिपिटक ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर प्रयुक्त 'परीयाय' (पर्याय) शब्द से व्युत्पन्न हुआ है। सम्राट् अशोक के भाब्रू शिलालेख में त्रिपिटक के 'धम्मपरियाय' शब्द स्थान पर मागधी प्रवृत्ति

के अनुसार 'धम्म पलियाय' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ बुद्ध-उपदेश या वचन होता है। इसी 'पलियाय शरण' से पालि की व्युत्पत्ति हुई है जो आगे चलकर बुद्ध-वचनों की भाषा के रूप में रूढ़ हो गया। पालि साहित्य का लगभग अधिकांश भाग बुद्धवचन संग्रह व उसकी व्याख्या मात्र स्वीकार किया जा सकता है। ध्यातव्य है कि भगवान् बुद्ध के समस्त वचन तीन ग्रन्थों में सुरक्षित हैं जिन्हें 'त्रिपिटक' कहते हैं। ये त्रिपिटक हैं – 'विनयपिटक', 'सुत्तपिटक' और 'अभिधम्मपिटक'। 'विनयपिटक' में भगवान् बुद्ध के संन्यासी शिष्यों के नियम-उपनियम हैं। 'सुत्तपिटक' (सूत्र-मंजूषा) में सीधी-सादी भाषा में भगवान् बुद्ध के गम्भीर उपदेश हैं। 'अभिधम्मपिटक' में भगवान् बुद्ध के गम्भीर से गम्भीर उपदेश दार्शनिक परिभाषा में हैं जो विचारकों के मनन करने योग्य हैं। इन तीन पिटकों को बुद्ध के जीवन व उपदेशों के सम्बन्ध में सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है। ये तीनों पुस्तकें पालि भाषा में हैं।

पालिकाव्य न केवल धर्म की दृष्टि से अपितु नीतिकाव्य की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। डॉ॰ रामस्वरूप ने 'हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास' में पालि भाषा के नीतिकाव्य को संस्कृत के नीतिकाव्य से जोड़ते हुए कहा है कि "जैसे कि संस्कृत की नीतिकाव्य की समीक्षा के प्रसंग में हम कह चुके हैं कि अनेक नीति पद्य एकाधिक संस्कृत ग्रन्थों में अक्षरश: उसी रूप में न्यूनाधिक भेद के साथ उपलब्ध होते हैं, वैसे ही यह देखकर भी आश्चर्य होता है कि पालि के अनेक नीति पद्य संस्कृत के कई ग्रन्थों में उपेक्षणीय भेद के साथ विद्यमान हैं। उदाहरण के तौर 'मनुस्मृति' और 'धम्मपद' के निम्नलिखित पद द्रष्टव्य हैं –

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविन:।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

– मनुस्मृति

अभिवादन सीलस्य निच्चं बद्धापचादिनो।
चत्तारो धम्माय खड्ढन्ति आयु वर्णो सुखं बलम्॥

– धम्मपद

1.3.06. प्राकृत साहित्य में नीतिकाव्य

ईस्वी सन् के प्रारम्भ से 500 ई. तक के कालखण्ड में रचित साहित्य की भाषा साहित्यिक प्राकृत रही। प्राकृतसाहित्य प्राचीन व समृद्ध है। उसके दो भाग किए जा सकते हैं – धर्मसाहित्य तथा काव्यसाहित्य। धर्मसाहित्य विशेष रूप से जैनियों द्वारा रचित हैं जबकि काव्यसाहित्य का सृजन जैनेतर रचनाकारों द्वारा माना जाता है। नीति के आलोक में धर्मसाहित्य व काव्यसाहित्य दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृतसाहित्य में नीति-कथन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिसे सरसता तथा व्यवहारिकता दोनों ही दृष्टियों से उदात्त एवं श्रेष्ठ माना जा सकता है। प्राकृत कवियों ने संस्कृत कवियों से भावों के बीज प्राप्त कर उन्हें स्वविवेक और कल्पना के जल से सिंचित कर पल्लवित और पुष्पित किया है। हालाँकि, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने प्राकृतसाहित्य को नीति के क्षेत्र में अधिक सम्पन्न नहीं माना है। उनका कहना है कि "प्राकृत के नीतिकाव्य में लोक-व्यवहार की बातें अधिक हैं तथा धर्म-आचार की कम और राजनीति की तो नहीं के बराबर। यह साहित्य संस्कृत तथा पालि की भाँति नीति के क्षेत्र में

बहुत अधिक सम्पन्न तो नहीं है पर जो थोड़े से छन्द हैं, भाव और अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से बहुत सुन्दर हैं।" इस सन्दर्भ में डॉ॰ बालकृष्ण का कहना है कि "जयवल्लभ द्वारा संकलित 'वज्जादलग', महाराज हाल द्वारा संकलित 'गाथासप्तशती' प्राकृत नीति के सुन्दर भण्डार हैं।" परिमाण में अपेक्षाकृत न्यून होने पर भी प्राकृत नीतिकाव्य विषय-वैविध्य, अभिव्यंजना और सरसता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

1.3.07. अपभ्रंश साहित्य में नीतिकाव्य

अधिकांश विद्वानों ने हिन्दी का विकास अपभ्रंश से स्वीकार किया है। 500 ई. से 1000 ई. तक के समय में अपभ्रंश भाषा में साहित्य-रचना हुई। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने सम्पूर्ण अपभ्रंशसाहित्य को चार भागों में विभाजित किया है – जैनधारा, शैवधारा, बौद्धधारा और ऐहिकतापरकधारा। अपभ्रंश साहित्य परम्परा में शैवधारा को उन्होंने नीति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं माना है। उनके मतानुसार अपभ्रंश के जैनसाहित्य में भी नीति की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण मुनि रामसिंह-कृत 'पाहुड दोहा', देवसेन-कृत 'सावय धम्म दोहा' तथा जिनदत्त सूरि-कृत 'उपदेश रसायन रास' हैं। देवसेन-कृत 'सावय धम्म दोहा' में इन्द्रियनिग्रह, दान आदि विषयों पर सुन्दर नीति-कथन मिलते हैं –

जं दिज्जसई तं पावियइ एउ ण वयणु विसुद्ध।
गाइ पइण्णंइ खडभुसइ कि ण पयच्छइत दुद्धु॥

अर्थात् जैसा दिया जाता है, वैसा ही प्राप्त होता है, यह बात ठीक नहीं है। गाय को खल (भूसा) खिलाया जाता है तो क्या वह दूध नहीं देती !

जिनदत्त सूरि-कृत 'उपदेश रसायन रास' तथा 'काल स्वरूप कुलक' ('उपदेश ललक') में मनुष्य के जन्म, आत्मोद्धार, कुटुम्ब-संगठन, माता-पिता का आदर तथा अन्य बहुत-सी लौकिक एवं पारलौकिक बातों से सम्बन्धित शिक्षाएँ दी गई हैं। जैन कवि स्वयंभू (सत्यभूदेव)-कृत पउमचरिउ, पुष्पदंत-कृत महापुराण, धनपाल-कृत भविसत्तकहा में भी रामचरितमानस की भाँति कहीं-कहीं नीति के छन्द मिल जाते हैं।

बौद्धधारा में सिद्धों का साहित्य आता है। सिद्धों की संख्या चौरासी स्वीकार की गई है। हालाँकि, उनमें से केवल छब्बीस, जिनमें कण्हपा, सरहपा (सरहपाद, सरोजवज्र, राहुल भ्रद्र), भुसुकुपा, शबरपा, लुइपा, डोम्भिया मुख्य हैं, की ही रचनाएँ प्राप्त होती हैं। यद्यपि सिद्धों का साहित्य मुख्यतः साधना और सिद्धान्तों से सम्बन्धित है तथापि कहीं-कहीं नीतिपरक वचनों की प्रभावी एवं सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। इनमें गुरु का महत्त्व, पुस्तकीय ज्ञान की निन्दा, पण्डितों के प्रति व्यंग्य, जाति-पाँति का तिरस्कार तथा शरीर का महत्त्व आदि पर अधिक बल है। सरहपा-कृत दोहाकोश और शबरपा-कृत चर्यापद बौद्ध नीतिकाव्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

अपभ्रंश की ऐहिकतापरक धारा के परिप्रेक्ष्य में डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने दो उपधाराओं – प्रबन्ध और मुक्तक की चर्चा की है। उनके अनुसार प्रबन्धों में प्रधान ग्रन्थ अब्दुर्रहमान-कृत 'सन्देशरासक' तथा विद्यापति की

'कीर्तिपताका' हैं जिनका नीति की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है। मुक्तकधारा के अन्तर्गत हेमचन्द्र की रचनाएँ नीतिपरक हैं। उदाहरण देखिए –

तिलहं तिलत्ततणु ताउं पर जाउं न नेह गंलति।
नेहि पणट्ठइ तेज्जि तिल फिट्टवि खल होंति॥

हेमचन्द्र के नीतिपरक दोहों में गृहस्थ, स्त्री, भाग्य, सज्जन, दुर्जन, प्रेम, उन्नति, धन तथा भाग्य के सम्बन्ध में बताया गया है। उदाहरण के लिए जिसके घर चार बैल, दो गाय और मीठा बोलने वाली स्त्री हो उस गृहस्थ को अपने घर हाथी बाँधने की क्या ज़रूरत है –

च्यारि बइल्लाथ धेनु, दुइ, मिट्ठा बुल्ली नारि।
काहुँ मुंज कुंडवियाहं गयवर बज्झथइ वारि॥

समग्र अपभ्रंश साहित्य का एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से नीति वचन न कहे गए हों। ये नीति-कथन मुख्यतः निर्वेद प्रधान हैं। हालाँकि कुछ विद्वानों का मानना है कि धार्मिकता के आग्रह के कारण अपभ्रंश साहित्य के नीतिकाव्य में विदग्धता, साहित्यिकता तथा प्रभावोत्पादकता उतनी नहीं आ पाई जितनी कि उसकी सम्पन्नता है।

1.3.08. आदिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य

हिन्दी साहित्य के आदिकाल को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'वीरगाथाकाल' की संज्ञा से अभिहित किया है। वि.सं. 1050 से 1375 तक के युद्ध-विग्रहों के इस कालखण्ड में वैसे तो नीति की एक भी स्वतन्त्र रचना नहीं दिखाई देती है लेकिन प्रकीर्ण रूप से नीति की बातें अवश्य ही तत्कालीन काव्य-रचनाओं में समाविष्ट हैं।

आदिकाल के प्रायः सभी कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के शौर्य, पराक्रम, दान-पुण्य आदि का बखान करने के लिए काव्य-रचना की। नीति-उपदेश उनका मुख्य प्रतिपाद्य कभी नहीं रहा। इसके बावजूद पृथ्वीराजरासो, आल्हाखण्ड, बीसलदेव रासो आदि प्रतिनिधि रचनाओं में नीति के दर्शन यत्र-तत्र हो जाते हैं। नाथ साहित्य में मूलतः यौगिक अनुभव तथा सम्प्रदाय विशेष के उपदेश हैं तथापि नीति की अनेक बातें भी प्रसंगवश कही गई हैं। अमीर ख़ुसरो की रचनाएँ 'बूझ पहेलियाँ', 'दो सुखने' आदि नीति की शिक्षा के लिए तो नहीं हैं परन्तु इन सरल पद्यों में भी नीति की कुछ-न-कुछ शिक्षा अवश्य विद्यमान है। उदाहरण प्रस्तुत हैं –

एक नार चतुर कहलावे, मूरख को न पास बुलावै।
चतुर मरद जो हाथ लगावे, खोल सतर वह आप दिखावे॥

* * *

खेत में उपजे सब कोई खाय। घर में होवे घर खा जाय॥

1.3.09. भक्तिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य

मध्यकाल के वि.सं. 1375 से 1700 तक के कालखण्ड को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल कहा है। इस समय में रचित भक्तिकाव्य हिन्दी साहित्य की अन्यतम उपलब्धि है। वैसे तो भक्तिकाव्य में नीतिवचनों का समावेश स्वतः ही हो गया है किन्तु इसी समय में पद्मनाभ, उदैराज, बनारसीदास आदि कवियों ने नीति को लक्ष्य कर प्रचुर मात्रा में नीतिकाव्य की रचना भी की है। भक्तकवि तुलसीदास-कृत 'दोहावली', रत्नावली-कृत 'लघुदोहा संग्रह', सन्तकवि सुन्दरदास-कृत 'सुन्दरविलास', 'सद्गुरु-महिमा' आदि ग्रन्थ प्रमुख नीतिकाव्य हैं।

सन्तकवि कबीर के काव्य में नीति, अध्यात्म तथा दर्शन की वह पवित्र त्रिपथगा तरंगायित है जो व्यक्तिगत धर्म साधना तथा समाज-सुधार के कगारों से बहती हुई निर्भय खण्डन-मण्डन के अघौट घाटों से मार्ग बनाकर जहाँ दिव्य जीवन-चरित्र को अभिसिंचित करती है वहीं सामाजिक बाह्याचारों, धार्मिक पाखण्डों तथा शास्त्रीय विद्रूपताओं को गला-बहाकर नष्ट भी कर देती है। कबीर के नीतिगत कथन के उदाहरण प्रस्तुत हैं –

करता था तौ क्यूँ किया, अब करि क्यूँ पछताई।
बोवै पेड़ बबूल का, तो आम कहाँ तैं खाई॥

* * *

तन को जोगी सब करै, मन को बिरला कोई।
सब सिधि सहजै पाइए, जे मन जोगी होई॥

ध्यातव्य है जहाँ प्रायः अन्य नीतिकार बराबर वालों में ही मैत्री की वकालत करते हैं, वहीं तुलसीदास का मत इसके विपरीत है। तुलसी-काव्य में नीति का उदाहरण देखिए –

कै लघु कै बड़ मीत भल सम सनेह दुख सोइ।
तुलसी ज्यों घृत मधु सरिस मिलें महाबिष होइ॥

नीतिकवियों में भक्तकवि रहीम का स्थान महत्त्वपूर्ण है। रहीम रचित 'दोहावली' तो नीतिकाव्य का भण्डार है। उदाहरण देखिए –

खीरा सिर तें काटिए, मलियत नमक बनाय।
रहिमन करुए मुखन को, चहियत इहै सजाय॥

* * *

कमला थिर न रहीम कहि, यह जानत सब कोय।
पुरुष पुरातन की बधू, क्यों न चंचला होय॥

1.3.10. रीतिकालीन साहित्य में नीतिकाव्य

मध्यकाल के वि.सं. 1700 से 1900 तक के कालखण्ड को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य का रीतिकाल कहा है। दरबारी संस्कृति के इस युग में शृंगारिक काव्य के समानान्तर ही उत्कृष्ट नीतिकाव्य की रचना प्रचुर मात्रा में हुई। बिहारीलाल, कविवर वृन्द, घाघ, भड्डरी, गिरिधर कविराय, दीनदयाल गिरि, जमाल, रामसहाय दास, सम्मन, बेताल प्रभृति कवियों द्वारा रचित नीतिकाव्य हिन्दी साहित्य की अप्रतिम उपलब्धि है।

युगीन भौतिकतावादी प्रभावों के बावजूद रीतिकालीन नीतिकाव्य में सत्य, सन्तोष, क्षमा आदि गुणों का बखान मिलता है। सज्जन की प्रशंसा और दुर्जन की निन्दा का भाव सम्पूर्ण रीतिकालीन नीतिकाव्य में सर्वत्र विद्यमान है। सभी नीतिकवियों ने कृतघ्नता को जुगुप्सित पापकर्म माना है जबकि 'कहा हानि मृगराज की भूकत जौ लखिवा न' जैसी उक्तियाँ कहकर क्षमाशील और सहनशील पुरुष की महानता का बखान किया है। जीवन-मूल्यों की दृष्टि से रीतिकाव्य का अनुशीलन करने पर अनेक उपयोगी तथ्य सामने आते हैं। सभी रीतिकालीन नीतिकवि वैयक्तिक जीवन-मूल्यों का पुरजोर समर्थन करते हैं। 'बलवान् की बात अलग होती है', 'चलै न अचल उखारि तरु डारत पवन झकोर' या 'मदन खंडन सहत हैं ज्यों अबला के अंग' जैसी उक्तियाँ रीतिकालीन नीतिकवियों की दृष्टि में शारीरिक बल की महत्ता उजागर करती हैं।

पारिवारिक जीवन-मूल्यों में सुपुत्र-कुपुत्र का अन्तर रीतिकालीन नीतिकाव्य में बहुत ही रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। विवाह होते ही पुत्र का व्यवहार बदल जाने वाली बात रीतिकालीन नीतिकवि 'लटपटी होने लगी' या 'मोहि जुदा कर देहु' जैसी उक्तियों से अभिव्यक्त कर देते हैं। संतान को सुसंस्कृत करने का दायित्व माता-पिता को है। सुपुत्र घर-परिवार, समाज-राष्ट्र की उन्नति में सहायक होता है जबकि कुपुत्र क्लेश और कष्ट बढ़ाता है इसीलिए रीतिकालीन नीतिकवि कहता है – 'साँई ऐसे पुत्र से, बाँझ रहै बरु नारि'।, 'भले बंस सन्तति भली कबहूँ नीच न होय'।

रीतिकालीन नीतिकाव्य में निरक्षर नारी को अविद्या के रूप में चित्रित कर उसकी निन्दा की गई है लेकिन विवेकसम्पन्ना नारी के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यह भी कहा गया है कि नारी के बिना पुरुष अधूरा है। 'बाँके नैन परोसे जोए' जैसी उक्तियों के माध्यम से स्वीकार किया गया है कि सुन्दर और गृहकार्यों में निपुण स्त्री का साथ पुरुष के लिए धरती पर ही बैकुण्ठ सदृश है। 'बिन मेहरारु घर करे' कहकर इस नीति का प्रतिपादन किया गया है कि स्त्री के बिना गृहस्थ जीवन के बारे में सोचना मूर्खता है क्योंकि पुरुष का घर तो स्त्री ही बनाती है।

रीतिकालीन नीतिकाव्य में आर्थिक जीवन-मूल्यों की सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। जैसे – भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति धन कमाने से ही सम्भव है, धन कमाने से अधिक महत्त्वपूर्ण है गैर-ज़रूरत की वस्तुओं में धन-व्यय न कर बचत करना, धन-संग्रह से ही लोककल्याणकारी बड़े कार्य सम्पन्न किये जा सकते हैं, धन का उत्कृष्टतम उपयोग ज़रूरतमंद को दान देना है आदि। रीतिकालीन नीतिकाव्य कहीं आदर्शात्मक रूप में तो कहीं व्यवहारात्मक रूप में जीवन-मूल्यों का उद्घाटन करता है। आदर्शात्मक रूप में यह धन को उलीचने, धन पर

अभिमान न करने, मदद की आशा में आने वाले का निरादर न करने, लक्ष्मी के चंचल होने, पाप द्वारा धन न कमाने आदि नैतिक मूल्यों की वकालत करता है तो व्यवहारात्मक रूप में यह 'जब लगि पैसा गाँठ में, तब लगि ताको यार', 'कौड़ी बिना गृहस्थ का कोई लेय न नाम', 'बरनै दीनदयाल खोउ धन वृथा न प्यारे', 'तीज परे दरबि से हीन' आदि उक्तियों द्वारा धन के महत्त्व का प्रतिपादन करता है।

धार्मिक जीवन-मूल्यों के आलोक में रीतिकालीन नीतिकाव्य अपनी समस्त चिन्ताएँ प्रभु के भरोसे छोड़ने की बात करता है। वह प्रभु की कृपा से ही सारे काम सध जाने की आशा भी व्यक्त करता है। रीतिकालीन नीतिकाव्य 'एक आनन्द सिंधु' कहकर धार्मिक समन्वयवाद की स्थापना करने का प्रयास भी करता है।

1.3.11. पाठ सार

नीतिकाव्य की परम्परा का अनुशीलन करने से यह सहज ही अनुभूत है कि नीतिकाव्य ने जीवन-मूल्यों की दृष्टि से कहीं सनातन और परम्परागत मूल्यों के अनुपालन का निर्देश दिया है तो कहीं युगीन मानसिकता के अनुरूप जीवन-मूल्यों में परिवर्तन को भी उद्घाटित किया है। साथ ही, इसमें नित्य तथा परिवर्तनीय मूल्यों के समन्वय की बात भी कही गई है। नीतिकाव्य की सुदीर्घ परम्परा में अभिव्यक्त उक्तियों की उपादेयता वर्तमान परिदृश्य में भी अनुभव की जा सकती है।

1.3.12. कठिन शब्दावली

पर्युषित	:	बासी, पुराना
मेहरारु	:	पत्नी
सन्तति	:	सन्तान
बिरला	:	विशेष

1.3.13. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ, हिन्दी नीतिकाव्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.
2. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ, हिन्दी नीतिकाव्यधारा, किताब महल, नयी दिल्ली.
3. पाण्डेय, डॉ॰ श्रीराजबली, भारतीय नीति का विकास, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना.
4. मैकेंजी, जे.एस., नीति प्रवेशिका, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. वर्मा, डॉ॰ सुरेन्द्र, भारतीय जीवन-मूल्य, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी.
6. पाण्डेय, गोविंदचंद्र मूल्य मीमांसा, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर.
7. गुप्त, रमेशचन्द्र, साहित्य के शाश्वत मूल्य, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
8. मिश्र, रमेशचन्द्र, सन्त साहित्य और समाज, आर्य प्रकाशन मण्डल, दिल्ली.
9. राजकिशोर (सम्पादक), नैतिकता के नए सवाल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

1.3.14. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए

1. अपभ्रंश साहित्य में नीतिकाव्य।
2. आदिकालीन नीतिकाव्य।
3. भक्तिकालीन नीतिकाव्य।
4. रीतिकालीन नीतिकाव्य में अर्थ-निरूपण।
5. वैदिक साहित्य में पुरुषार्थ।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "विशुद्ध नीतिकाव्य न होते हुए भी वैदिक साहित्य में नैतिक शिक्षा प्रभावी ढंग से ध्वनित हुई है।" उक्त कथन की पुष्टि कीजिए।
2. भक्तिकालीन नीतिकाव्य का स्वरूप विश्लेषण कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मुख्य ब्राह्मणग्रन्थ है –
   (क) ऐतरेय
   (ख) शतपथ
   (ग) गोपथ
   (घ) उपर्युक्त सभी

2. पुराणों की संख्या है –
   (क) सोलह
   (ख) अट्ठारह
   (ग) उन्नीस
   (घ) बीस

3. लोकनीति और नृपनीति की दृष्टि से कौन सा पुराण महत्त्वपूर्ण है ?
   (क) गरुड़पुराण
   (ख) शिवपुराण
   (ग) विष्णुपुराण
   (घ) उपर्युक्त सभी

4. 'गाथासप्तशती' का संकलन किया है –
   (क) जयबल्लभ ने
   (ख) महाराज हाल ने
   (ग) जिनदत्त सूरि ने
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. 'कीर्तिपताका' के रचयिता हैं –
   (क) विद्यापति
   (ख) हेमचन्द्र
   (ग) रहीम
   (घ) जगनिक

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 2 : सन्त कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : कबीर के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

2.1.0. उद्देश्य कथन
2.1.1. प्रस्तावना
2.1.2. कबीर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  2.1.2.1. व्यक्तित्व
  2.1.2.2. कृतित्व
2.1.3. कबीर का युगबोध एवं मानव-दर्शन
2.1.4. कबीर का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  2.1.4.1. वैयक्तिक नीति
  2.1.4.2. सामाजिक नीति
  2.1.4.3. अर्थ नीति
  2.1.4.4. धार्मिक नीति
  2.1.4.5. आध्यात्मिक नीति
  2.1.4.6. सांस्कृतिक नीति
2.1.5. कबीर का नीतिकाव्य और सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
2.1.6. पाठ सार
2.1.7. कठिन शब्दावली
2.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.1.9. बोध प्रश्न

2.1.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई जीवन-मूल्य, नीति और नीतिकाव्य के आलोक में 'कबीर' के अवदान पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. कबीर के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की सामान्य जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. कबीर के युगबोध एवं मानव जीवन-दर्शन की समीक्षा कर सकेंगे।
iii. कबीर के नीतिकाव्य व उसके विविध आयामों का विवेचन कर सकेंगे।
iv. सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना के आलोक में कबीर-नीतिकाव्य का अनुशीलन कर सकेंगे।

2.1.1. प्रस्तावना

भारतीय समाज मूलतः अनुकरणमूलक समाज रहा है इसलिए यहाँ सत्य नहीं बल्कि 'छाया' को प्राथमिकता मिलती रही है। समाज वस्तुतः छायाओं से 'मूल्य' और 'नीति' का निर्धारण करता है। छायाएँ कई तरह की हो सकती हैं। धर्म की वास्तविकता को लेकर, मूल्य को लेकर, इंसानियत आदि को लेकर समाज में बहुत ऊहापोह है। सारे संघर्ष इन 'शब्दों की छाया' के स्तर पर ही घटित होते हैं। समकालीन परिवेश में मानवता खो रही है। भारतीय परम्परा व इतिहास में छायाएँ जब-जब उग्र हुई हैं, जब-जब जीवन-मूल्यों का पतन हुआ है, तब-तब छायाओं के निस्तारणार्थ और वास्तविकता के उद्‌घाटनार्थ समाज में बुद्ध और कबीर जैसे समाज-सुधारकों का आविर्भाव होता है। कबीर का विमर्श एक ऐसे व्यक्ति की चर्चा है जो छाया और वास्तविकता के विभेद को उद्‌घाटित करता है। छायाओं के कोहरे में जो मानवीय मूल्य खो गए हैं, इंसानियत, धर्म व नीति की जो चेतना तिरोहित हो गई है, अपनी नीतिपरक रचनाओं के माध्यम से कबीर उन्हीं जीवन-मूल्यों, उसी इंसानियत और उसी चेतना की पुनर्स्थापना का प्रयत्न करते हैं।

2.1.2. कबीर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

कबीर के समक्ष जो चुनौतियाँ और संघर्ष हैं, वह कहीं-न-कहीं सत्य और मूल्य-चेतना की पुनर्वापसी के लिए है। कबीर के नीतिकाव्य में इस बात को केन्द्र में रखकर चलना होगा कि कबीर के समग्र संघर्ष और उनकी सम्पूर्ण चेतना को उनकी काव्य-चेतना, सामाजिक चेतना और भक्ति-भावना कह सकते हैं। इसे किसी भी सन्दर्भ या संज्ञा से अभिहित करें, सभी का केन्द्रीय तत्त्व है – सत्य की पहचान और नैतिक मूल्यों की स्थापना। वास्तव में कबीर का व्यक्तित्व और कृतित्व कालजयी 'नैतिक मूल्यों' की स्थापना के निहितार्थ है।

2.1.2.1. व्यक्तित्व

मध्ययुगीन मानक-मूल्य साधकों में सन्त कबीरदास का स्थान अग्रणी है। 'श्री पीपा की वाणी', धर्मदास-कृत 'भवतारण बोध', 'कबीर-गोरख गोष्ठी', 'कबीर-चरित्र बोध', 'भक्तमाल' और 'कबीरपरिचई' आदि कृतियों में कबीर की जीवन से सम्बन्धित घटनाओं व मान्यताओं का उल्लेख मिलता है। 'कबीर-चरित्र बोध' में कबीर का आविर्भाव काल 1455 वि.सं. उल्लिखित है। अन्तःसाक्ष्य व 'कबीर चरित्रबोध' के प्रमाण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कबीर का जन्म् सन् 1398 ई. में हुआ। 'जाति जुलाहा नाम कबीरा' जैसे उल्लेखों से यह प्रकट होता है कि जाति-पाँति के कटु आलोचक कबीर ने अपने को जुलाहा जाति का होना स्वीकार किया है। एक किंवदन्ती के अनुसार नीरू जुलाहा और उसकी पत्नी नीमा ने उनका लालन-पालन किया। कबीर का विवाह लोई से हुआ तथा उनकी सन्तान के रूप में पुत्र कमाल और पुत्री कमाली का उल्लेख मिलता है। ध्यातव्य है कि जन्मकाल के समान ही उनका अवसान काल भी सुनिश्चित नहीं है। 'भक्तमाल' के टीकाकार के अनुसार कबीर का देहावसान मगहर में सन् 1492 ई. में हुआ। इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति भी प्रचलित है –

संवत पंद्रह सौ पछात्तरा, कियो मगहर को गौन।

माघ सुदी एकादशी, रम्यो पौन में पौन॥

अभिप्राय यह है कि कबीर की मृत्यु 1575 वि.सं. (सन् 1518 ई.) में हुई। 'कबीरपरिचई' में भी इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि कबीर को लगभग 120 वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त हुआ अर्थात वे सन् 1398 ई. से सन् 1598 ई. तक विद्यमान रहे।

2.1.2.2. कृतित्व

रचनाकार के रूप में सरलता एवं सहजता उनके काव्य की शोभा और विशेषता है। कबीर जीवन के सर्वाधिक निकट हैं। वे कहते हैं – "मैं कहता हौं आँखन देखी, तू कहता कागद की लेखी।" उन्हें जन्मजात विद्रोही, स्वभावतः समाज-सुधारक, सकारण धर्म-सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार समर्थ कवि माना जा सकता है। खोज-प्रतिवेदनों, सन्दर्भ-ग्रन्थों, पुस्तकालयों के विवरणों में कबीर द्वारा विरचित तिरसठ ग्रन्थों (अगाधमंगल, अनुरागसागर, अमरमूल, अक्षरखण्ड की रमैनी, अक्षरभेद की रमैनी, उग्र गीता, कबीर की बानी, कबीर-गोरख की गोष्ठी, कबीर की साखी, बीजक, ब्रह्मनिरूपण, मुहम्मदबोध, हंसमुक्तावली, रेखता, विचारमाला, विवेकसागर, शब्दावली, ज्ञानसागर आदि) का उल्लेख मिलता है। हालाँकि, इनमें से कुछ की प्रामाणिकता सन्देहास्पद है। चूँकि, कबीर न तो गोरखनाथ के समकालीन थे और न ही मुहम्मद साहब के, इसलिए 'कबीर-गोरख की गोष्ठी' और 'मुहम्मदबोध' जैसी रचनाओं की प्रामाणिकता स्थापित करना तर्कसंगत नहीं है। वैसे तो काव्य-रचना कबीर का साध्य अथवा लक्ष्य कभी नहीं रहा फिर भी अपने महान् नीति व जीवन-मूल्यपरक सन्देशों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने काव्य को माध्यम बनाया। रहस्यवादी सन्त और आध्यात्मिक गुरु होने के साथ-साथ कबीर हिन्दी साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में एक नीतिकवि के रूप में भी ख्यातिलब्ध एवं प्रतिष्ठित हैं।

2.1.3. कबीर का युगबोध एवं मानव-दर्शन

मानव-धर्म कबीर के युगबोध का एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ है। समकालीन परिवेश में नैतिक मानवीय मूल्यों का क्षरण तीव्रता से हो रहा है। इस विषाक्त प्रभाव को नष्ट करने के लिए कबीर की नीतिपरक अमृतवाणी की आवश्यकता बराबर अनुभव की जाती है। आज समाज में जो विशृंखलताएँ दिखाई दे रही हैं, लोग जिस दूषित परिवेश में जीवनयापन करने को विवश हैं उसमें कबीर की नीतिपरक रचनाएँ प्रभावी भूमिका का निर्वाह कर सकती हैं। इस रूप में कबीरवाणी कालजयी प्रतीत होती है।

कबीर का समग्र व्यक्तित्व बाहरी परिस्थितियों व उनकी आन्तरिकता के द्वन्द्व से निर्मित हुआ है। परिस्थितियों के कुछ ठोस प्रसंग होते हैं। उनमें धर्म, समाज, राजनीति, जीवन की समझ प्रभावकारी होती है। जब धर्म में अनुकरण की प्रवृत्ति पैदा हो जाती है तब धर्म नष्ट हो जाता है और केवल अनुकरण मौजूद रहता है। धर्म के वास्तविक स्वरूप की खोज कबीर के जीवन का लक्ष्य है। यह खोज उनकी युगीनचेतना की परिचायक है। उनकी धर्मसम्बन्धी चिन्ता मात्र सामयिक चिन्ता नहीं है अपितु उस चिन्ता का सम्बन्ध मनुष्य की सोच और

उसकी उन बुनियादी समस्याओं से है जो इतिहास के पन्नों के साथ पलटती नहीं हैं; हर युग, हर काल में मौजूद रहती हैं।

ऐसा समाज, जिसका जीवन झूठ पर आधारित हो और जहाँ जीवन-मूल्य व उसकी वास्तविक चेतना लुप्त हो गई हो, उस समाज का जीवन के प्रति क्या दृष्टिकोण हो सकता है ! यह एक विचार बिन्दु है जहाँ कबीर खड़े हैं। उनके समय में जीवन के प्रति दृष्टिकोण की कोई रूपरेखा दिखाई नहीं देती। शायद 'जीव की तरह जीवन' की प्रवृत्ति तत्युगीन समाज और धर्म में प्रबल थी। कहना गलत न होगा कि जीवन में नैतिक-मूल्यों की भयावह अनुपस्थिति कबीर के समय में दिखाई देती है। वहाँ कोई जीवन-मूल्य नहीं है केवल भोग-विलास ही जीवन का लक्ष्य है। उनकी रचनाओं से ही अनुमान होता है कि तत्युगीन समाज भोग-विलास में डूबकर जीवन के मूल लक्ष्य से बेसुध था। इसीलिए तो वे बार-बार शरीर और जीवन की नश्वरता की बात करते हैं। उनके वचनों में यह चेतावनी बार-बार सुनाई देती है –

रहना नहीं देस विराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूँद पड़े गल जाना है।

कबीर प्रश्नाकुलता के कवि हैं। वे आक्रामक सवाल उठाते हैं। उनकी वास्तविक चिन्ता सवालों के पहचान की चिन्ता है। कबीर की प्रश्नाकुलता और उनके चिन्तन की पृष्ठभूमि मानवीय और सामाजिक है। उनकी सामाजिक मानवीय चेतना के जितने भी सन्दर्भ बनते हैं उसके भीतर कहीं-न-कहीं विद्रोह की पृष्ठभूमि मौजूद है। इसलिए कबीर सवालों के आक्रमण से सामाजिक संरचना की चूलें हिला देते हैं। सामाजिक संरचना के ढाँचे को को सवालों के माध्यम से क्षतिग्रस्त करते हैं। मानवीय एकता की खोज कबीर के मानव जीवन-दर्शन का बहुत बड़ा पक्ष है। इस आलोक में वे सबसे पहले मानवीय एकता के विरोध की स्थितियों को पहचानने की कोशिश करते हैं। मानवीय एकता के मार्ग में कठिनाई कहाँ है, यहीं से उनका चिन्तन शुरू होता है। वे अपने दर्शन में मानवीय एकता की आधारभूत बाधाओं में सबसे पहले धर्म की चर्चा करते हैं फिर वर्ण-व्यवस्था की चर्चा करते हैं। उनके अनुसार मानवीय एकता तब तक स्थापित नहीं हो सकती जब तक कि आध्यात्मिक और सामाजिक आधार पर सारे भेद समाप्त नहीं हो जाते।

कबीर का जीवन-दर्शन मानवता की खोज के लिए प्रतिबद्ध है। यह खोज संघर्ष के माध्यम से उनके नीतिकाव्य में अभिव्यक्ति पाती है। उनकी कविता उपलब्धि की कविता नहीं है प्रत्युत वह खोज की कविता है, नीति व जीवन-मूल्य की कविता है और इसी से वह अर्थवान् और सार्थक है। कबीर के जीवन-दर्शन में वैष्णव भाव सहज ही अनुभूत है। वैष्णवता केवल दर्शन नहीं है बल्कि वह जीने का एक तरीका है। वैष्णवता जानकारी से नहीं, जीने की प्रक्रिया से निर्मित होती है। इस आलोक में नरसी मेहता का पद स्मरणीय है – "वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड पराई जाणे रे।" वस्तुतः वैष्णवता का केन्द्र व्यक्ति का आचरण और उसका व्यवहार है। समूचे मध्यकाल में कबीर आचरण को अन्तिम प्रमाण के रूप में देखते हैं। अर्थ शब्द में नहीं होता, अर्थ आचरण से आता है। कबीर अपनी समूची अक्खड़ता और आक्रामकता के बावजूद अगर सन्त हैं तो इसलिए कि उनका पूरा

व्यक्तित्व एक नारियल की तरह है। बाहर से बहुत कठोर लेकिन भीतर अत्यन्त कोमल जहाँ निर्मल-मधुर जल भरा हुआ है। जब कबीर कहते हैं –

सुखिया सब संसार है खावै अरु सोवै।
दुखिया दास कबीर है जागे अरु रोवै॥

तब वे महसूस कर रहे होते हैं कि लोग किस हद तक आत्मलिप्त और जैविक सुविधाओं से ग्रस्त हैं जबकि इन सुख-सुविधाओं का कोई अर्थ नहीं है। इसलिए कबीर की पीड़ा स्वयं की वजह से नहीं है, दूसरों की वजह से है, दूसरों के लिए है। कबीर की नीति व उनका पूरा जीवन-दर्शन बृहतर मानव समाज के लिए है।

2.1.4. कबीर का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

कबीर की भक्ति और नीति को अलग-अलग करके नहीं समझा जा सकता है। उनके व्यक्तित्व में भक्ति और नीति, दोनों समेकित हो जाते हैं। उनके यहाँ नीति मनुष्य के होने की प्रक्रिया के साथ जुड़ी हुई है और भक्ति को वे उसकी सामाजिक और मानवीय भूमिकाओं में ग्रहण करते हैं। कबीर का नीतिकाव्य त्रिआयामी है – पहला, उनकी नीति सत्य के साथ भावात्मक स्तर पर सम्पृक्त होने का भाव है; दूसरा, वह व्यक्ति की चेतना को जाग्रत् करती है, इसलिए उनकी नीति में अन्धानुकरण का भाव कहीं नहीं है तथा उसमें किसी प्रकार का अन्धविश्वास और बाह्याचार का समावेश नहीं है तथा तीसरा, उनके नीतिकाव्य में कहीं-न-कहीं जीवन की क्षुद्रता और लघुता से मुक्त होने और विराट् से सम्पृक्त होने की एक भावात्मक प्रक्रिया विद्यमान है।

2.1.4.1. वैयक्तिक नीति

यदि समाज को उदात्त, महान् और गौरवशाली बनना है तो व्यक्ति को नैतिक और चरित्रवान् बनना होगा। कबीर ने अपनी 'साखी' के माध्यम से वैयक्तिक नैतिकता के विकास पर अधिक बल दिया है। कबीर के अनुसार संयमित जीवन ही उचित है। न तो अधिक बोलना अच्छा है, न ही ज़रूरत के वक़्त चुप रहना ही ठीक है –

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥

समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता इसलिए व्यक्ति को समय की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। बाल्यकाल खेलकूद में खो दिया। लड़कपन दुनियादारी सीखने में बीत गया। युवावस्था अपने और परिवारजनों की व्यवस्था करने में व्यतीत हो गया। अब देखते ही देखते बुढ़ापा दौड़ आया है। बचपन से बुढ़ापे तक बाकी सारे काम किए लेकिन 'उस जीवन देने वाले को' याद करने का समय न मिला। अब बुढ़ापे में शरीर अशक्त हो गया, स्मृति जाती रही, चेतना विलुप्त हो गई। अब चाहकर भी उसका नाम-स्मरण नहीं हो पाता –

आछे दिन पाछे गए, हरि से किया न हेत।

अब पछताए होत क्या, चिड़िया चुग गई खेत ॥

आत्मावलोकन की प्रवृत्ति व्यक्ति को आलोकित करती है। अपनी बुराई को नज़रअंदाज करने की प्रवृत्ति में हम दूसरों की बुराई पर नज़र रखते हैं, पर अपने आप को नहीं देखते –

बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलिया कोय।
जो दिल खोजा आपना, मुझ-सा बुरा न कोय॥

* * *

दोस पराए देखि करि, चला हसन्त हसन्त।
अपने याद न आवई, जिनका आदि न अन्त॥

वाणी का जीवन में बहुत महत्त्व है। "बातन हाथी पाइए बातन हाथी पाँव" उसी वाणी का समुचित उपयोग कर एक व्यक्ति पुरस्कारस्वरूप हाथी प्राप्त कर लेता है जबकि उसी वाणी से कटु, अप्रिय और असभ्य शब्दों का प्रयोग कर अन्य व्यक्ति हाथी के पाँवों के नीचे कुचले जाने का दण्ड प्राप्त करता है। इसलिए व्यक्ति को हमेशा सोच-समझकर बोलना चाहिए –

बोली एक अनमोल है, जो कोई बोलै जानि।
हिये तराजू तौलि के, तब मुख बाहर आनि॥

परोपकार मानवता का परम लक्ष्य है। स्वार्थी व्यक्ति चाहे जितना धन, पद, ऐश्वर्य प्राप्त कर ले किन्तु यदि उसमें किसी को सुख देने का भाव नहीं है तो उसका समृद्ध होना व्यर्थ है –

बड़ा हुआ तो क्या हुआ, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर॥

जीवन के दिन सीमित हैं जबकि दुनिया के लोगों की संख्या उसकी तुलना में बहुत ज़्यादा है। व्यक्ति की पहचान पहली बार में ही हो जाती है। यदि पहली बार में ही उसने कृतघ्नता, दुष्टता, हिंसक, व्यभिचारी और स्वार्थी होने का प्रमाण दे दिया है तो उसे बार-बार परखने की आवश्यकता नहीं है। एक ही व्यक्ति को बार-बार परखने में सिर्फ़ समय जाया होता है –

एक ही बार परखिये, ना वा बारम्बार।
बालू तो हू किरकिरी, जो छानै सौ बार॥

नये सम्बन्धों का बनना, पुरानों का बिछड़ना यह जीवन की रीति है। व्यक्ति को मोह-माया से परे रहकर हर परिस्थिति में अपना स्वरूप संजोए रखना चाहिए और अपने कर्त्तव्य-कर्म को कड़ी मेहनत और पूरी ईमानदारी से निभाना चाहिए –

जाता है सो जाण दे, तेरी दसा न जाइ।
खेवटिया की नांव ज्यूं घने मिलेंगे आइ॥

2.1.4.2. सामाजिक नीति

कबीर का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब समाज अनेक विभीषिकाओं से पीड़ित था। छूआछूत, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और मिथ्याचार का सर्वत्र बोलबाला था। धार्मिक पाखण्ड अपनी चरम सीमा पर था। चूँकि, कबीर भक्त और कवि बाद में हैं, समाजसुधारक पहले हैं अतः उनकी कविता का मुख्य उद्देश्य जनता को नीतिसम्मत उपदेश देना और उसे सही रास्ता दिखाना है। यही कारण है कि कबीर के काव्य में अनुभूति की सच्चाई और अभिव्यक्ति की ईमानदारी विद्यमान है। कबीर ने समाज में व्याप्त जाति, छूआछूत एवं ऊँच-नीच की भावना पर प्रहार करते हुए कहा कि जन्म के आधार पर कोई कुलीन और श्रेष्ठ नहीं होता अपितु श्रेष्ठ वह है जिसके कर्म अच्छे हैं –

ऊँचे कुल का जनमिया, करनी ऊँच न होय।
सुबरन कलस सुरा भरा, साधू निन्दत सोय॥

सज्जनों की जाति महत्त्वपूर्ण नहीं होती बल्कि उनका ज्ञानी होना महत्त्व रखता है। इसलिए उनकी सज्जन की जाति पर विचार न कर उनके ज्ञान को समझना चाहिए। सच्चा साधु सब प्रकार के भेदभावों से ऊपर है –

जाति न पूछो साधू की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार को, पड़ा रहन दो म्यान॥

अहंकार व्यक्ति-उत्थान में सबसे बड़ा बाधक है। व्यक्ति को अपना सर्वस्व अहंकार त्याग कर छोटे-बड़े का विचार न करते हुए अच्छी संगति ग्रहण करनी चाहिए। दम्भी व्यक्ति अपने दम्भ में फूला-फूला फिरता है और रीता ही रह जाता है –

कबीर चन्दन के निडै, नींव भी चन्दन होइ।
बूड़ा बंस बड़ाइता, यों जनी बूड़े कोइ॥

व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार ही फल का भागी होता है इसलिए उसे बहुत सोच-समझ कर उचित कर्म में ही प्रवृत्त चाहिए। अनुचित कर्मों का परिणाम तो दुःखदायी होना निश्चित है। कार्य करने के बाद पछताना व्यर्थ है –

करता था तो क्यूँ रह्या, जब करि क्यूँ पछिताय।
बोये पेड़ बबूल का, अम्ब कहाँ ते खाय॥

व्यक्ति का सामान्य स्वभाव है कि वह अपने अस्तित्व के प्रति अहंकारी हो जाता है। बार-बार समझाने पर भी मन अहंकार की प्रवृत्ति से मुक्त नहीं हो पाता। कबीर सावधान करते हैं कि जितना शीघ्र सम्भव हो इस नाशमूलक वृत्ति को मन से पूरी तरह विनष्ट कर देना ही हितकारी है –

मैं मैं बड़ी बलाय है, सकै तो निकसी भागि।
कब लग राखौं हे सखी, रूई लपेटी आगि॥

व्यक्ति जैसी संगति करता है उसका चित्त वैसा ही हो जाता है। सज्जनों की संगति से जीवन का कल्याण हो जाता है, विद्वज्जनों का सामीप्य जड़ता समाप्त कर देता है जबकि दुष्ट का साथ करने से व्यक्ति का मन पापमय और कलुषित हो जाता है –

मूरख संग न कीजिए, लोहा जल न तिराई।
कदली सीप भावन मुख, एक बूँद तिहूँ भाई॥

यह विचारणीय प्रश्न है कि जीवन-उन्नयन में कौन अधिक सहयोगी है ! क्या मित्र और शुभचिन्तक ! अथवा निन्दक ! कबीर यथार्थवादी कवि हैं। वे जो भी बात करते हैं वह जीवनानुभूति पर आधारित होती है। यथार्थ जीवन में प्रायः यही देखने में आता है कि स्वजनों, बन्धु-बान्धवों, मित्रों-परिचितों की प्रशंसा, मान, बड़ाई साधक में वह उत्साह, तत्परता और सावधानी जाग्रत् नहीं कर पाती जो निन्दक की टिप्पणी कर देती है। कई बार तो साधक के कार्य के निर्दोष और ससमय सम्पन्न होने में भी उस निन्दक का ही परोक्ष योगदान होता है क्योंकि साधक अपने कार्य की गुणवत्ता और अवधि को निन्दक की दृष्टि से जाँचता रहता है। ऐसे में जहाँ कहीं कुछ कमी रह भी जाती है तो निन्दक उस कमी का अन्वेषण कर उसका उल्लेख कर उसे सुधारने का अवसर प्रदान करता है। इस रूप में निन्दक बिना शुल्क का परीक्षक सिद्ध होता है जो अपना समय और श्रम व्यय कर साधक का कार्य निर्दोष करवाता है। कबीर साधक के स्वभाव को निष्पाप करने में निन्दक का बड़ा योगदान मानते हैं –

निन्दक नियरे राखिए, आँगन कुटी छवाय।
बिन पानी, साबुन बिना, निर्मल करे सुभाय॥

संसार में प्रत्येक व्यक्ति को समान सम्मान देना चाहिए। किसी को भी छोटा या बड़ा करके नहीं आँकना चाहिए। कभी-कभी निर्बल और कमजोर दिखने वाले प्राणी और पदार्थ भी बलशाली और सामर्थ्यवान् व्यक्तियों के लिए घातक सिद्ध होते हैं –

तिनका कबहुँ ना निन्दिये, जो पाँवन तर होय।
कबहुँ उड़ी आंखिन पड़े, तो पीर घनेरी होय॥

मनुष्य जन्म दुर्लभ है। चौरासी लाख योनियों का चक्र पूर्ण होने पर यह अवसर प्राप्त होता है। आत्मा का मूल लक्ष्य परमात्म-तत्त्व का साक्षात्कार है। चूँकि चौरासी लाख योनियों में केवल मनुष्य योनि ही विवेकसम्पन्न

होती है अतः आत्मा केवल मानव देह पाकर ही अपने मूल लक्ष्य परमात्म-तत्त्व को प्राप्त कर सकती है। किन्तु अत्यन्त दुःखद स्थिति है कि व्यक्ति इस दुर्लभ मनुष्य जीवन का मूल लक्ष्य भोग-विलास और सुखोपभोग समझ बैठा है। जीवन के दिन सीमित हैं जबकि वह इस अमूल्य समय को भौतिक संसाधन जुटाने और उनका उपभोग करने में गँवा रहा है –

रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय॥

प्रेम एक गहन सघन भावना है। वह खरीदी-बेचे जाने वाली वस्तु नहीं है और न ही उसे खेत या बाग में उपजाया जा सकता है। प्रेम धनी-निर्धन का भेद भी नहीं करता। प्रेम का एक ही मूल्य है अपना अहंकार नष्ट कर सर्वस्व समर्पण। बिना त्याग और बलिदान के प्रेम नहीं पाया जा सकता –

प्रेम न बाड़ी उपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जेहि रुचै, सीस देइ ले जाय॥

2.1.4.3. अर्थ नीति

संसार में अर्थ (धन) का महत्त्व प्रकट है। धनाभाव में जीवन जीना कठिन है। धन की महत्ता स्वीकारते हुए भारतीय संस्कृति में धन का अभाव, धन की तृष्णा और धन का अभिमान, तीनों रूपों की निन्दा की गई है। कबीर कहते हैं कि यह सांसारिक धन लोक में ही रह जाना है। यदि संग्रह ही करना है तो राम-नाम रूपी धन का करो जो देहत्याग के बाद भी काम आए। देह-त्याग के समय किसी को लौकिक धन की गठरी बाँधकर ले जाते तो आज तक नहीं देखा –

कबीर सो धन संचिए, जो आगे कूँ होइ।
सीस चढ़ाए पोटली, ले जात न देख्या कोइ॥

अपने धन, वैभव, ऐश्वर्य, सम्पदा पर अभिमान करना व्यर्थ है। न तो ये सुख सदा स्थायी रहने वाले हैं और न ही इन पर अहंकार करने वाला व्यक्ति ही। अतः मिथ्या दर्प त्याग कर मूल तत्त्व की पहचान करने का उद्यम करना चाहिए –

कबीर कहा गरबियौ, ऊँचे देखि आवास।
काल्हि पर्‌यौ भू लेटना, ऊपरि जामे घास॥

धन संचय की तीव्र लालसा ने व्यक्ति को अन्धा कर दिया है। माया के आवरण ने मनुष्य को ऐसे भुलावे में धकेल दिया है कि वह निरन्तर क्षीण होते शरीर से भी बेखबर हो गया है। देखते-बूझते भी वह सावधान नहीं हो रहा है कि जैसा वह कल था आज वह वैसा नहीं है और जैसा आज है वैसा कल नहीं रहेगा। लगातार नाशवान हो रही देह की प्रकृति को वह क्यों नहीं समझ पा रहा है ! यह धन-सम्पत्ति देह के साथ यहीं छूट जाने वाली है। जो

अमूल्य वस्तु इस आत्मा के साथ जाएगी वह मनुष्य के सुकृत्य हैं अतः बजाय धन जोड़ने के सार्थक कार्य करने चाहिए –

कबीर यह तनु जात है, सकै तो लेहू बहोरि।
नंगे हाथूँ ते गए, जिनके लाख करोड़ि॥

अर्थाभाव, अर्थाभिमान और अर्थाकांक्षा के बीच कबीर संयमित जीवन व्यवहारकी अनुशंसा करते हैं। अपरिग्रह और संतोष का भाव रखते हुए वे सीमित संसाधनों में प्रसन्न रहने का उपदेश करते हैं–

साँई इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय॥

2.1.4.4. धार्मिक नीति

धार्मिक मामलों में कबीर प्रगतिशील चेतनासम्पन्न एक विद्रोही कवि प्रतीत होते हैं। धर्म के क्षेत्र में व्याप्त पाखण्ड, कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों की उन्होंने मुखर आलोचना की है। वस्तुतः कबीर लीक से हटकर ऐसे कवि हैं जिन्होंने तत्युगीन धार्मिक व्यवहार में व्याप्त विसंगतियों, आडम्बरों एवं अनीतिपूर्ण आचरण पर खुलकर प्रहार किया है। उल्लेखनीय है कि समूचा मध्यकाल अन्धविश्वासों, पाखण्डों, रूढ़ियों एवं बाह्याडम्बरों में बुरी तरह जकड़ा हुआ था। मुल्ला और पण्डित, दोनों अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए भोली-भाली जनता को बरगला कर धार्मिक उन्माद को बढ़ावा देते थे। कबीर उनके इस दुष्कृत्य से भली-भाँति परिचित थे इसलिए क्षुब्ध होकर जनता को साफ-साफ शब्दों में चेतावनी देते हैं –

हिन्दू-तुरक की एक राह है, सद्गुरु इहै बताई।

वह परम तत्त्व बाह्याचरणों से प्राप्त नहीं हो सकता। मूर्तिपूजा, तीर्थाटन और कठिन साधनाएँ व्यर्थ साधन हैं। संसार उस हृदयस्थ परमात्मा को बाहर के विधि-विधानों और स्थानों में खोजकर कर अपने जीवन को व्यर्थ कर रहा है –

देव पूजि पूजि हिन्दू मुए, तुरक मुए हज जाई।
जटा बाँधि- बाँधि योगी मुए, इनमें किन हूँ न पाई॥

कबीर के समय में धार्मिक व्यवस्था उन्मादकारी हो चुकी थी। मूल मर्म को भूलकर लोग धर्म, जाति, वर्ग, सम्प्रदाय, क्षेत्र के अनुसार बँट गए थे। धर्म के ठेकेदारों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच की खाई इतनी गहरी कर दी थी कि मेल-मिलाप की कोई गुंजाइश ही शेष न रही। पारस्परिक द्वैष इतना फैल गया था कि अन्य धर्मावलम्बियों के जीवन को नष्ट करना ही अपना कर्त्तव्य समझने लगे थे –

हिन्दू कहे मोहि राम प्यारा, तुर्क कहें रहमाना।

आपस में दोउ लड़ी-लड़ी मुए, मरम न कोउ जाना ॥

अहंकार, विषय-वासनाएँ और विकार कलुषित वृत्तियाँ हैं जब तक मन पर इनका आधिक्य रहता है तब तक वहाँ ईश्वर-प्रेम का प्रस्फुटन नहीं हो सकता। जब साधक दृढ़तापूर्वक इन कुवृत्तियों को विनष्ट कर अपने हृदय को भक्तिभाव से सिक्त कर लेता है फिर भक्ति के प्राबल्य से मन पुनः इन कलुषित वृत्तियों में आसक्त नहीं होता। साधक को एक बार जब ईश्वर का साक्षात्कार हो जाता है और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है तब अन्य समस्त सुख मिथ्या सिद्ध हो जाते हैं। ईश्वर की विराट् सत्ता का बोध होने से अपना अहंकार स्वतः ही नष्ट हो जाता है। प्रेम में द्वैत भाव नहीं हो सकता। प्रेम की सँकरी-पतली गली में एक ही समा सकता है – अहम् या परम। परम की प्राप्ति के लिए अपने अहम् का विसर्जन आवश्यक है –

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाँहि।
सब अंधियारा मिट गया, दीपक देख्या माँहि ॥

कबीर स्वयं कर्मशील थे और दूसरों को भी कर्मण्य होने को प्रेरित करते हैं। वे मूर्तिपूजा, धार्मिक कर्मकाण्डों व बाह्याडम्बरों का प्रबल विरोध करते हैं –

पाहन पूजे हरि मिले, तो मैं पूजूँ पहाड़।
ताते या चाकी भली, पीस खाए संसार॥

कबीर-काव्य में धार्मिक नीति केवल सामयिक चिन्तन नहीं है अपितु उस चेतना का सम्बन्ध प्रत्येक युग के मनुष्य की उन बुनियादी समस्याओं से है जो इतिहास के पन्नों के साथ पलटती नहीं हैं प्रत्युत प्रत्येक युग में मौजूद रहती हैं। कबीर मानवीय धर्म की पुनर्स्थापना की कोशिश करते हैं। धर्म-स्थापना से कबीर का आशय है – सामाजिक ऐक्य की स्थापना, जिसमें मानवीयता को महत्त्व दिया जाए; जिसमें मनुष्य मात्र का सम्मान हो; जिसमें धर्मगत, जातिगत, वर्गगत, सम्प्रदायगत, क्षेत्रगत भेद मिटें; जिसमें मनुष्य को स्वयं को धार्मिक सिद्ध करने की ज़रूरत न पड़े; जिसमें मानवीय-मूल्य और नीतिपरक जीवन को आदर्श समझा जाए; जिसमें तीर्थाटन, पर्व-स्नान, रोजा-व्रत, पूजा-पाठ, उपवास और मन्दिर-मस्जिद सबको सिरे से नकारा जाए; जिसमें मानव का मानव से प्रेम और भाईचारा हो तथा जिसमें आत्म-साक्षात्कार द्वारा परमतत्त्व को साधने की कोशिश की जाए।

2.1.4.5. आध्यात्मिक नीति

कबीर के व्यक्तित्व और साधना एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है – 'आध्यात्मिक चेतना', जहाँ वे स्वयं को आध्यात्मिक अनुभवों की दुनिया से जोड़ते हैं। कबीर की आध्यात्मिक चेतना भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से मानवीय चेतना के निहितार्थ ही अभिव्यक्त हुई है। प्रतीकात्मकता उनकी काव्य-कला का सौन्दर्य है। प्रतीक व्यावहारिक जीवन से उपलब्ध होने वाले अनुभव के आलोक में आध्यात्मिक अनुभव को प्रकट करने वाली एक पद्धति है। इसी प्रतीकात्मकता के कारण उनकी आध्यात्मिक नीति की अभिव्यक्ति भी सामान्य भाषा में सम्भव

नहीं है। अपने इसी अभिव्यक्त्यात्मक वैशिष्ट्य के साथ कबीर मानव मात्र को इस जगत् और मनुष्य देह की नश्वरता के प्रति सचेत करते हैं –

जो उग्या सो अन्तबै, फूल्या सो कुमलाहि।
जो चिनिया सो ढही पड़े, जो आया सो जाहि॥

इन्द्रियासक्त होकर विषय-सुख में प्रवृत्त मनुष्यों को सावधान करते हैं कि काल प्रतिक्षण द्रुत गति से बढ़ा चला आ रहा है। इस सत्य का विचार कर सुकृत्यों में मन लगाना और उसी में आनन्द मनाना उचित है –

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
खलक चबैना काल का, कुछ मुँह में कुछ गोद॥

सत्य, नित्य, शाश्वत केवल वह ईश्वर है। माया के आवरण से आच्छन्न यह सम्पूर्ण जगत् और समस्त जागतिक वस्तुएँ नश्वर हैं। इनमें आसक्ति रखना मूढ़ता है –

हाड़ जले लकड़ी जले, जले जलावन हार।
कौतिक हारा भी जले, कासों करूँ पुकार॥

संगति की महिमा प्रायः सभी नीतिकवियों ने एक स्वर से स्वीकार की है। मनुष्य जैसा संग करता है उसकी आसक्ति वैसी ही वस्तुओं में हो जाती है। तब अन्य पदार्थों में उसका मन नहीं लगता। सत्पुरुषों का संग उसे सद्गति की प्राप्ति कराता है जबकि दुर्जनों का साथ उसे पतनोन्मुखी बनाता है –

कबीर तन पंछी भया, जहाँ मन तहाँ उड़ि जाइ।
जो जैसी संगति करै, तैसा ही फल पाइ॥

कबीर अज्ञानता की घोर निन्दा करते हैं। वे अज्ञान की नींद में सोये मनुष्यों को सचेत करते हैं। जो जागे हुए मनुष्यों में भी जाग जाए अर्थात् विषय-वासनाओं और विकारों की तन्द्रा को त्याग कर सुकृत्य और नाम-स्मरण में प्रवृत्त हो जाए उसी का जागना सही अर्थों में जागना है। तत्त्वज्ञान की प्राप्ति कर नाम-स्मरण और सुकृत्यों में अनुरक्ति ही सच्चा जागरण है।

मानव शरीर नश्वर है। जब खूब प्रयत्न और मेहनत करके उसे सजाते-सँवारते हैं तब उसकी क्षणभंगुरता को भूल जाते हैं। लेकिन सत्य तो यह है कि यह देह किसी कच्चे खिलौने की तरह टूट-फूट जाती है और वह भी अचानक ऐसे कि जान भी नहीं पाते –

कबीर मंदिर लाख का, जड़ियाँ हीरे लालि।
दिवस चारि का पेषणा, बिनस जाएगा कालि॥

इस नाशवान् जगत् में न कोई अपना है और न ही हम किसी के। जैसे एक नाव के नदी पार पहुँचने पर उसमें मिलकर बैठे हुए सब यात्री बिछुड़ जाते हैं ठीक वैसे ही हम सब मिलकर बिछुड़ने वाले हैं। सब सांसारिक सम्बन्ध यहीं छूट जाने वाले हैं –

कबीर हमारा कोई नहीं, हम काहू के नाहिं।
पारै पहुँचै नाव ज्यौंई, मिलिके बिछुरी जाहिं॥

मानव-जीवन की नौका टूटी-फूटी और जर्जर है तथा उसे खेने वाले झूठे (आभासी) हैं। जिनके सर पर विषय-वासनाओं का बोझ है, वे तो संसार में डूब जाते हैं, संसारी होकर रह जाते हैं तथा दुनिया के धन्धों से उबर नहीं पाते और उसी में उलझकर रह जाते हैं लेकिन जो इनसे मुक्त हैं, हल्के हैं, वे तर जाते हैं, पार लग जाते हैं, भवसागर में डूबने से बच जाते हैं –

कबीर नाव जर्जरी, कूड़े खेवनहार।
हलके हलके तिरि गए, बूड़े तिनि सर भार॥

यह संसार काजल की कोठरी है, इसके कर्म रूपी कपाट कालिमा के ही बने हुए हैं। पण्डितों ने पृथ्वी पर पत्थर की मूर्तियाँ स्थापित करके मार्ग का निर्माण किया है –

काजल केरि कोठरी, मसि के कर्म कपाट।
पांहिन बोई पृथमीं, पण्डित पाड़ी बात॥

कितने आश्चर्य की बात है कि शरीर नश्वर है और मन चंचल है फिर भी मनुष्य बेधड़क होकर सांसारिक कर्मों में ऐसा निरत है कि जैसे उसे हमेशा के लिए यहाँ इसी रूप में स्थित रहना है। मनुष्य को यह मूर्खतापूर्ण कर्म करते देखकर मृत्यु अट्टहास करती है–

काची काया मन अथिर, थिर थिर काम करन्त।
ज्यूँ ज्यूँ नर निधड़क फिरै, त्यूँ त्यूँ काल हसन्त॥

2.1.4.6. सांस्कृतिक नीति

संस्कृति वह माध्यम है जिसके द्वारा मानव भौतिक उन्नति के लिए संस्कार सक्षम होता है। संस्कृति उसका अन्तःसंस्कार भी करती है। संस्कृति का एक छोर जहाँ मानव की अभिव्यक्ति और चेतना से जुड़ा हुआ है, वहीं दूसरी ओर वह उसकी अस्मिता को समाजोन्मुखी बनाता है। कबीर ने व्यक्तिगत जीवन को औदात्यपूर्ण बनाने की चेष्टा तो की ही है, साथ-ही-साथ सामूहिक जीवन को भी संस्कारवान् बनाने का उनका प्रयास उनके काव्य को अधिक मनोज्ञ बनाता है। आत्मविश्वास, सहजता, क्षमा, विनय, प्रेम, त्याग, दया, करुणा, मैत्री आदि कबीर के हृदय की ऐसी वृत्तियाँ हैं जो संस्कृति की मोहक व्याख्या प्रस्तुत करती हैं।

2.1.5. कबीर का नीतिकाव्य और सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

चेतना, अनुभूति व नीति के सम्मिश्रण की सहज अभिव्यक्ति ही लोककल्याण के निमित्त सन्तकाव्य-परम्परा में अभिव्यक्त हुई है। कविता सन्तकवियों का लक्ष्य नहीं थी। वस्तुतः सन्तकवि प्रचलित अर्थों में रचनाकार नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सम्भवतः इसीलिए मार्मिकता की दृष्टि से सन्तकाव्य को महत्त्व नहीं दिया। लेकिन बाद में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सन्तकाव्य-परम्परा की अनुभूतियों एवं उसके महत्त्व का उद्घाटन किया। उनके अनुसार अपने प्रभावात्मक रूप में सन्तकाव्य अनुभूति की उस गहराइयों तक पहुँचती है जहाँ तक पहुँचना किसी भी महान् काव्य-परम्परा का लक्ष्य हो सकता है। इस सम्बन्ध में डॉ॰ बालकृष्ण का मत उल्लेखनीय है – "सन्तकाव्य में नीति, अध्यात्म तथा दर्शन की वह पुनीत त्रिपथगा तरंगायित है जो व्यक्तिगत धर्मसाधना तथा समाजसुधार के कगारों से बहती हुई निर्भय खण्डन-मण्डन के औघट घाटों से मार्ग बनाकर जहाँ दिव्य जीवन-चरित्र को अभिसिंचित करती है, वहीं सामाजिक बाह्याचारों, धार्मिक पाखण्डों तथा शास्त्रीय विद्रूपताओं को गला-बहाकर नष्ट भी कर देती है।"

काव्य-संगठन के प्रति उदासीनता कबीर की रचनाओं में सर्वत्र दिखाई देती है। कविता के पारम्परिक प्रतिमानों की कसौटी पर कबीर का काव्य खरा नहीं उतरता तथापि अनगढ़ता कबीर के काव्य की एक खास पहचान है। कबीर के काव्य का सौन्दर्यपक्ष बहुत उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता है लेकिन उनकी कविता ने जिन मानवीय, सामाजिक व नैतिक मूल्यों पर बल दिया, वे मूल्य आगे चलकर भारतीय संस्कृति की आधारभूत पहचान बने। इतिहास के उस मोड़ पर जहाँ बाह्याडम्बरों और अन्धविश्वासों के असह्य कोलाहल में जीवन-मूल्य व नीति की चेतना विलुप्त हो रही थी वहाँ कबीर ने ईमानदारी से मानवीय जीवन-मूल्य और नैतिक आचरणों की एक साथ रक्षा की है।

2.1.6. पाठ सार

कबीर का काव्य नैतिक मूल्यों का एक समूह है जिसके अनुसरण द्वारा जीवन की सार्थकता और पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है तथा सामाजिक समरसता और मानवीय सम्मान की पुनर्स्थापना की जा सकती है। कबीर के काव्य की नीतिपरकता की एक दिशा यदि व्यक्ति की निजी पूर्णता की ओर जाती है तो दूसरी ओर वहाँ गहरी सामाजिक व मानवीय भूमिका भी सहज ही अनुभूत है। वस्तुतः कबीर का नीतिकाव्य वैयक्तिता और सामाजिकता, लौकिकता और अलौकिकता के बीच एक सेतु है। कबीर-काव्य दृढ़ता से इस तथ्य का आग्रही है कि नैतिक जीवन-मूल्यों को अपनाकर ही एक सन्तुलित जीवन का विकास सम्भव है। नीति का एक किनारा व्यक्ति है तो दूसरा किनारा समाज।

2.1.7. कठिन शब्दावली

भावन	:	साँप
कदली	:	केला

पाहन	:	पत्थर
काया	:	शरीर
अस्मिता	:	पहचान
हिरदै	:	हृदय

2.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. दास, डॉ॰ श्यामसुन्दर, कबीर ग्रन्थावली, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
2. रघुवंश, कबीर : एक नयी दृष्टि, लोकभारती, प्रकाशन, इलाहाबाद.
3. राजकिशोर, कबीर की खोज, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. सिंह, डॉ॰ वासुदेव, कबीर, अभिव्यक्ति प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. स्नातक, विजयेन्द्र, कबीर, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. वर्मा, रामकुमार, कबीर : एक अनुशीलन, साहित्य भवन, इलाहाबाद.
8. जैन, रजनी, कबीर बीजक में विचार और काव्य, संजय बुक सेंटर, वाराणसी.

2.1.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. कबीर का व्यक्तित्व।
2. कबीर की रचनाएँ।
3. कबीर की आध्यात्मिक मूल्य-चेतना।
4. कबीर के काव्य में सामाजिक मूल्य-चेतना।
5. सन्तकाव्य-परम्परा के आलोक में कबीर।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "कबीर की काव्यदृष्टि नीतिपरक है जिसके द्वारा जीवन की सार्थकता और पूर्णता को उपलब्ध किया जा सकता है।" उक्त कथन की पुष्टि कीजिए।
2. "कबीर के नीतिकाव्य में भौतिक और आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों का अभूतपूर्व संयोजन हुआ है।" परीक्षण कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. कबीर का जन्म माना गया है –
   (क) 15वीं शताब्दी के आरम्भ में
   (ख) 15वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में
   (ग) 16वीं शताब्दी के आरम्भ में
   (घ) 16वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में

2. 'बीजक' किसकी रचना है ?
   (क) कबीर
   (ख) तुलसी
   (ग) नानक
   (घ) सुन्दरदास

3. "मसि कागद छुयौ नहीं, कलम गह्यौ नहिं हाथ" पंक्ति का सम्बन्ध किस कवि के साथ है–
   (क) रामविलास शर्मा
   (ख) अमृतराय
   (ग) विद्यानिवास मिश्र
   (घ) वीरेन्द्र सिंधु

4. कबीर ने मानव शरीर को माना है –
   (क) नश्वर
   (ख) दुर्लभ
   (ग) दोनों
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

5. कबीर ने जीवन में किसकी संगति का निषेध किया है ?
   (क) सन्तों की
   (ख) निन्दकों की
   (ग) दुष्टों की
   (घ) उपर्युक्त सभी की

❖❖❖

खण्ड – 2 : सन्त कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 2 : रज्जब के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

2.2.0. उद्देश्य कथन
2.2.1. प्रस्तावना
2.2.2. रज्जब : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  2.2.2.1. व्यक्तित्व
  2.2.2.2. कृतित्व
2.2.3. रज्जब का युगबोध एवं मानक्दर्शन
2.2.4. रज्जब का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  2.2.4.1. वैयक्तिक नीति
  2.2.4.2. सामाजिक नीति
  2.2.4.3. अर्थ नीति
  2.2.4.4. धार्मिक नीति
  2.2.4.5. आध्यात्मिक नीति
  2.2.4.6. सांस्कृतिक नीति
2.2.5. रज्जब का नीतिकाव्य और सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
2.2.6. पाठ सार
2.2.7. कठिन शब्दावली
2.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.2.9. बोध प्रश्न

2.2.0. उद्देश्य कथन

कबीरदास, सुन्दरदास, मलूकदास, रैदास, धर्मदास आदि कवियों के समान ही सन्तकवि रज्जब का महत्त्व भी निर्विवाद है। रज्जब ने भी सन्तकाव्य-परम्परा के अनुरूप ही सामाजिक चेतना का स्तुत्य प्रयास किया है। प्रस्तुत इकाई में नीति के विविध रूपों के प्रति सन्तकवि रज्जब के दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते उनके नीतिपरक अवदानों की विवेचना की गई है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सन्तकवि रज्जब के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को समझ सकेंगे।
ii. रज्जब का युगबोध व उनके मानव-दर्शन की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. रज्जब-नीतिकाव्य के विभिन्न पक्षों का अनुशीलन कर सकेंगे।
iv. सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना के आलोक में रज्जब के अवदानों को जान सकेंगे।

2.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाल को स्वर्णयुग कहा गया है। इस युग में साहित्य की विभिन्न धाराओं का प्रवाह निर्बाध रूप से प्रवाहित हुआ। भक्तिकाल में धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक अव्यवस्था और विसंगतियाँ व्याप्त थीं। अराजकता और विसंगतियों की भूमि पर ही सन्तकाव्य की रचना हुई है। सन्तों ने नर और नारायण की महिमा का अभूतपूर्व गान किया है। नैतिक जीवन-मूल्यों के निहितार्थ नर में नारायण की सत्ता का प्रतिपादन कर एक मायने में सन्तकवियों ने दोनों में एकरूपता स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। सन्तकाव्य-परम्परा के अभिनन्दनीय सन्तकवि रज्जब का चिन्तन एवं व्यवहार उनकी उदारचित्तता एवं भलमानुषता का परिचायक है। मानवीय एकता और सांस्कृतिक-उत्कृष्टता की स्थापना करने की दृष्टि से उनका व्यक्तित्व और उनकी बानी (वाणी) चिन्तन-मनन करने योग्य है।

2.2.2. रज्जब : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

हिन्दी नीतिकाव्य-परम्परा में रज्जब का योगदान विशिष्ट एवं गुणात्मक है। सन्तकवि रज्जब सच्चे अर्थों में लोककल्याण और जनजागरण क्रान्ति के अग्रदूत हैं। एक सच्चे समाजसुधारक के रूप में उन्होंने अवांछित और दमनकारी स्थितियों का डटकर सामना किया तथा अपनी अमृतवाणी द्वारा लोक को सत् एवं नैतिक मार्ग में प्रवृत्त करने का प्रयास किया। रज्जब ने सार्वभौमिक मानवत्व, विश्वबन्धुत्व एवं मानवीय एकता की एक ऐसी दृष्टि प्रदान की जिसके परिणामस्वरूप सोयी हुई जनचेतना फिर से जाग उठी और यही जनचेतना आगे चलकर सर्वग्राही होकर अराजकता, धार्मिक असहिष्णुता तथा जनजीवन की अनिश्चितता की भयावह स्थिति का अन्त करने में सहायक सिद्ध हुई। उनकी जनजागृति की भावना से अभिभूत होकर डॉ॰ ब्रजलाल शर्मा कहते हैं – "रज्जबदास जी वस्तुतः मध्ययुगीन महामानवों में से एक थे तथा उनकी स्वानुभूति पर आधारित विचारों द्वारा तत्कालीन भारतीय समाज में जागृति और नयी चेतना का संचार हुआ।"

2.2.2.1. व्यक्तित्व

मध्ययुगीन सन्तों के जन्म-समय के विषय में प्रायः विवाद रहा है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं – पहला, अधिकतर सन्त निरक्षर थे। और, दूसरा यह कि अपने विषय में उन्होंने स्वयं कुछ नहीं लिखा क्योंकि उनमें यश-प्राप्ति की आकांक्षा नहीं थी। सन्तकवियों के बारे में जो कुछ थोड़ा-बहुत लिखा मिलता है, उसका श्रेय उनके शिष्यों और अनुयायियों को जाता है। कबीर की भाँति सन्तकवि रज्जब के जन्म को लेकर भी निर्णायक स्थिति में पहुँचना सरल नहीं है। रज्जब के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में भी मतैक्य का अभाव है। दादू सम्प्रदाय में प्रचलित जनश्रुतियों से उनके विषय में थोड़ी-बहुत जानकारी मिलती है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा के अनुसार 'रज्जब जी का जन्म संवत् कहीं नहीं लिखा मिलता है, परन्तु यह सुविख्यात है कि वे 122 वर्ष के होकर परमपद को प्राप्त हुए। उनका देहावसान संवत् 1746 (सन् 1689 ई.) में हुआ था। इस हिसाब से वे संवत् 1624 में जन्मे होंगे।"

सन्तकवि रज्जब के माता-पिता के विषय में भी पूर्ण जानकारी का अभाव है। जनश्रुतियों एवं थाम्भायत के अनुसार "रज्जबदास का जन्म सांगानेर में एक प्रतिष्ठित सैनिक पठान के वंश में हुआ था। इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नहीं है। इनके पिता जयपुर के आम्बेराधीश महाराज भगवन्तराय जी तथा मानसिंह जी की सेना में एक लघुनायक थे।" जनश्रुति के आधार पर उनके पिता का नाम अज्जब अली ख़ां तथा उनके छोटे भाई का नाम गज्जब अली ख़ां था। रज्जबदास की गुरु-दीक्षा तथा विवाह-निषेध की घटना का उल्लेख 'भक्तमाल' में मिलता है। दादू शिष्य-परम्परा में सन्तकवि रज्जब का सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है। लोकप्रचलित मान्यताओं के आधार पर कुछ विद्वान सन्तकवि रज्जब को मुसलमान स्वीकार करते हैं जबकि कुछ लोगों ने उन्हें हिन्दू माना है। गुरु के प्रति उनकी असीम श्रद्धा सदैव बनी रही। साथ-ही-साथ उनका कवि और सन्तप्रवर व्यक्तित्व अपनी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के कारण भी उल्लेखनीय रहा है। उनके व्यक्तित्व में कबीर जैसा अक्खड़पन नहीं है और न ही तुलसी जैसा पाण्डित्य ही, फिर भी ऐसी रसमयी दयालुता, स्वभाव की मृदुलता, विचारों की परिपक्वता और विनयशीलता है जिसके कारण उनका व्यक्तित्व सदैव आकर्षण का केन्द्र रहा है।

2.2.2.2. कृतित्व

निर्गुण साधकों द्वारा रचित प्रभूत 'बानी' साहित्य की महत्ता निर्विवाद है। रज्जब की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं – 'रज्जबबानी' तथा 'सर्बंगी'। कुछ विद्वान 'अंगबधू' नामक रचना को भी रज्जब की रचना स्वीकार करते हैं जिसमें गुरु दादूदयाल की बानियों का संकलन है। डॉ॰ त्रिगुणायत ने रज्जब द्वारा रचित साखियों की संख्या 5428, पदों की संख्या 218 तथा अंगों की संख्या 194 बताई है। विद्वानों ने 'रज्जब बानी' को उनकी मौलिक रचना माना है। भाषा की व्यावहारिकता और छन्द-सम्बन्धी विविधता उनकी रचनात्मक विशिष्टताएँ हैं। उनकी विचारधारा का अनुमान निम्नलिखित साखियों के अध्ययन से हो जाता है –

बारी बुद्धि माहै उदै, सफरी सबद समान।
इह प्रकार बाणी बिबिध, समुझै साधु सुजान॥

* * *

निर्मल पीबै प्रेम रस, पल-पल पोसै प्राण।
जन रज्जब छाक्या रहै, साधू सन्त सुजान॥

2.2.3. रज्जब का युगबोध एवं मानव-दर्शन

रज्जब का आविर्भाव सामाजिक अव्यवस्था के दौर में हुआ था। जन्म के साथ ही उन्हें तत्युगीन सामाजिक-धार्मिक परिस्थितियों से संघर्ष करना पड़ा। परम्परा से रज्जब को जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ, उसे उन्होंने अपनी बुद्धि एवं अनुभूति की कसौटी पर कसकर ही स्वीकार किया है। उनके अनुभूत मानव जीवन-दर्शन में योग, भक्ति और नीति की त्रिवेणी सदैव प्रवाहमान रही है।

सन्तकवि रज्जब के दर्शन और जीवन-विधान में अटूट सम्बन्ध है। इस मायने में वे कहीं-न-कहीं जीवन और दर्शन, दोनों को एक ही उद्देश्य के दो परिणाम के तौर पर स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'परम श्रेय' की खोज करना ही दोनों तत्त्वों का प्रतिपाद्य है। दर्शन 'परम श्रेय' का सैद्धान्तिक रूप है जबकि जीवन व्यावहारिक रूप है। भारतीय जीवन-दर्शन के अनुरूप सन्तकवि रज्जब ने अपने काव्य में परोक्ष एवं प्रत्यक्ष ढंग से नैतिक जीवन-मूल्यों पर ही अधिक जोर दिया है। नैतिक मूल्य अभिप्रेरित मानव जीवन-दर्शन के आलोक में वे व्यक्ति के चरित्र को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। उनकी राय में जिस व्यक्ति का चरित्र अच्छा नहीं है, उसे जीवन में कभी सन्तुष्टि नहीं मिल सकती है। साथ ही, वे व्यक्ति के आचरण में उस व्यवहार की संकल्पना करते हैं जहाँ प्राणी मात्र को समान सम्मान दिया जाए। व्यक्ति व समाज के आचरण की शुद्धता के लिए रज्जब नैतिक शिक्षा को परम आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार नैतिक शिक्षा ही एक ऐसी जड़ी है जो किसी भी अव्यावहारिक व अनैतिक व्यक्ति को व्यावहारिक तथा नैतिक बना देती है इसलिए सभी व्यक्तियों को नैतिक शिक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। उनके अनुसार नैतिक शिक्षा में ही मानवता की आधारभूत संरचना निहित है।

2.2.4. रज्जब का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

सन्तकवि रज्जब का नीतिकाव्य बहुआयामी है। उनकी नीति मानसी है और उसका माध्यम भी मानसी ही है। उनकी नीति केवल वेदों और शास्त्रों से ही अनुप्राणित नहीं है अपितु वह व्यावहारिक जीवन से भी सम्पुष्ट एवं प्रमाणित है। उनके नीतिकाव्य का मूल प्रतिपाद्य व्यक्ति मात्र की आन्तरिक शुद्धि एवं व्यावहारिक उन्नयन है। उनकी नीति अन्तस् की शुचिता, एकाग्रता एवं समर्पण की त्रयी से सम्पृक्त है। रज्जब के काव्य में मानव-जीवन के वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक पहलुओं की विस्तृत व्याख्या मिलती है।

2.2.4.1. वैयक्तिक नीति

व्यक्ति समाज का आधार एवं अभिन्न अंग है। स्वस्थ समाज का निर्माण भी तभी सम्भव है जब समाज के सभी लोग मानसिक एवं शारीरिक रूप से स्वस्थ हों। मानव-जीवन को समुन्नत एवं विकसित बनाने के लिए सामाजिकों के कुछ कर्त्तव्य एवं दायित्व निर्धारित किए गए हैं। उत्तम सामाजिक जीवन के लिए प्रत्येक व्यक्ति को वैयक्तिक कर्त्तव्यों का पालन आवश्यक है। चूँकि, व्यक्ति समाज की आधारभूत इकाई है इसलिए उसका सदाचरण एवं सद्व्यवहार ही सामाजिक एवं मानवीय नैतिकता की स्थापना करता है।

अन्य सन्तकवियों की भाँति सन्तकवि रज्जब भी सत्संगति का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। उनका अभिमत है कि साधु का आचरण एवं व्यक्तित्व सरिता के जल के समान पवित्र होता है। उसमें किसी प्रकार का मैल या दुर्भावना नहीं होती। जिस प्रकार सरिता में स्नान करके व्यक्ति अपनी देह को स्वच्छ मानता है, उसी प्रकार साधु-संगति रूपी सरिता से आत्मशुद्धि होती है –

साधु सरिता सबद जल, इहं गुण कोई जाहिं।
रज्जब रजमल उतरै, मन भागीरथ न्हाहिं॥

सत्संगति का व्यक्ति पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। सत्संगति से व्यक्ति अपने बुरे कर्मों को छोड़कर अच्छे कर्मों में ठीक उसी प्रकार प्रवृत्त हो जाता है जिस प्रकार चन्दन का संसर्ग करने से कोई भी वस्तु चन्दन की सुगन्ध से सिक्त हो जाती है तथा पारस का स्पर्श कर लोहा सोना बन जाता है और भ्रमर के सान्निध्य से अन्य प्रजाति का कीट भी भ्रमर का रूपाकार ग्रहण कर लेता है –

चन्दन संगति चन्दनि, पारस कंचन होइ।
जन रज्जब दृष्टान्त कौ, कीट भृंग लै जोइ॥

सज्जन की संगति के लिए व्यक्ति को जाति-पाँति का आश्रय ग्रहण नहीं करना चाहिए। सज्जन व्यक्ति के साथ रहने से व्यक्ति को वास्तविक आनन्द की प्राप्ति होती है। रज्जब ने कहा है कि सत्संगति तो उगते हुए सूर्य के समान है जो चारों ओर फैले अन्धकार को मिटाकर उजाला प्रदान करती है –

सुसंगति सूर उजास मै, कुसंगति तम ऐन।
रज्जब कही विचारि करि, सो निरखौ नर नैन॥

सन्तकवि रज्जब का अभिमत है कि सत्संगति से व्यक्ति में सूझ-बूझ एवं चेतना की शक्ति व्युत्पन्न हो जाती है। तब वह अच्छे-बुरे का निर्णय करने योग्य हो जाता है –

सुध बुध को काम करै सतसंगति खेचर स्यंद कदे नहिं सीजै।
नागर नीब कौ दूध सौ पोषिये, देखहु जात सुभाव न छीजै॥

सन्तकवि रज्जब निन्दा-वृत्ति को अनुचित मानते हैं। निन्दा करने वाला व्यक्ति अहर्निश परनिन्दा में ही रत रहता है। इस मायने में वह अनैतिक हो जाता है। रज्जब निन्दा-वृत्ति की भर्त्सना करते हैं लेकिन साथ ही कबीर की भाँति साधक के स्वभाव को निर्मल करने में निन्दक व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण भूमिका को भी स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार निन्दक व्यक्ति साधक के समीप रहकर सदैव उसकी बुराइयाँ रूपी मैल को धोता रहता है। वह दिन-रात उसकी बुराइयों को चिह्नित कर परोक्ष रूप से उन्हें दूर करने का अवसर प्रदान करता है। इस प्रकार निन्दक शनैः शनैः साधक के जीवन एवं व्यवहार को समुज्ज्वल बना देता है –

निन्दक कै अगत नहीं, खल मल धोवै नित।
रज्जब गिनै न रैनि दिन, उजल करै सुभ्यंत॥

सन्तकवियों ने साधक के निष्कलुष होने में निन्दक का योगदान भले ही स्वीकार किया है तथापि इसका अर्थ यह कदापि नहीं लिया जाना चाहिए कि वे निन्दक और उसके चरित्र का आदर्श स्थापित कर रहे हैं। सन्तजन एकमत से निन्दक और निन्दा-वृत्ति की भर्त्सना करते हैं और मनुष्यों को इस भाव से सर्वथा दूर रहने हेतु सावधान करते हैं। रज्जब के अनुसार 'निन्दा-वृत्ति' व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार का कलुषित पक्ष है। निन्दक का जीवन नरक के समान है। उसकी वाणी और आचरण में एक विचित्र प्रकार की बदबू बनी रहती है –

न्यंदक नरक समानि है, बाण बिबिध कुबास।
रज्जब सुणि सुधै नहीं, कुमति कानि की नास॥

अहंकार व्यक्ति का सबसे बड़ा शत्रु है। वह व्यक्ति के पराभव या विनाश का मूल कारण है। इसलिए सन्तकवि रज्जब दम्भ-त्याग का उपदेश करते हैं। वे सचेत करते हैं कि इस संसार में बड़ों-बड़ों का अभिमान समाप्त हो गया है। हाथी स्वयं को अपार शक्तिशाली मानकर घमण्ड में चूर रहता है परन्तु एक चींटी ही उसका मान खण्डित करने में सक्षम है –

कीरी कौ कुंजर डरै, सोवै सूंड़ि समेटि।
गज गुमान तब का गया, मान मकौड़े मेटि॥

सन्तकवियों की भाँति रज्जब ने व्यक्ति की कर्मनिष्ठा पर अधिक जोर दिया है। व्यक्ति को ऐसा कार्य कदापि नहीं करना चाहिए जिससे अन्य को पीड़ा एवं कष्ट भोगना पड़े। व्यक्ति की कथनी और करनी में किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए –

करणी कठिन सु बंदगी, कहणी सब आसान।
जन रज्जब रहणी बिना, कहाँ मिलै रहिमान॥

इसी अनुक्रम में रज्जब व्यक्ति के सत्कर्मों का महत्त्व भी प्रतिपादित करते हैं। उनके अनुसार व्यक्ति के सत्कर्म ही उसके जीवन का आधार होते हैं। पत्नी, पुत्र और धन का साथ तो अनित्य है। केवल अच्छे कर्म और राम-नाम स्मरण ही मनुष्य के सच्चे साथी हैं –

गृह दारा सुत बित्त की, यह सब झूठी साथि।
जन रज्जब रहती इती, सुमिरण सुकृत साथि॥

व्यक्ति का आचरण एवं व्यवहार ही अन्ततः महत्त्वपूर्ण होता है, इसलिए रज्जब स्वार्थपरता को त्यागने की शिक्षा देते हुए सचेत करते हैं कि व्यक्ति को सदैव दूसरों की कुशलता की कामना करनी चाहिए क्योंकि दूसरों की कुशलता एवं सुख में ही स्वयं की कुशलता भी सन्निहित है –

इसकै मारन की नहीं, तौ इसहि न मारै कोइ।
कुसल वांछता और की, अपने कुसलु सो होइ॥

2.2.4.2. सामाजिक नीति

सामाजिक जीवन-दर्शन एवं नीति का क्षेत्र विशाल है। मनुष्य एक इकाई के रूप में समाज का अंग है। समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है। समाज के विभिन्न वर्ग, जाति, समूह, समुदाय आदि के लोगों के साथ उसके समुचित व्यवहार को सामाजिक नीति कहा जा सकता है। सामाजिक नीति का स्वरूप समाज के

चिन्तन-मनन, सामाजिक बुराइयों को खत्म करने, सामाजिक-कल्याण की रक्षा करने, सामाजिक-उत्थान की योजना प्रस्तुत करने के निहितार्थ है। सामाजिक नीति समाज को केवल चेतनता ही प्रदान नहीं करती अपितु वह सामाजिक अभिप्रेरण का सशक्त माध्यम भी बनती है।

सन्तकवि रज्जब ने समाज की आधारभूत कमजोरियों का गहनता से अध्ययन करते हुए मानवीय एकता पर बल दिया है। साथ-ही-साथ उन तत्त्वों का अन्वेषण भी किया है जिसके कारण समाज में बुराइयाँ व्याप्त हैं। रज्जब जाति-व्यवस्था का पुरजोर विरोध करते हैं। उनका मानना है कि जाति-व्यवस्था व्यक्ति और समाज दोनों को खण्डित करती है। सामाजिक उन्नयन के लिए वे नैतिक शिक्षा के हिमायती हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि नैतिक शिक्षा मनुष्य की सामाजिक व वैयक्तिक चेतना को जाग्रत् करने में सक्षम होती है। रज्जब के अनुसार मनुष्य के समस्त कार्य चौदह प्रकार की विद्याओं पर निर्भर करते हैं। शिक्षा समाज में ऊँच-नीच की खाई को पाटने में सहायक सिद्ध होती है। विद्यार्जन के लिए बच्चे-बड़े, धनाढ्य-निर्धन, सक्षम-निर्बल सभी योग्य हैं। जब व्यक्ति विद्यावान् हो जाता है तो वह उच्च-निम्न के स्तर से ऊपर उठ जाता है तथा उसका व्यवहार समाज के लिए अनुकरणीय बन जाता है –

विद्या लघु दीरघ सबै, विद्या पावै ठौर।
रज्जब विद्या जीव कौ, करै और तै और॥

भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही भाग्यवाद के प्रति दृढ़ आस्था विद्यमान है जिसकी सम्पुष्टि रज्जब ने भी यथास्थान अपने काव्य में की है। उनकी प्रबल धारणा है कि व्यक्ति के सुख-दुःख, हँसी-खुशी, उसके कर्म, सभी कुछ नियति द्वारा निर्धारित हैं, पहले से तय हैं। भारतीय समाज अन्धविश्वासी है इसलिए कुछ विषयों के बारे में बिना जाने-समझे, बिना सोचे-विचारे ही विश्वास कर लेता है। रज्जब सभी प्रकार के अन्धविश्वासों एवं रूढ़िवादी मान्यताओं का दृढ़तापूर्वक खण्डन करते हैं। वे 'सत्य की सत्ता' और 'संसार की व्यर्थता' को समाज के सामने उजागर करते हैं। स्वर्ग-नरक की व्यक्ति-निर्मित 'सत्ता' व सामाजिक मान्यताओं पर चोट करते हुए वे कहते हैं कि स्वर्ग और नरक इसी संसार में व्याप्त हैं और उन्हें संसार से अलग करके नहीं देखा जाना चाहिए। मृत्यु के बाद स्वर्ग और नरक का अस्तित्व समाप्त हो जाता है –

दोजक माहिं बुरौ का बासा, भले भिस्तो कौ जाहिं।
नरक-सरग स्याबित हुऐ, सब चौरासी माहिं॥

सामाजिक अन्धविश्वास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी 'भूत-प्रेत' की अवधारणा ने व्यक्ति की चेतना व उसके सामर्थ्य को सदैव कुण्ठित तथा सशंकित किया है। भूत-प्रेत की शंका को दूर करने की चेष्टा करते हुए रज्जब कहते हैं कि भूत-प्रेत सब व्यर्थ की बातें हैं। वास्तव में जो बीत गया वही भूत है –

भूत बात सुण भूत की, भूत होत क्यां बेर।
सोइ बात बहु बदन सुणि, सौ न होत तौ फेर॥

भारतीय जीवन-दर्शन में यथार्थ और प्रिय की समष्टि से निर्मित विशिष्ट वचन को सत्य कहा गया है। सत्य का लौकिक एवं सामाजिक जीवन में बड़ा महत्त्व है। सन्तकवि रज्जब ने सत्य की उपादेयता को स्वीकार करते हुए यह भाव प्रकट किया है कि सत्य को ग्रहण करने से सभी दुःख-द्वन्द्व दूर हो जाते हैं। सत्यता ही व्यक्ति व समाज को सभी संकटों से मुक्ति प्रदान करती है और आनन्द की प्राप्ति करवाती है –

सांचै को संकट नहीं, सब भागे दुःख दंद।
रज्जब जग जगदीश मै, जहाँ तहाँ आनन्द॥

2.2.4.3. अर्थ नीति

जीवन-निर्वाह में अर्थ का महत्त्व सिद्ध है। अर्थ की महत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी के बल पर धनवान् लोगों का समाज में विशेष प्रभुत्व बना हुआ देखा जा सकता है। सामाजिक जीवन एक जटिल प्रक्रिया है। व्यक्ति को जीवनयापन के लिए विभिन्न संघर्षों से होकर गुजरना पड़ता है। दैनिक जीवन के कार्य-व्यापार हेतु अर्थ परमावश्यक है लेकिन धन जीवन का तथ्य नहीं है, वह जीवन का सार नहीं है। बहुत कुछ होते हुए भी अर्थ ही सबकुछ नहीं है इसीलिए सन्तकवियों ने अर्थ को सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति का एक साधन मात्र माना है, साध्य नहीं। सन्त रज्जब धन को भौतिक सुखों की प्राप्ति के साथ ही जीवनयापन के लिए आवश्यक तो मानते हैं लेकिन धन को ही सबकुछ अथवा मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य स्वीकार नहीं करते। उनकी दृष्टि में अर्थ एक ऐसा साधन है जिसके अभाव में अथवा अधिकता में जीवन की अवस्था असन्तुलित हो जाती है। धनाभिमान की बजाय उन्होंने 'संयमित जीवन' की अनुशंसा की है –

गिरबर गरब न कीजियो, सप्त धात धन जोर।
तांबा निकसै पंख मै, लागी पूंदनि मोर॥

2.2.4.4. धार्मिक नीति

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है जिसका अभिप्राय है –धारण करना तथा पुष्ट करना, बनाए रखना। यही वह मानदण्ड है जो विश्व को धारण करता है। अपनी प्रकृति एवं स्वरूप में धर्म एक विशिष्ट नीति का पर्याय है। धर्म का वास्तविक आशय आचरण विशेष है। धर्म जीवन जीने की एक ऐसी कला है जिससे इकाई और समूह में संगीत पैदा होता है। धर्म जीवन जीने की एक ऐसी विधि है जिससे 'जीओ और जीने दो' का भाव प्रकट होता है। रज्जब के समय में धार्मिक परिस्थिति उन्मादकारी हो चुकी थी। तब धर्म समभाव की बजाय कोलाहल पैदा कर रहा था। धर्म का सम्बन्ध जब व्यक्ति के केवल बाह्य क्रियाकलापों व आडम्बरपूर्ण व्यवहारों से जुड़ जाता है तब धर्म का वास्तविक ध्येय लुप्त हो जाता है। कर्मकाण्ड और पाखण्ड वस्तुतः धर्मिक क्रियाकलाप के ही रूप हैं जिन्होंने पूरे समाज तथा मानव-मन को बीमार किया है। धर्म की आड़ में कोलाहल पैदा करने वाले उन तमाम बिन्दुओं पर सन्तकवि रज्जब सीधा आक्रमण करते हैं। उन्होंने अपने समय में प्रचलित समस्त धार्मिक रूढ़ियों और पाखण्डों का कड़ा विरोध करते हुए धार्मिक सहजता पर बल दिया है। इस मायने में रज्जब धर्म के

बाहरी आडम्बर को अस्वीकार करके जीवन की सहजता का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। साधारण रूप से धार्मिक आडम्बर मानव-जीवन की धारा को बाधित करते हैं। बाह्य आडम्बरों एवं धार्मिक दिखावे की प्रवृत्ति मनुष्य को वास्तविक जीवन से दूर ले जाती है। सन्तकवियों ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को स्वीकार किया है। इसी आधार पर उन्होंने मन की निर्मलता के अभाव में किए जा रहे जप, तप, माला, छापा, तिलक, तीर्थ, व्रत आदि बाह्याचारों को मिथ्या घोषित किया है। अधिकतर व्यक्ति साधु होने का ढोंग रचते हैं। उनके हाथ में दिखावे की माला होती है परन्तु वास्तविक रूप से मन से वे प्रभु का चिन्तन नहीं करते। सन्तकवि रज्जब ने अपनी वाणी के माध्यम से ऐसे ढोंगी साधुओं की भर्त्सना की है जो मस्तक पर तिलक लगाकर मुख पर मुखौटा चढ़ा लेते हैं तथा दिखावे के लिए प्रतिदिन सुबह-सुबह स्नान करके पत्थरों की पूजा-अर्चना करते हैं –

सिलक सौ तिलक देई छापे सौ अघाइ लेई,
रूप सौ रूपक सेइ कहा कीघौ जाइगो।
काठ माटी मन लाइ झूठे सेती झूठ गाइ,
धरे सौ धर्‌यो रिसाई कौन मै समाइगो॥
नित्यप्रति मांडि न्हान प्रीति सौ पूजि पषान,
सूचि सेती खाइ खान कौन पति पाइगो॥
स्वांग सौ सरीर मांडि सांच सौ सनेह छांड़ि
रज्जब जनम भांडि देखतै ठगाइयो॥

रज्जब ने वेदों में निहित पूजा-पाठ पर प्रचण्ड प्रहार किया है। उनका अभिमत है कि वेद और शास्त्र तो व्यक्ति को केवल निरर्थक ज्ञान ही प्रदान करते हैं। वे वेद अड़सठ तीर्थों, जल और पत्थरों की पूजा के अलावा कुछ भी ज्ञान नहीं देते। इसलिए तत्त्वज्ञान के पिपासुओं को वेदों का आश्रय त्याग कर निर्गुण-निराकार ब्रह्म को जानने वाले व्यक्तियों यानी सन्तों का सान्निध्य करना चाहिए –

वेद बतावै अठ सठ्‌यु, पूजौ जल पाषाण।
रज्जब रंजहि न सन्त जन, जिनहू निरंजन जाण॥

लोग तीर्थों पर जाकर स्नान करते हैं, परन्तु उस तीर्थ पर स्नान करने से क्या लाभ, जब तक व्यक्ति अपने अन्तस् में छिपे मैल अर्थात् बुराइयों को दूर नहीं करता –

तन धोया फिर तीरथौ, मैल रह्या मन माहिं।
रज्जब पातग प्रान मै, क्यूँ उरके अघ जाहिं॥

केवल हिन्दू ही नहीं अपितु अन्य धर्मों के अनुयायी भी अपने-अपने धर्माडम्बरों में बुरी तरह से जकड़े हुए हैं। रज्जब ने हिन्दू धर्माडम्बरों की भाँति ही मुसलमानों के रोजा पर भी सार्थक व्यंग्य किया है। उनका मानना है कि मुसलमान रमजान के दिनों में रोजा रखते हैं, इस प्रकार वे भी व्रत रखते हैं। उनके लिए अपने अल्लाह को खुश रखने का यह नियम है परन्तु विडम्बना यह है कि इस क्रियाकलाप से वे उस अल्लाह तक नहीं पहुँच पाते हैं –

रोजा राखै द्वार दसि, बरत करै बसि पंच।
जन रज्जब निज नेम यहु, लगै नहीं जम अंच॥

सन्तकवि रज्जब ने धार्मिक आडम्बरों का खण्डन करने के साथ-साथ धर्म के मूल रूप लोकमानस को समझने के लिए अभ्रिप्रेरित किया है। धार्मिक व जातीय एकता पर बल देते हुए उन्होंने ब्राह्मणों के थोथे दम्भ का दमन किया है। वेदादि पौराणिक ग्रन्थों के पठन-पाठन, जप-तप, तीर्थ, व्रत आदि की व्यर्थता सिद्ध की है –

नमो नांव सम कछु नहीं, साध बेद मत माहिं।
तीरथ बरत न जोगि जपि, पटतर कहै न जाहिं॥

2.2.4.5. आध्यात्मिक नीति

सन्तकवि रज्जब आध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनके अनुसार जहाँ अध्यात्म होता है वहाँ इस भौतिक संसार का प्रभाव पूरी तरह नष्ट हो जाता है। जहाँ कोई वाद-विवाद नहीं होता है। भेदोपभेद भी जहाँ नहीं होता। ऐसी स्थिति में न तो हर्ष के लिए स्थान होता है और न ही शोक के लिए। आध्यात्मिक स्थिति में मानव मन की सम्पूर्ण वासना धुल जाती है। जो इसका अनुभव करता है, वही ब्रह्ममय होता है। रज्जब ऐसे ही ज्ञानी हैं और सम्पूर्ण संसार को ऐसा ही ज्ञानी बनाने चाहते हैं।

संसार के सभी धर्म, जाप और तपस्या एक ही ब्रह्म के निहितार्थ हैं इसलिए उसे विभिन्न नामों एवं विभिन्न प्रकार के जप-तप से प्राप्त करना असम्भव है। उन्होंने अपने ब्रह्म को 'राम' कहकर पुकारा है। लेकिन रज्जब के 'राम' दशरथसुत रामचन्द्र से भिन्न हैं। वे निर्गुण-निराकार परब्रह्म हैं। वह अविनाशी ब्रह्म चल और अगम है। वह आनन्द में वास करने वाला है –

अचल नांव अगम ठांव, आनन्द घरि वासा।
सकल सिद्धि अकल विधि, सतगुरु संग दासा॥

इसलिए रज्जब कहते हैं कि निराकार ब्रह्म की अनुभावना शरीर, मन और आत्मा से करनी चाहिए। इस प्रकार स्मरण करने से ही उस अव्यक्त परमतत्त्व का साक्षात्कार सम्भव हो सकता है। वे स्पष्ट करते हैं कि जो पैदा होता है और विनष्ट हो जाता है, वह ब्रह्म नहीं अपितु माया है। जो स्वयं ही जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं है, वह किसी दूसरे व्यक्ति को अमर कैसे बना सकता है –

रज्जब जो जामै परै, ताका तजिये आस।
हमहिं अमर सो क्या करै, जो आप फिरै ग्रभवास॥

परमात्मा संसार के कण-कण में व्याप्त है और प्रत्येक तत्त्व में प्रतिबिम्बित हो रहा है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे दर्पण से सारे शरीर के अंग प्रतिबिम्बित होते हैं परन्तु दर्पण को किसी प्रकार का भार अनुभव नहीं होता। अतः साधक को निरंजन का नाम तन, मन और आत्मा से लेना चाहिए ताकि उस परमतत्त्व की प्राप्ति हो सके –

नाउं निरंजन लीजिए, तन मन आतम माहिं।
जन रज्जब यूं सुमिरतौ, परम पुरषि मिलि जाहिं॥

सन्तकवि रज्जब कहते हैं कि आत्मा को परमात्मा की प्राप्ति के बाद सुख ही सुख दिखाई देता है। तब उसके समस्त दुःख, अज्ञान, कष्ट एवं रोगों का विनाश हो जाता है। परमात्मा आत्मा के अंग-अंग में चमकता हुआ दिखाई देता है और तब आत्मा उल्लसित हो आनन्दोन्मत्त हो जाती है –

आख्यूं आनन्द श्रवन सुख, मन मंगल सु अगाध।
जन रज्जब रस रंग है, मिलै तो परम साध॥

जीव और ब्रह्म दोनों को एक ही तत्त्व मानते हुए सन्तकवि रज्जब कहते हैं कि जिस प्रकार बीज में वृक्ष समाया रहता है, कुएँ और मटके के जल में कोई अन्तर नहीं होता, जैसे बूँद में घटा समाई रहती है, वैसे ही ब्रह्म में जीव समाया रहता है। जीव और ब्रह्म के पार्थक्य का मूल कारण अज्ञानता एवं माया है। जीव अज्ञानता एवं माया में पड़कर ही अनुचित कार्य करने लगता है। अज्ञानता में लिप्त व्यक्तियों को सचेत करते हुए रज्जब कहते हैं कि जब तक जीव संसार जाल से मुक्त नहीं होता तब तक उसे विषय-वासनाओं में ही सच्चा आनन्द प्राप्त होता दिखाई देता है, लेकिन यह सत्य नहीं है –

संतौ कहै सुणै कछु नाहीं।
जब लगि जीव जंजाल न छूटै, बिकल विषै सुख माहीं॥
करै अनीत मगन पाया मै, काहै अगम की वाणी।
सो विपरीत सन्त नहीं मानै, झूठी माहिली जाणी॥

सन्तकवि रज्जब के अनुसार माया ने सम्पूर्ण जगत् को ग्रस लिया है। यह अपने छल और बल द्वारा चतुर से चतुर व्यक्ति को फाँस लेती है। लेकिन इतना सत्य है कि जिस व्यक्ति के पास अपना विवेक एवं बुद्धि है, वे इसकी ठगाई से बच जाते हैं –

माया कपि साँच बहु, आतम ठगहिं अनेक।
रज्जब सो न ठगवी, जिनके परम बिबेक॥

आगे रज्जब यह भी स्वीकार करते हैं कि सारा संसार माया से व्याप्त है। अतः इस संसार की किसी वस्तु का अथवा व्यक्ति का माया से विलग रहना सम्भव नहीं है लेकिन 'हरिगुण' में आस्था रखने वाला व्यक्ति माया के बीच रहते हुए भी उससे उसी भाँति निर्लिप्त रहता है जैसे समुद्र में निवास करने वाली मछली समुद्र के भीतर प्रतिबिम्बित सूर्य से कभी नहीं जलती –

ज्यों सूरज दीसै समुद्र में, मीन मरै नहिं कोय।
त्यूँ रज्जब माया मगन, हरिगुन लिपत न होय॥

जीवात्मा गुरु के प्रताप से ही ब्रह्म की ओर अग्रसर होती है और भक्ति के मार्ग पर चलती है। भक्ति में ही मुक्ति छिपी होती है। भक्ति और भगवान् में कोई अन्तर नहीं होता। इस प्रकार भक्ति में ही सभी प्रकार की सुख-सन्तोष निहित हैं। रज्जब स्पष्ट करते हैं कि भक्ति ही मुक्ति का आधार है –

भक्ति मै मुक्ति पदारथ सब सहित, भगति भगवन्त नहिं भेद भीना।
परम उदार पसाव सो कीजिये, दान दीरघ पावै सु दीना॥
भक्ति भण्डार भीतरी भरी सकल, तुझ बिन कौन यहु मौज होई,
रज्जब रंक कौ रहम करि दीजियै, और न दातार कोइ॥

साधक का सांसारिक ऐश्वर्यों, भोग-विलास आदि को त्यागकर भगवान् के प्रति शाश्वत समर्पण आत्मनिवेदन कहलाता है। सन्तकवि रज्जब उस परम सामर्थ्यवान् ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन की भावना अभिव्यक्त करते हैं। वे स्वयं को अनेक व्याधियों एवं सांसारिक विघ्नबाधाओं ने घिरा हुआ अत्यन्त असहाय प्राणी महसूस करते हैं। ऐसी स्थिति में वे ईश्वर से आत्मनिवेदन करते हैं कि इस बुरी दशा में वह उनकी रक्षा करे –

कहर राम राखि राम मै अनाथ तोरा।
करि सहाय राम आइ, अरि अनंग घेरा॥

रज्जब लोगों को सचेत करते हैं कि मन विशुद्ध कर उसमें प्रभु-प्रेम की लौ जगानी चाहिए ताकि काल का ग्रास न बनें। हरि-प्राप्ति का मार्ग सरल नहीं है। कोई विरला ही अपना अहंकार त्यागकर प्रभु-प्रेम में निमग्न हो पाता है –

हरि मारग मस्तग धरै, कोइ एक पूरा दास।
सो रज्जब रामहिं मिलै, कदे ना जाई निरास॥

मानव-शरीर नश्वर है, यह किसी भी उद्यम से स्थायी नहीं हो सकता। सन्तकवि रज्जब कहते हैं कि चाहे कितनी ही युक्तियाँ, प्रयत्न और उपाय कर लिए जाएँ किन्तु यमराज के फंदे से बचने का कोई उपाय नहीं है। निर्धारित समय पर आकर यमदूत आत्मा को सिर के बल घसीटते हुए ले जाएँगे –

जुगति जतन सारे रहे, जब जम पकड्या सीस।
रज्जब धन धणिहु, उठी आतमा ठौर॥

2.2.4.6. सांस्कृतिक नीति

भारतीय संस्कृति में प्रेम, दया, करुणा, दान, अहिंसा आदि नैतिक मूल्यों का महत्त्व है। सन्त रज्जब मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखते हैं। वे उसे जगत् और धर्म के रूप नहीं मानते हैं। वे मनुष्य-मनुष्य के बीच खड़ी दीवार को गिरा देना चाहते हैं। प्रेम, दया, करुणा, मैत्री, त्याग, परोपकार, पवित्रता, अहंकारशून्यता, सद्भाव, अहिंसा, परदुःखकातरता आदि रज्जब-काव्य के सांस्कृतिक नैतिक पक्ष हैं।

रज्जब ने कबीर की भाँति प्रेमतत्त्व को सर्वोपरि माना है। प्रेम की महत्ता सर्वगुणसम्पन्न ईश्वर के समान है। जिस व्यक्ति ने प्रेमतत्त्व को जान लिया, वह पूर्णज्ञानी है। इसलिए भगवान् की उपासना में भी वे 'प्रेमतत्त्व' को ही प्रमुख मानते हैं –

प्रेम प्रीति हित नीति कूँ, रज्जब दुविधा नाहिं।
सेवक स्वामी एक ह्वै, आये इस घर मांहि॥

विपत्ति या संकटकाल में प्राणियों की रक्षा करना ही दया है। यह संसार परिवर्तनशील है। सन्त रज्जब ने अज्ञानता में पड़े लोगों को चेताया है कि दया के वृक्ष में ही धर्म का फल लगता है। मनुष्य के मनरूपी पृथ्वी में यह दया वृक्ष उगता है। हरि-कृपा की वर्षा से उसमें हरि नामरूपी फल निष्पन्न होता है। ऐसे वृक्ष के रखवारे ही हरि नामरूपी फल का रसास्वादन करते हैं –

दया तरोवर धरम फल, मनसा मही सु माहिं।
मिहरि मेघ हरि नीपजै, रखवारे फल खाहिं॥

दया अन्य व्यक्तियों का कल्याण तो करती ही है, दया करने वाले को भी सुख प्रदान करती है। दया भाव से मनुष्य को शारीरिक एवं मानसिक सुख की प्राप्ति होती है –

कोटि भाँति कल्याण दया दरसावही, उनकी मया मनुष्य ओर सुख पावहीं।
हुए हमायसो ऐन आत्मा यहि मति, रज्जब उनकी छाँह जू निपजै नरपति॥

रज्जब का मानना है कि अनुकूल अन्न और जल आदि से किसी दूसरे की पीड़ा का शमन करना ही दान कहलाता है। दान सदैव श्रद्धापूर्वक करना चाहिए। दान करते समय लज्जा, भय आदि से विचलित नहीं होना चाहिए। उनका विश्वास है कि दान करने से व्यक्ति का जीवन सफल होता है। किया गया दान ही जीव के साथ चलता है इसलिए उसे अपना धन अपने हाथों से दान करना चाहिए –

संबल सुकृत तोसा खैर, रज्जब कह्या सु नाहीं बैर।
खैर खजाना पुन्नि करि हाथ, जो बित चलै जीव के साथ॥

मध्यकालीन सन्तों ने हिंसा का प्रबल विरोध किया है। सन्तकवि रज्जब का कहना है कि व्यक्ति केवल जीभ-स्वाद हेतु निरीह जीव-जन्तुओं की हत्या करता है। व्यक्ति को जीव-हत्या जैसे भयानक पापकर्मों से दूर रहना चाहिए –

मुल्ला तन बिसमिल करी, तजहु स्वाद का घाट।
सब सूरति सु बिहान की, गाफिल गला न काट॥

2.2.5. रज्जब का नीतिकाव्य और सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

साहित्य और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। मध्ययुगीन सन्तकवियों ने समाज-निरपेक्ष होकर नहीं, अपितु समाज-सापेक्ष होकर चिन्तन-मनन किया है। विभिन्न सामाजिक परिवर्तनों, परिस्थितियों ने उनके साहित्य को भी प्रभावित किया है। सन्तकवियों ने अपने अनुभवों को साहित्य में रेखांकित करने का सफल प्रयास किया है। चूँकि, सन्तकवियों ने तत्युगीन समाज की विद्रूपताओं को अपनी खुली आँखों से साक्षात् देखा और सहन किया था इसलिए उनकी रचनाओं का मूल स्वर नैतिक जीवन-मूल्यों की स्थापना और मानव-कल्याण है।

सन्तकवि रज्जब ने समकालीन सामाजिक बुराइयों को युगद्रष्टा की पारखी नज़र से देखा। धार्मिक कट्टरता के कारण हिन्दू और मुसलमान में पारस्परिक वैमनस्य की खाई निरन्तर बढ़ती ही जा रही थी। हिन्दुओं की निजधर्म में आस्था थी, वहीं मुसलमानों को अपने धर्म में दृढ़ विश्वास था। दोनों समुदाय के लोग अपने-अपने धर्मों का प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से विभिन्न बुराइयों में लिप्त हो गए थे। जनसाधारण सर्वत्र संत्रस्त एवं पीड़ित था। त्राहि-त्राहि की लोमहर्षक पुकार सुनकर और समाजविरुद्ध स्थिति को देखकर रज्जब जैसे प्रबुद्धचेता एवं समाजसुधारक निश्चिन्त होकर नहीं बैठ सकते थे। उनका मन तत्युगीन धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक विषमताओं से आहत हो उठा। उन्होंने समाज में व्याप्त आचारिक और मानसिक विकारों को निर्मूल कर आदर्श समाज और आदर्श मानव की संकल्पना की और इस संकल्पना की पूर्ति हेतु लोक-कल्याणकारी नीतिपरक साहित्य की रचना की।

2.2.6. पाठ सार

राजस्थान की माटी में जन्मे सन्तकवि रज्जब दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में से एक हैं। रज्जब की कविता में शास्त्रीयता का अभाव है। इन्होंने अत्यन्त सीधी-सरल भाषा में गहरी बातें कही हैं। उनकी काव्य-भाषा पर राजस्थानी प्रभाव अधिक है और इस्लामी साधना के शब्द भी अपेक्षाकृत अधिक हैं। रज्जब के काव्य-चिन्तन पर शंकराचार्य, भर्तृहरि, व्यास, रामानन्द, कबीर, रैदास, नानक, अंगद, अमरदास, ज्ञानेश्वर, नामदेव, दादू, गरीबदास, पीपा आदि आचार्यों एवं सन्तों का प्रभाव है। निर्गुण सन्त रज्जब राम-रहीम और केशव-करीम की एकता के गायक हैं। सन्तकवि रज्जब की नैतिक चेतना का मूल लक्ष्य मानव जाति में एकता स्थापित करना था। उनके काव्य का मूल लक्ष्य है – वास्तविक मानवता के मार्ग में बाधक कारणों का निवारण। कवि रज्जब सही मायने में सन्त हैं। उनकी रचनाओं में मानव और समाज की मंगलविधायिनी चेतना भौतिक और अभौतिक दोनों ही पक्षों से अनुप्राणित है। समग्र और स्वस्थ जीवन-विधान के लिए रज्जब की नीतिकाव्य-चेतना का अनुशीलन सार्थक एवं उपयोगी है। उनकी काव्य-चेतना समय और समाज की वास्तविक निर्देशिका है।

2.2.7. कठिन शब्दावली

कुंजर	:	हाथी
दारा	:	पत्नी
अघ	:	पाप
मीन	:	मछली
जुगति	:	युक्ति, उपाय, व्यवहार
तरोवर	:	वृक्ष
मनसा	:	मन से

2.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. वर्मा, डॉ॰ ब्रजलाल, रज्जब बानी, उपमा प्रकाशन, कानपुर, उत्तरप्रदेश
2. ईराकी, शहाबुद्दीन, रज्जबदास की सर्बंगी, ग्रन्थायन, अलीगढ़, उत्तरप्रदेश
3. मुनिराय, डॉ॰ व्यास, भक्तिकालीन काव्य : नीतिपरक मान्यताएँ, राजीव प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. पाण्डेय, डॉ॰ रामसजन, भक्तिकालीन हिन्दी काव्य का सांस्कृतिक अनुशीलन, सद्भावना प्रकाशन, दिल्ली.
5. पाण्डेय, डॉ॰ रत्नाकर, हिन्दी साहित्य की सामाजिक चेतना, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली.
6. शर्मा, डॉ॰ हरवंश लाल, मध्यकालीन निर्गुण भक्ति साधना.

2.2.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. सन्तकवि रज्जब का व्यक्तित्व।
2. मध्ययुगीन परम्परा और रज्जब की धार्मिक नीति।
3. सन्तकवि रज्जब की आध्यात्मिक चेतना।
4. रज्जब-नीतिकाव्य का सांस्कृतिक पक्ष।
5. सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना और रज्जब।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "सन्तकवि रज्जब के नीतिकाव्य में लोकमंगल व लोककल्याण के लिए मानवीय संस्कार की चिन्ता विद्यमान है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. "सम्पूर्ण सन्तसाहित्य नैतिकता से अनुप्राणित है।" सन्तकाव्य परम्परा के सन्दर्भ में सन्तकवि रज्जब के नीतिकाव्य का अनुशीलन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'सर्बंगी' के रचयिता हैं –
   (क) कबीर
   (ख) रज्जब
   (ग) सुन्दरदास
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. सन्तकवि रज्जब का जन्म कहाँ हुआ था ?
   (क) सांगानेर (जयपुर)
   (ख) लक्ष्मणगढ़ (सीकर)
   (ग) ओढाँ (सिरसा)
   (घ) बोरुंदा (जोधपुर)

3. रज्जब की नैतिक चेतना का स्वरूप है –
   (क) वैयक्तिक
   (ख) सामाजिक
   (ग) आध्यात्मिक
   (घ) उपर्युक्त सभी

4. सन्तकवि रज्जब के अनुसार किसने सम्पूर्ण जगत् को ग्रस लिया है ?
   (क) लोभ
   (ख) पाप
   (ग) माया
   (घ) उपर्युक्त सभी

5. सन्तकवि रज्जब किसके शिष्य थे ?
   (क) जम्भनाथ के
   (ख) लालदास के
   (ग) दादूदयाल के
   (घ) सुन्दरदास के

❖❖❖

खण्ड – 2 : सन्त कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 3 : सुन्दरदास के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

2.3.0. उद्देश्य कथन
2.3.1. प्रस्तावना
2.3.2. सुन्दरदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  2.3.2.1. व्यक्तित्व
  2.3.2.2. कृतित्व
2.3.3. सुन्दरदास का युगबोध एवं मानव-दर्शन
2.3.4. सुन्दरदास का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  2.3.4.1. वैयक्तिक नीति
  2.3.4.2. सामाजिक नीति
  2.3.4.3. अर्थ नीति
  2.3.4.4. धार्मिक नीति
  2.3.4.5. आध्यात्मिक नीति
  2.3.4.6. सांस्कृतिक नीति
2.3.5. सुन्दरदास का नीतिकाव्य और सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
2.3.6. पाठ सार
2.3.7. कठिन शब्दावली
2.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
2.3.9. बोध प्रश्न

2.3.0. उद्देश्य कथन

कबीर सन्तकाव्य-धारा के प्रवर्तक माने जाते हैं। इसी परम्परा में पीपा, सेन, धन्ना, रैदास, नानक, दादूदयाल, रज्जब, सुन्दरदास, पलटूसाहब, यारीसाहब, भीखासाहब, पापनदास आदि सन्तकवि भी दैदीप्यमान हैं। प्रस्तुत इकाई सन्तकवि सुन्दरदास के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य-चेतना का अध्ययन एवं विश्लेषण पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. सन्तकवि सुन्दरदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्वको जान सकेंगे।
ii. सन्तकवि सुन्दरदास की युगीन चेतना एवं मानव जीवन-दर्शन से परिचित हो सकेंगे।
iii. सन्तकवि सुन्दरदास के नीतिकाव्य में अभिव्यक्त मानवीय जीवन-मूल्यों के विभिन्न पहलुओं का अनुशीलन कर सकेंगे।

iv. सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना को समझते हुए सन्तकवि सुन्दरदास के रचनात्मक अवदानों से अवगत हो सकेंगे।

2.3.1. प्रस्तावना

सन्तकवि सुन्ददरदास सन्तकाव्य-परम्परा में सर्वाधिक शास्त्रज्ञ, प्रबुद्ध एवं अध्ययनशील रचनाकार हैं। 'मसि कागद छुओ नहीं' का कथन कबीर की भाँति प्रायः सभी निर्गुण कवियों पर लागू होता है लेकिन सन्तकवि सुन्दरदास इसके अपवाद हैं। वे काव्यशास्त्रीय मूल्यों एवं विभिन्न शास्त्रों के ज्ञान से भली-भाँति परिचित रहे। यही वजह है कि उनका दार्शनिक चिन्तन भी निरन्तर, क्रमबद्ध एवं सुव्यवस्थित है। उनका रचनात्मक प्रतिपाद्य इस तथ्य का गवाह है कि लोकमंगल व काव्य-कौशल की दृष्टि से वे हिन्दी के किसी भी सुकवि के समकक्ष स्वीकार किए जा सकते हैं। सही मायने में सुन्दरदास मानव-समाज के पथप्रदर्शक हैं। अपने सुधारवादी रवैये के कारण उन्होंने समाज को अनुचित आचरण से उचित आचरण के मार्ग पर लाने का सार्थक प्रयास किया है। अपनी सूक्तियों द्वारा वे व्यक्ति, परिवार व समाज को पग-पग पर उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय का बोध कराते रहते हैं।

2.3.2. सुन्दरदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

सन्तकवि सुन्दरदास प्रबुद्ध व्यक्तित्व सम्पन्न रचनाकार हैं। उनके व्यक्तित्व व कृतित्व में कोई भेद नहीं है। उनके व्यक्तित्व में आध्यात्मिक साधक, धर्म व समाज-सुधारक तथा उच्च कोटि के कवि के समस्त गुण मौजूद हैं। वस्तुतः उनका वास्तविक स्वरूप एक योगी-भक्त का रहा जो अन्ततः योग और भक्ति के मार्ग पर चलकर ब्रह्मोपासना में लीन हो जाता है। उनकी रचनाओं पर उनके व्यक्तित्व की छाप स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

2.3.2.1. व्यक्तित्व

डॉ० किशोरी लाल गुप्त के मतानुसार सन्त सुन्दरदास का जन्म जयपुर की प्राचीन राजधानी द्यौसा में बूसर गोत्र के खण्डेलवाल वैश्य परिवार में वि.सं. 1653 चैत्र शुक्ल नवमी को हुआ था। उनके पिता का नाम चोखा था जो परमानन्द के नाम से भी जाने जाते थे और उनकी माता का नाम सती था जो कि अजमेर के सौंखिया गोत्र के खण्डेलवाल वैश्य की पुत्री थी। सन्तकवि सुन्दरदास के जन्म के सम्बन्ध में एक जनश्रुति प्रसिद्ध है। रमेशचन्द्र मिश्र के शब्दों में "दादू के प्रमुख शिष्यों में से गुजरात के एक जग्गा (जगदीश) जी एक बार भिक्षाटन के लिए आंबरे के सोंकियों के घर पहुँच गए थे। वहाँ सुन्दरदास की माँ, अपने (कन्या जीवन में) पिता के घर में थीं। भिक्षा लेते समय जग्गा जी ने आशीर्वचन में कहा था कि 'दे माई सूत, ले माई पूत।' कहते हैं कि उस कन्या के विवाहित होने पर स्वयं जग्गा जी को अपना शरीर त्याग कर 'सुन्दर' के रूप में जन्म लेना पड़ा था। यह जनविश्वास ही 'चोखा के घर जग्गा जन्मो' के रूप में काफी प्रसिद्ध हुआ है।"

कहते हैं कि जब जग्गा जी भिक्षाटन के बाद लौटकर आए तो दादू जी ने यह बात समाधि में जान ली थी और जग्गा को आते ही कहा कि "शिष्य तू ठगा गया है, क्योंकि उस कन्या के भाग्य में पुत्र नहीं है। अब उसके पुत्र होने का यही उपाय है कि तू उसके गर्भ से पुत्र के रूप में उत्पन्न हो।" जग्गा जी ने दादू जी से विछोह की बात सोचकर उदास भाव से कहा – "जैसी आपकी आज्ञा, किन्तु आप मुझे अपने चरणों से पृथक् मत करना।" इसके बाद दादू जी की आज्ञा के अनुसार जग्गा ने लड़की के घर वालों को कह दिया कि जहाँ इसका विवाह हो, वहाँ कह दें कि इसका एक पुत्र होगा जो ज्ञानी ओर पण्डित होगा परन्तु बचपन में ही वैरागी हो जाएगा। जब दादूदयाल जी पहली बार द्यौसा आए तब उन्होंने परमानन्द (चोखा) और सती को पुत्र प्राप्ति का आशीर्वाद दिया और वही बात कही जो जग्गा से कहलायी थी। राघवदास-कृत 'भक्तमाल' में सन्तकवि सुन्दरदास के जन्म के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है –

दिउसा है नग्र चौखा बसूर है साहूकार,
सुन्दर जनम लियौ ताही घर आइकै।
पुत्र की ही चाहि पति दई है जनाइ त्रिया,
कह्यो समझाइ स्वामी कहौं सुखदाइकै।
स्वामी मुख कही सुत जनमैगो सही पै,
बैराग लेगो वही घर रहै नहिं माइकै।
एकादस बरस में त्याग्यौ घर माल सब,
वेदान्त पुरान सुने बानारसी जाइकै॥

दादू जी वि.सं. 1658-59 के ग्रीष्मकाल में द्यौसा आए थे तब बालक सुन्दरदास पाँच-छह साल के रहे होंगे और तभी दादू जी से उनका साक्षात्कार हुआ। हालाँकि, गुरु का सान्निध्य एवं गुरु के प्रत्यक्ष ज्ञान का अवसर सुन्दरदास को बहुत कम मिला क्योंकि वर्ष संवत् 1660 वि. में ही दादू जी ने नराणे (नारायना / नरेना) में देह त्याग दी थी। सन्तकवि सुन्दरदास दादू जी के सबसे कनिष्ठ और प्रिय शिष्यों में गिने जाते हैं। आयु में सबसे छोटे होने के कारण वे 'सुन्दरदास छोटे' के नाम से भी सुप्रसिद्ध हैं। उल्लेखनीय है कि एक अन्य 'सुन्दरदास बड़े' भी दादू जी के शिष्य थे जो कालान्तर में 'नागा जमात' में शामिल हो गए थे।

वि.सं. 1664 में बालक सुन्दरदास जगजीवनदास, रज्जबअली एवं अन्य गुरु भाइयों के साथ शिक्षा-प्राप्ति के लिए बनारस चले गए। स्वामी माधवदास ने तब उनकी आयु द्वादश लिखी है। काशी में सन्त सुन्दरदास वि.सं. 1664-82 तक रहे। ऐसी मान्यता है कि वे काशी के अस्सी घाट, गंगा तट पर कहीं गुफा बनाकर रहते थे और भिक्षा एवं सदाव्रत के आधार पर अपना जीवन-निर्वाह करते थे।

राघवदास कृत 'भक्तमाल' में सन्तकवि सुन्दरदास से सम्बन्धित एक छप्पय व तीन कवित्त संकलित हैं जिसमें उनका जीवन पूर्णरूपेण उजागर होता है। इसे पढ़ने के उपरान्त उनके जीवन के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। एक कवित्त का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है तथा दो अन्य कवित्त प्रस्तुत हैं –

दादू जी के पंथ में सुन्दर सुखदाई सन्त,
खोजत न आव अन्त ज्ञानी गलतांन हैं।
चतुर नियम यह षोडस अठारै नव,
सर्व को विचार सार धार्‌यो सुनि कान है।
सांखि जोग कम जोग भगति भजनपन,
प्रखि जानै सकल अकलि कै निधान है।
वैसि कुल जनमि विचित्र विज्ञ वाणी जाकी,
राघों कहैं ग्रंथन के अर्थन की भान है॥

* * *

आयो है नबाब, फतेहपुर में लग्यौ है पांय,
अजमति देदु तुम गुसैया रिझायो है।
पली जी गुलीचा की उठाय करि देख्यौ तब,
फतेहपुर बस्यौ नीचै प्रकट दिखायो है।
एक नीचै सर, एक नीचै ल्हसकर बड़,
एक नीचै गह्वर वन देखि भय आयो है।
राघो धोरे राखि लिए दबते नबाबहु के,
सुन्दर ज्ञानी को कोई पार नहीं पायो है॥

सन्तकवि सुन्दरदास का समाधिस्थल सांगानेर नगर में अवस्थित है। सांगानेर में ही उनकी छतरी (समाधि) बनी हुई है। फतेहपुर (सीकर) में सुन्दरदास जी की गुफा तथा कूप है। उनके पलंग, चादर, टोपी, रूमाल और चित्र आज भी फतेहपुर (सीकर) में मौजूद हैं। सन्तराम जी के शिष्य बालकराम जी की पंक्तियों में सन्तकवि सुन्दरदास के व्यक्तित्व का आकलन किया जा सकता है –

सतगुरु सुन्दरदास जगत में पर उपगारी,
धनि-धनि अवतार धनि सब कला तुम्हारी।
सदा एकरस रहै दुष्ष द्वन्दर को नाहीं,
उत्तम गुन सो आहि सकल दीसै मन माँही।
सांषि जोग अरु भक्ति पुनि सबद प्रहार संयुक्ति हैं,
कहि बालकराम विवेक निधि देषै जीवन मुक्ति है॥

2.3.2.2. कृतित्व

सन्तकवि सुन्दरदास द्वारा रचित पाण्डुलिपियाँ अप्राप्त हैं लेकिन उनके द्वारा रचित कुल बयालीस ग्रन्थ बताए जाते हैं। उनकी रचनाओं में 'ज्ञानसमुद्र' और 'सुन्दरविलास' सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित 'सुन्दर ग्रन्थावली' के अन्तर्गत सन्तकवि सुन्दरदास की सम्पूर्ण रचनाएँ कुल छह भागों में

प्रकाशित हैं – (i) ज्ञान समुद्र, (ii) लघु ग्रन्थावली, (iii) सवैया, (iv) साखी, (v) पद तथा (vi) फुटकर काव्य संग्रह। डॉ॰ रमेशचन्द्र मिश्र ने भी सुन्दरदास की सम्पूर्ण रचनाओं को तीन खण्डों में प्रकाशित करवाने का उल्लेखनीय कार्य किया है। ये तीन खण्ड हैं – (i) सुन्दर साखी ग्रन्थ, (ii) सुन्दर सवैया ग्रन्थ तथा (iii) सुन्दर पदावली।

2.3.3. सुन्दरदास का युगबोध एवं मानव-दर्शन

सन्तकवि सुन्दरदास का काव्य देश की राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप विरचित भावनात्मक एवं अनुभूतिप्रवण जनकाव्य है। उनकी युगीन चेतना एवं मानव जीवन-दर्शन के मूल में सामान्य मानव का हितसाधन निहित है। वे समाज में लिप्त न होकर समाज-कल्याण का मार्ग अपनाते हैं तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शोषित और प्रताड़ित मानव की समस्त प्रवृत्तियों, परिस्थितियों और भावनाओं का गम्भीर, विचारयुक्त और यथातथ्य चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका काव्यसंसार भक्ति व आध्यात्मिक अनुभूतियों का लेखा-जोखा मात्र नहीं है अपितु उसमें सम्पूर्ण मानवता का प्रतिबिम्ब झलकता है। धार्मिक रूढ़ियाँ, अन्धानुकरण-आधारित सामाजिक परम्पराएँ, जाति-व्यवस्था, क्रोध, लोभ, हिंसा, घृणा आदि की निन्दा करते हुए उन्होंने सदाचार आदि गुणों की प्रतिष्ठा एवं आत्मानुभूति की प्रामाणिकता पर बल दिया। सन्तकाव्य-साधना में लीन एवं सर्वजन की मंगलकामना के आकांक्षी सन्तकवि सुन्दरदास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व वह प्रकाशस्तम्भ है जो निराशा, वासना, प्रतिशोध, लोभ, माया और प्रतिहिंसा के अन्धकार में भटकते हुए मानव समाज का युगों से मार्गदर्शन कर रहा है और भविष्य में भी करता रहेगा।

सन्तकवि सुन्दरदास का नैतिक काव्य-चिन्तन अपनी सरलता, जीवन-दर्शन की गम्भीरता और तत्त्वबोध के कारण अत्यधिक प्रभावशाली है। भ्रमणशील स्वभाव के कारण सामान्यजन में सत्य का निरूपण करना, कथनी व करनी में भेद को मिटाना तथा प्रभुनाम-स्मरण के माधुर्य को लोगों तक पहुँचाना उनके मानव जीवन-दर्शन का सार है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी सुन्दरदास के काव्य-वैशिष्ट्य को उद्घाटित करते हुए कहते हैं – "सन्तकवि सुन्दरदास जहाँ जाते थे वहाँ अन्य सन्तों की भाँति केवल साधु-मण्डली, सत्संग और उपदेश तक ही अपनी दृष्टि को सीमित नहीं रखते थे, अपितु उन स्थानों के निवासियों के आचार-व्यवहार, भाषा, वेशभूषा आदि की विशेषताओं का भी निरीक्षण करते थे। देशाटन के अनुभवों का वर्णन उन्होंने सवैयों में किया है और उनमें अलग-अलग स्थानों की रीतियों और आचारों के विषय में व्यंग्य और विनोदपूर्ण उक्तियाँ कही हैं।" इस प्रकार उदात्त अनुभूति की सरल एवं हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति सन्तकवि सुन्दरदास की युगीन चेतना एवं मानव जीवन-दर्शन की अनन्य विशेषता है।

2.3.4. सुन्दरदास का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

सन्तकवि सुन्दरदास ने साहित्य में जिन नैतिक मानवीय मूल्यों एवं भाव रस का ऐश्वर्य-विस्तार किया था, यह उनकी असाधारण विशेषता कही जा सकती है। उनका वैशिष्ट्य इस अर्थ में भी है कि उनके व्यक्तित्व में उच्च

कोटि के साधक, कवि और नीतिकार एक साथ प्राप्त होते हैं। ऐसा दुर्लभ संयोग सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में अन्यत्र मिलना विरला है। लोक-कल्याण के निमित्त वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व आध्यात्मिक नीति के तमाम पक्ष उनके काव्य में सहज ही उद्घाटित हुए हैं। इस सन्दर्भ में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही लिखा है कि "भारत के मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में जो लोग गवेषणा करना चाहते हैं, उन्हें पुरोहित श्रीयुत् हरिनारायण शर्मा विद्याभूषण सम्पादित समग्र 'सुन्दर ग्रन्थावली' अवश्य ही आदरणीय लगेगी।"

2.3.4.1. वैयक्तिक नीति

जीवन में विचारपूर्वक किये गए कर्म की महत्ता है। कोई भी कर्म जब भली प्रकार सोच-विचार कर किया जाता है तो बाद में उसके परिणाम पर दुःख नहीं होता। सन्तकवि सुन्दरदास का मानना है कि व्यक्ति को अपना प्रत्येक कार्य विचारपूर्वक करना चाहिए तभी कल्याण सम्भव है –

देखै तो बिचार करि, सुनै तो बिचार करि,
बोलै तो बिचार करि, करै तो बिचार है।
खाइ तो बिचार करि, पीवै तो बिचार करि,
सोवै तो बिचार करि, तौ ही तो उबार है॥
बैठे तो बिचार करि, उठै तो बिचार करि,
चलै तो बिचार करि, सोई मत सार है।
देइ तौ बिचार करि, लेई तौ बिचार करि,
'सुन्दर' बिचार करि, याही निराधार है॥

सज्जन का स्वभाव परोपकारी होता है जबकि दुष्ट का चरित्र भेड़िए की तरह घातक होता है। वह सामने तो खुशामद करता है लेकिन मन ही मन विनाश की कामना करता है। ऐसे दुष्टों से सावधान करने के लिए सन्तकवि सुन्दरदास दुष्ट व्यक्ति का लक्षण उजागर करते हैं –

घात अनेक रहैं उर अंतर दुष्ट कहै मुख सौं अति मीठी।
लोटत पोटत व्याघ्रहिं ज्यौं नित ताकत है पुनि ताहि की पीठी।
आपनु काज सँवारन कै हित और कौ काज बिगारत जाई।
आपनु कारज होउ न होउ बुरौ करि और कौ डारत भाई॥

ऊपर से देखने पर सज्जन और दुर्जन में कोई भेद नहीं किया जा सकता। दोनों का बाहरी रूप, रंग और व्यवहार एक समान होता है। सज्जन व्यक्ति भीतर और बाहर समान रूप से निष्कपट होता है जबकि दुर्जन बाहर से कुछ और, तथा भीतर से कुछ और ही होता है। दुर्जन व्यक्ति अवसर आने पर अपने भीतर की कल्मषता को उजागर करता है –

हंस स्वेत, बक स्वेत, देखिये समान दोउ,
हंस मोती चुगै, बक मछरी कौं खात है।

पिक अरु काक दोउ कैसे करि जाने जाहिं,
पिक अंब डार, काक करंकहि जात है ॥
सिंधौ अरु फटक पखान सम देखियत,
वह तौ कठोर वह जल मैं समात है ।
'सुन्दर' कहत ज्ञानी बाहिर भीतर सुद्ध,
ताकी पटतर और बातनि की बात है ॥

2.3.4.2. सामाजिक नीति

समाज विभिन्न व्यक्तियों, जातियों, वर्गों, सम्प्रदायों और समुदायों का समूह होता है । वहाँ न कोई श्रेष्ठ होता है न कोई हीन । प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे का पूरक होता है । व्यक्तियों के पारस्परिक स्नेहिल सम्बन्धों से ही स्वस्थ और सुन्दर समाज का निर्माण होता है । सन्तकाव्य-परम्परा में पारस्परिक सौहार्द सौमनस्य बढ़ाने की कामना अभिव्यक्त की गई है । सन्तकवि सुन्दरदास ने भी जन्मगत जातियों की श्रेष्ठता या हीनता को स्वीकार नहीं किया है प्रत्युत सभी को समान महत्त्व दिए जाने की वकालत की है –

ज्यौं कणिहार न भेद करै कछु
आइ चढ़ै तिहिं नाव चढ़ावै।
ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य हू शूद्र
मलेछ, चण्डालहि पार लंघावै ॥

सुन्दरदास के अनुसार 'कर्म' ही व्यक्ति को श्रेष्ठ और 'कर्म' ही व्यक्ति को हीन बनाते हैं । मनुष्य के कर्म भी केवल शारीरिक धरातल पर नहीं आँके जा सकते हैं इसलिए सुन्दरदास मानसिक धरातल पर कर्त्ता के कर्म में निहित मंतव्य के आधार पर व्यक्ति व समाज की श्रेष्ठता और हीनता का निर्धारण करते हैं –

देह ई कौं आपु मानि देह ई सौ होइ रह्यौ
जड़ता अज्ञान तम शुद्र सोई जानिये ।
इन्द्रिनि के ब्यापारनि अत्यन्त निपुनि बुद्धि
तमो रज दुहुँ करि बैश्य हू प्रमांनिये॥
अन्तकरण माँहि अहंकार बुद्धि जाकै
रजोगुण बर्द्धमान क्षत्री पहिचानिये ।
सत्व गुण बुद्धि एक आतमा बिचार जाकै
सुन्दर कहत वह ब्राह्मन बषानिये ॥

* * *

क्षत्री तूँ कहावतों तूँ प्रजा प्रतिपाल करि,
सीस पर एक ज्ञान क्षत्र कों फिराइये।
वेश्य तूँ कहावै तूँ एक ही ब्यापार जानि
आतमा कौ लाभ होई अनायास पाइये॥

सन्तकवि सुन्दरदास सर्वत्र सत्संग की महिमा का बखान करते हैं। उनकी दृष्टि में सत्संग पारस पत्थर के समान है। लोहा (क्षुद्र) का जब पारस (सन्त) से स्पर्श होता है वह लोहा सोना बन जाता है। इसी तरह क्षुद्र व्यक्ति सन्त के संग से महान् बन जाते हैं। जैसे मलिन जल जब गंगा में प्रवेश करता है तो उसकी मलिनता विलीन हो जाती है और वह भी निर्मल जल बन जाता है। ठीक वैसे ही सत्संगति से कलुषित हृदय भी निर्मल जाता है –

संतनि ही ते पाइये, राम-मिलन की घाट।
सहजै हि खुलि जात है, सुन्दर हृदय कपाट॥

* * *

संत मुक्ति के पौरिया, तिनसौं करिये प्यार।
कुंजी उनके हाथ है, सुन्दर षोलहिं द्वार॥

जन्म के साथ ही प्राणी के शरीर की पहली आवश्यकता भोजन होती है। जीवनपर्यन्त जब तक देह में प्राण है, भूख अपना अस्तित्व बनाए रखती है। यह जठराग्नि दावानल और बड़वानल से भी अधिक भयावह होती है। क्षुधा प्राणी से क्या-क्या नहीं करवाती ! संसार का कोई भी प्राणी पेट की अग्नि को शान्त नहीं कर पाया। राजा, भिखारी, शूरवीर, साधक, सिद्ध, देवता, राक्षस और तीनों लोकों के सूक्ष्म से सूक्ष्म जीव भी पेट की विकराल अतृप्ति के समक्ष नतमस्तक हैं। आशय यह है कि जब रूखा-सूखा खाकर भी भूख का अपेक्षित शमन किया जा सकता है तब उसी भूख को शान्त करने के लिए अतिविशिष्ट, स्वादिष्ट और बहुमूल्य खाद्य पदार्थों को जुटाने में अमूल्य समय, श्रम और धन क्यों नष्ट किया जाए ! यह भी विचारणीय है कि अतिविशिष्ट, स्वादिष्ट और बहुमूल्य खाद्य पदार्थों में रुचि रखने वाला वर्ग अन्य वर्ग का शोषण करके ही धन जुटा पाएगा। प्राकारान्तर से वह अपने स्वार्थ के लिए सामाजिक वैमनस्य और भेद को बढ़ावा देगा। इसलिए सुन्दरदास इस कभी न शान्त होने वाली जठराग्नि को शान्त करने के प्रयास में मूल लक्ष्य से न भटकने का उपदेश करते हैं –

पेट सो न बली जाके आगे सब हारि चले,
राव अरू रंक एक पेट जिति लियौ है।
कोउ बाघ मारत, बिदारत है कुंजर कौ,
ऐसे सुरबीर पेट काज प्रान दिए हैं॥
यंत्र मंत्र साधत, अराधत मसान जाई,
पेट आगे डरत निडर ऐसै हिये हैं।
देवता असुर, भूत-प्रेत तीनौ लोक पुनि,
सुन्दर कहत प्रभु पेट जेर किये हैं॥

सन्तकवि सुन्दरदास समाज में व्याप्त पाखण्ड व दिखावे की प्रवृत्ति पर तीव्र प्रहार करते हुए समाज को एक नवीन दृष्टि देते हैं। अपनी नीतिपरक उक्तियों के माध्यम से उन्होंने समाज की भावना एवं विचार को परिमार्जित करने का प्रयास किया है।

2.3.4.3. अर्थ नीति

अन्य जागतिक वस्तुओं के समान ही धन भी अनित्य पदार्थ है। वस्तुतः धन का निर्माता स्वयं मनुष्य है। दुःखद पहलु यह है कि वह स्वयं अपने द्वारा निर्मित की गई वस्तु का गुलाम हो गया है। धन्संग्रह को ही उसने अपना लक्ष्य मान लिया है। अहर्निश वह इसी के लिए प्रयत्न करता रहता है। धन के फेर में पड़कर न तो वह अपना लोक सुधार पाता है और न परलोक ही –

कन ही कन की विललात फिर,
सठ जाँचत है जन ही जन कौ।
तन ही तन कौ अति सोच करें,
नर खात रहै अन ही अन कौ॥
मन ही मन कौ तृष्णा न मिटी,
पुनि-धावत है धन ही धन कौ।
छिन ही छिन कौ सुन्दर आयु घटी,
कबहूँ न गयौ वन ही वन कौ॥

सच्चा सन्त वह है जो धन-सम्पत्ति, विषय-सुख, मोह-माया, लोभ-क्रोध, काम-वासना, पाप-पुण्य, यश-अपयश, मान-अपमान, उच्च पद, परम पद, हानि-लाभ, सुख-दुःख, जय-पराजय आदि से निर्विकार है –

धूलि जैसौ धन जाकैं, सूलि से संसार सुख
भूलि जैसौ भाग देखै, अन्त की सी यारी है।
पाप जैसी प्रभुताई, साँप जैसो सनमान,
बड़ाई हू बीछनी सी, नागनी सी नारी है॥
अग्नि जैसौ इंद्रलोक, विघ्न जैसौ विधि लोक,
कीरति कलंक जैसी, सिद्धि सी ठगारी है।
वासना न कोउ बाकी, ऐसी मति सदा जाकी,
'सुन्दर' कहत ताहि वन्दना हमारी है॥

2.3.4.4. धार्मिक नीति

अन्य सन्तकवियों की भाँति सुन्दरदास भी धार्मिक ऐक्य के निहितार्थ एक ईश्वर की मान्यता का समर्थन करते हैं। वह एक ही प्रभु सृष्टि के समस्त प्राणियों के हृदय में समान रूप से निवास करता है। सुन्दरदास प्रेरित

करते हैं कि अन्य समस्त विधि-विधानों का परित्याग कर सभी मनुष्यों को उस एक दयालु ईश्वर का गुणगान करना चाहिए –

एक ही सबकै उर अन्तर, ता प्रभु की कहि काहि न गावै।
संकट मांहि सहाइ करै पुनि, सो अपनो पति क्यों बिसरावै।
चारि पदारथ और जहाँ लग, आठहु सिद्धि नवै निधि पावै।
सुन्दर छार परौ तिनिकै मुख, जो हरि कौ तजि आनहिं ध्यावै॥

मानव देह दुर्लभ है। इस शरीर के विभिन्न अवयव बड़े से बड़ा कार्य करने में सक्षम हैं किन्तु इनकी वास्तविक उपादेयता तभी है जब इनके माध्यम से परोपकार किया जाए। सुन्दरदास कहते हैं कि कान वही सच्चा है जो प्रतिदिन वेदों का सार सुने। आँख वही सार्थक है जिससे व्यक्ति अपना रूप देखे। नाक वही सार्थक है जो भगवान् की मर्यादा का ध्यान रखती हो। जीभ तभी सार्थक है जब जीभ से मात्र भगवान् का नाम जपा जाय। हाथ वही सार्थक है जिससे व्यक्ति भगवान् के लिए कर्म करे, भगवान् के निमित्त कार्य करे। पैर वही सार्थक है जो भगवान् के दर्शन हेतु आगे बढ़े। सिर वही सार्थक है जो अपने इष्ट प्रभु के प्रति समर्पित हो, जिससे सम्पूर्ण कार्य पूर्ण हो जाय, भगवान् के भक्त को दर्शन हो जाए तथा भक्ति अन्ततः भवसागर से पार हो जाय –

श्रोत उहै श्रुति सार सुनै नित, नैन उहै निजरूप निहारै।
नाक उहै हरि नाकहिं राखत, जीभ उहै जगदीश उचारै॥
हाथ उहै करिये हरि को कृत, पाँव उहै प्रभु के पथ धारै।
सीस उहै करि स्याम समर्पन, सुन्दर यौं सब कारज सारे॥

स्वार्थ-प्रेरित कर्म करना दुर्लभ मानव देह का दुरुपयोग है। आहार, निद्रा, भोजन, मैथुन जैसे कर्मों में तो पशु भी प्रवृत्त हैं। मनुष्य पशुओं से इसी मायने में भिन्न है कि वह परोपकार और प्रभुस्मरण कर सकता है। इसलिए भक्तों को सचेत करते हुए सुन्दरदास मनुष्य को निद्रा, आलस्य, माया, मोह, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, ईर्ष्या आदि सांसारिक विषय-विकारों से निर्लिप्त होने का उपदेश करते हैं –

सोवत-सोवत सोइ गयौ सठ, रोवत रोवत कै बर रोयौ।
गोवत-गोवत गोइ धर्‌यौ धन, खोवत-खोवत तैं सब खोयौ।
जोवत-जोवत बीति गये दिन, बोवत-बोवत लै विष बोयौ।
सुन्दर-सुन्दर राम भज्यौ नहिं, ढोवत-ढोवत बोझहिं ढोयौ॥

कृतज्ञता एक उत्तम गुण है। व्यक्ति को अपने प्रति उपकार करने वाले के समक्ष विनम्र और कृतज्ञ होना चाहिए। मनुष्य जन्म देकर सबसे बड़ा उपकार तो उस परम दयालु ईश्वर ने किया है। प्रभु नाम-स्मरण उसके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना है इसलिए भक्त को सदैव भगवान् का स्मरण करना चाहिए। खाते-पीते एवं ध्यान करते, जागते, सोते, देखते समय, देते और लेते समय, प्रत्येक क्षण उस ईश्वर का उपकार स्मरण करना चाहिए। सुन्दरदास के अनुसार रामनाम-स्मरण से ही व्यक्ति का परम हित है। इसी से व्यक्ति का जीवन सार्थक एवं सफल है –

बैठत रामहिं, उठत रामहिं, बोलत रामहिं राम रह्यो है।
जीमत रामहिं पीवत रामहिं, धीमत रामहिं राम गह्यो है।
जागत रामहिं सोवत रामहिं, जोवत रामहिं राम लह्यो है।
देतहुँ रामहिं लेतहुँ रामहिं, सुन्दर रामहिं राम कह्यो है॥

वह परब्रह्म राम प्राणी मात्र के भीतर ही रम रहा है। इससे समस्त जीव उस ब्रह्म राम का ही रूप हैं। उसी ब्रह्म राम ने उत्पन्न किया है। वे ब्रह्म राम सम्पूर्ण सृष्टि के पालक-पोषक और संहारक भी हैं। वे राम ही इस संसार और जीवन को सँवारते हैं। राम ही दृष्टि हैं। राम की कृपा से ही उस निराकार राम को देख पाते हैं। राम प्रकट भी हैं और साथ ही अदृश्य भी हैं। राम इष्ट हैं। राम का कोई रंग नहीं हैं। राम शून्य भी हैं और अशून्य भी। राम नामसहित भी हैं तथा वे नामरहित भी हैं। इस संसार में, तीनों लोकों में, हर जगह, हर रूप में राम ही विद्यमान हैं –

आपहुँ राम, उपावत रामहिं भंजन राम, सँवारन रामहिं।
दृष्टिहूँ रामहिं, अष्टिहुँ रामहिं, इष्टहूँ राम करैं सब कामहिं॥
वर्णहूँ राम, अवर्णहुँ रामहिं, रक्त न पीत न स्वेत न स्याम।
शून्यहुँ रामहिं अशून्यहुँरामहिं, सुन्दर रामहिं नाम अनामै॥

सुन्दरदास बाह्याडम्बर और दिखावे का सदैव विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि अपनी सिद्धि के लिए कोई शरीर में भस्म मलता है। कोई एकदम निरा नंगा होकर घूमता है। कोई श्वेताम्बरी हो जाता है, कोई गेरुआ वस्त्र ओढ़ता है। कोई अनेक प्रकार के रंगीन टुकड़ों की बनी गुदड़ीधारण किये रहता है। कोई छाल का परिधान धारण करके जटा और नख बढ़ाये रहता है। कोई व्याघ्र चर्म ओढ़ता है। लेकिन जब तक अज्ञान न दूर हो जाय, तब तक यह सब आडम्बर है, पाखण्ड है –

कोउक अंग बिभूति लगावत, कोउक होत निराट दिगम्बर।
कोउक स्वेत कषाइक ओढ़त, कोउक हाथ रंगै बहु अंबर॥
कोउक बल्कोल सीस जटा नख, कोउक ओढ़त है जु बघंबर।
'सुन्दर' एक अज्ञान गये बिनु, ये सब दीसत आहिं अडम्बर॥

2.3.4.5. आध्यात्मिक नीति

सन्तकवि सुन्दरदास का प्रबल विश्वास है कि वह निर्गुण ब्रह्म एक है। अतः उसी को विचार कर, उसी में विश्वास कर, सुख-दुःख में समभाव से रहना चाहिए। उस निर्गुण ब्रह्म के भजन और गुणगान द्वारा हृदय की कालिमा धोयी जा सकती है। उस निर्गुण ब्रह्म पर विश्वास कर व्यक्ति भवसागर पार कर जाता है। उस निर्गुण ब्रह्म का विचार कर व्यक्ति पारंगत हो जाता है तथा उस निर्गुण ब्रह्म का विचार करके ही व्यक्ति की बुद्धि संसार का त्याग कर देती है। उस निर्गुण ब्रह्म के विचार से सम्पूर्ण संशय मिट जाता है। इसलिए सुन्दरदास एकमात्र उसी निर्गुण ब्रह्म का विचार करने पर जोर देते हैं, किसी अन्य देवी-देवता में भ्रमित होने की आवश्यकता नहीं है –

एकही बिचार करि सुख-दुःख सम जानै,
एकही बिचार करि मल सब धोइये।
एकही बिचार करि संसार समुद्र-तिर,
एकही बिचार करि पारंगत होइये।
एकही बिचार करि बुद्धि नाना-भाव तजै,
एकही बिचार दूसरौ न कोई है।
एकही बिचार करि सुन्दर सन्देश मिटै,
एकही बिचार करि एक ब्रह्म जोइये॥

ब्रह्म को लेकर समाज में अनेक भ्रान्तियाँ व्याप्त हैं। सन्तकवि सुन्दरदास बहुत ही प्रभावपूर्ण ढंग से इस शंका का समाधान करते हैं और यह मत स्थापित करते हैं कि वह निर्गुण ब्रह्म अनन्त, अगम, अगोचर, अनिर्वचनीय एवं शाश्वत है –

एक ही देई ? न एक न दोइ,
उहीं कि इही ? न उही न इही।
शून्य कि थूल ? न शून्य, न थूल,
जहीं कि तहीं ? न जहीं न तहीं।
मूल की डाल, न मूल न डाल,
वहीं कि महीं ? न वहीं न महीं।
जीव की ब्रह्म, न जीव, न ब्रह्म,
तौ है कि नहीं ? कछु है न, नहीं है॥

सन्तकवि सुन्दरदास कहते हैं कि जब तक इन्द्रियाँ वश में नहीं होती तब तक नाना प्रकार के दुःख सहते रहते हैं और जीवनपर्यन्त कभी भी सुख नहीं मिलता है किन्तु जब गुरु की कृपा से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं तब जाकर कहीं सुखानुभूति होती होती है –

तुम पंचिन कौ मात पिता, मन कौ आतम जानि।
आतम पित परमात्मा, ताहि लेहु पहिचानि॥
प्रसारे हू ये शक्ति मय, संकोचे शिव होइ।
सद्गुरु यह उपदेश करि, किये वस्तुमय सोई॥

सन्त सुन्दरदास की प्रबल धारणा है कि प्राणी अपने भाव से भूल करके ही भ्रम में पड़कर अपने देह पर अभिमान करने लगता है। अपने ही भाव से वह चंचलता ग्रहण करता है ओर अपने भाव से ही बुद्धि में स्थिरता लाता है। अपने ही भाव से वह अपने को विस्मृत कर देता है तथा अपने भाव से ही वह आत्मज्ञानी हो जाता है। कुल मिलाकर जैसा अपना भाव होता है, प्राणी वैसा ही हो जाता है। 'भाव कौ अंग' से उद्धृत यह छन्द देखिए –

आपुने भाव तें भूलि परयौ भ्रम,
देह स्वरूप भयौ अभिमानी।
आपुने भाव तें चंचलता अति,
आपुने भाव तें बुद्धि सिरानी॥
आपुने भाव तें आप बिसारत,
आपुने भाव तें आतम ज्ञानी।
'सुन्दर' जैसौ हि भाव है आपुनौ,
तैसो हि होइ गयौ यह प्रानी॥

सुन्दरदास आत्मचिन्तन की सीख देते हुए कहते हैं कि जिस देह की जैसी प्रतिकृति होती है, उस देह में चेतन यानी आत्मा भी वैसी ही दिखाई देती है। आत्मा हाथी की देह में हाथी सदृश, चींटी की देह में चींटी सदृश, सिंह के देह में सिंहसदृश, बंदर के देह में बंदरसदृश लगती है। जहाँ शरीर का जैसा रूप होता है, वहाँ आत्मा नख से शिखा तक उसी रूप में ही रहती है। 'स्वरूप विस्मरण कौ अंग' से उद्धृत यह छन्द देखिए –

जा घट की उनहार है जैसिहि,
ता घट चेतनि तैसोहि दीसै।
हाथी की देह मैं हाथी सौ मानत,
चींटी की देह मैं चींटी की रीसै॥
सिंघ की देह मैं सिंघ सौ मानत,
कीस की देह मैं मानत कीसै।
जैसि उपाधि भई जहाँ 'सुन्दर',
तैसौहि होइ रह्यौ नख सीसै॥

2.3.4.6. सांस्कृतिक नीति

काम, क्रोध, लोभ, मद व मोह मन के विकार हैं। इसलिए इन विकारों से प्रेरित हो मनुष्य जो भी अपराध करता है वे सब मन के अपराध हैं। सन्तकवि सुन्दरदास कहते हैं कि काम जब जगता है तब मन किसी सम्बन्ध का विचार नहीं करता। जब क्रोध होता है तो मन को संभाला नहीं जा सकता। जब लोभ जागता है तो तब सबकुछ पाकर भी मन को तृप्ति नहीं होती। इसलिए सुन्दरदास मन को सबसे बड़ा अपराधी मानते हुए व्यक्तियों को सचेत करते हैं –

काम जब जागै तब गनत न कोउ साख,
जानै सब जोई करि, देखत न माधी है।
क्रोध जब जागै तब नैकु न संभारि सकै,
ऐसी विधि मूल की अविद्या जिनि साधी है॥
लोभ जब जागै तब त्रिपि न क्यौ हूँ होइ,
'सुन्दर' कहत इनि ऐसै हि में खाधी है।

मोह मतवारै निस-दिन हि फिरत रहै,
मन सौ न कोउ हम देख्यौ अपराधी है ॥

भारतीय संस्कृति में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। सन्त सुन्दरदास कहते हैं कि गुरु-कृपा के बिना ज्ञान-प्राप्ति सम्भव नहीं है। गुरु-कृपा के बिना ध्यान नहीं हो सकता है। गुरु-कृपा के बिना आत्म-विचार भी नहीं किया जा सकता है। गुरु-कृपा के बिना प्रेम नहीं हो सकता है। गुरु-कृपा के बिना शिष्य नियम पर नहीं चल पाता है। सन्त परम्परा के अनुसार ब्राह्ममुहूर्त में जागना, नियमित रूप से ईश-वन्दना आदि कर्म भी गुरु-कृपा के बिना सम्भव नहीं है। गुरु-कृपा के बिना न हृदय शीतल होता है और न ही हृदय में सन्तोष उत्पन्न होता है। गुरु-कृपा के बिना ज्ञान की पिपासा शान्त नहीं होती है। गुरु-कृपा के बिना बुद्धि शुद्ध नहीं होती, उसे उचित समाधान नहीं मिलता है। गुरु-कृपा के बिना भ्रम नष्ट नहीं होता है। गुरु-कृपा के बिना हृदय दुविधा में निमग्न रहता है। लोक एवं वेद की यही मान्यता है कि गुरु-कृपा के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है –

गुरु बिनु ज्ञान नाहिं, गुरु बिनु ध्यान नाहिं,
गुरु बिनु आमत-विचार न लहतु है।
गुरु बिनु प्रेम नाहिं, गुरु बिनु नेम नाहिं,
गुरु बिन सीतल सन्तोष न गहतु है ॥
गुरु बिनु प्यास नहिं, बुद्धि को प्रकास नाहिं,
भ्रमहूँ कौ नास नाहिं, संसय रहतु है।
गुरु बिनु बाट नाहिं, कौड़ा बिनु हाट नाहिं,
सुन्दर प्रकट लोक वेद यों कहतु है ॥

सुन्दरदास गुरु और भगवान् की तुलना करते हुए कहते हैं कि गुरु भगवान् से भी श्रेष्ठ होता है। भगवान् की माया के कारण जीव नरक में जाता है जबकि गुरु-कृपा से जीव यमराज के फंदे से छूट जाता है। भगवान् की माया के कारण जीव स्त्री के वश में पड़कर स्त्रैण्य हो जाता है जबकि गुरु-कृपा से जीव संसार में माया-मोह, विषय-वासना से रहित होकर स्वच्छन्द विचरण करता है। भगवान् की माया के कारण ही जीव भवसागर में विचरण करता रहता है जबकि गुरु इस दुःख-द्वन्द्व से भी शिष्य को मुक्त करता है। भगवान् द्वारा निर्मित माया जीव को अपने जाल में फँसाती है जबकि गुरु अपने शिष्य को माया के पाश से मुक्त करते हैं। भगवान् की कृपा से अधिक महत्त्वपूर्ण गुरु-कृपा है –

गोविन्द के किये जीव जात है रसातल कौ,
गुरु उपदेशे सु तो छुटै जम फंद ते।
गोविन्द के किये जीव बस परे कामिनि के,
गुरु के निवाजे सौ फिरत है स्वच्छन्द ते।
गोविन्द के किये जीव बूड़त भौसागर मैं,
सुन्दर कहत गुरु काढ़े दुःख द्वन्द्व तें।
औरउ कहाँ लौ कछु मुख ते कहैं बनाइ,
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविन्द तें ॥

सन्तकवि सुन्दरदास का कहना है कि व्यक्ति क्षुधा की तृप्ति के लिए दसों दिशाओं में दौड़ता है लेकिन उसे सन्तोष नहीं मिलता है। यदि कुबेर का धन भी मिल जाए तो भूख का भण्डार भरता नहीं है। कभी न बुझने वाली जठराग्नि के लिए सबके आगे बार-बार हाथ पसारना पड़ता है। सन्तोष करके और अपनी आवश्यकताओं को सीमित करके ही इसका समाधान सम्भव है –

भूख लिये दसहूँ दिस दौरत,
ताहि तै तूँ कबहूँ न अधैहैं।
भूख भण्डार भरै लहिं कैसहूँ,
जो धन मेरू कुबेर लौ पैहैं।
तूँ अब आगैहिं हाथ पसारत,
ताहि तैं हाथ कछू नहिं ऐहै।
सुन्दर क्यों नहिं तोष करै नर,
खाइहिं जाइ कतौइक खैहै॥

तृष्णा राजा और रंक को समान रूप से नाच नचाती है। तृष्णा इन्द्र, देवतागण तथा असुरों को भी अपने भ्रमजाल में फाँस लेती है। स्वर्ग-पाताल और तीनों लोकों में सर्वत्र तृष्णा ही सबको भ्रमित किए हुए है। यह तृष्णा ही व्यक्ति को सम्पूर्ण संसार में बदनाम करती है। तृष्णा के कारण ही व्यक्ति सर्वत्र दुःख पाता है। सच्चा सुख तृष्णा-त्याग में निहित है। इसलिए सुन्दरदास तृष्णा का परित्याग कर परमात्मा का नाम जपने की सीख देते हैं –

भूख नचावत रंकहिं राजहिं,
भूख नचाई कै विश्व विगोई।
भूख नचावत इन्द्र सुरासुर,
और अनेक जहाँ लग जोई।
भूख नचावत है अध उरध,
तीनहूँ लोक गनै कहाँ कोई।
सुन्दर जाइ तहाँ दुःख,
ज्ञान बिना न कहूँ सुख होई॥

मनुष्य के समस्त दुःखों का कारण तृष्णा ही है। तृष्णा से सभी मनुष्य परेशान होते हैं। गम्भीरतापूर्वक विचार करके सुन्दरदास तृष्णा के परित्याग की सीख देते हैं। 'तृष्णा कौ अंग' से उद्धृत यह छन्द देखिए –

पल-पल छीजै देह यह, घटत-घटत घटि जाइ।
सुन्दर तृष्णा ना घटे, दिन-दिन नौबत थाइ॥
बालपन जोबन गयी, बृह भये सब कोइ।
सुन्दर जीरन ह्वै गये, तृष्णा नवतन होइ॥
सुन्दर तृष्णा यौं बढ़े, जैसे बाढ़ै आगि।
ज्यों-ज्यों नाषै फूल कौ, त्यौं-त्यौं अधिकी जान॥

तृष्णा के कारण ही व्यक्ति पराधीनता का जीवन व्यतीत करता है। तृष्णा के कारण ही रात-दिन असहनीय वाणी सहता है। तृष्णा के कारण ही उसका जीवन दुःखमय हो जाता है। सन्तकवि सुन्दरदास खेद व्यक्त करते हैं कि व्यक्ति तृष्णा के स्वरूप और प्रभाव को समझता ही नहीं है, उसे तृष्णा में ही आनन्द की अनुभूति होती है –

तृष्णा कै बसि होइ कै, डोले घर-घर द्वार।
सुन्दर आदरमान बिन, होत फिरै नष्वार॥
तृष्णा पेट पसारियौ तृप्ति न क्यौं हि होइ।
सुन्दर कहतैं दिन गये, लाज सरम नहिं कोइ॥

2.3.5. सुन्दरदास का नीतिकाव्य और सन्तकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

सन्तकवि सुन्दरदास सही मायने में मानवता के उपासक हैं। उनका सम्पूर्ण काव्य मानवीय-मूल्यों की स्थापनार्थ रचा गया प्रतीत होता है। शान्त रस के वर्णन में सुन्दरदास सिद्धहस्त हैं लेकिन शृंगार रस के वे धुर विरोधी हैं। सुन्दरदास के काव्य में जो धार्मिक पाखण्डों और सामाजिक कुरीतियों के प्रति आक्रोशित भाव अभिव्यक्त हुआ है उसमें कबीर के समान पैनापन और व्यंग्य नहीं है। वेदशास्त्र और पुराणों के प्रति जो श्रद्धा भाव उनके काव्य में मिलता है, वह किसी अन्य सन्तकवि के काव्य में नहीं मिलता है। पुरोहित हरिनारायण शर्मा के अनुसार "काव्य-रचना बाहुल्य में दादूदयाल के शिष्यों में ही नहीं, भाषा वाङमय के सिद्धहस्त रचनाकारों में उनका स्थान बहुत ऊँचा है। उनकी अपनी निराली और सुन्दर कविता शैली में सुन्दरदास जी अनेक बातों में निराले, एकाकी और अद्वितीय हैं। अपनी काव्य गुण गरिमा और ज्ञान गम्भीरतादि के कारण सुन्दरदास जी दादूदयाल के सबसे पिछले शिष्य होने पर भी सबसे प्रथम गिने जाते हैं। डॉ॰ रमेशचन्द्र मिश्र के अनुसार केवल काव्य की स्वीकृत दृष्टि से देखा जाय तो वे शान्त रस के एकमात्र आचार्य माने जा सकते हैं। निर्गुणपंथी सन्तों में केवल सुन्दरदास को ही कवि माना जा सकता है। उन्होंने पिंगलशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, दर्शनशास्त्र तथा भाषा का विशेष अध्ययन किया था। यही कारण है कि उनका साहित्य परिष्कृत एवं परिमार्जित है। आलोचकों की दृष्टि में सुन्दरदास का वेदान्त विषयक ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है जिसमें उच्च कोटि के काव्य के सभी लक्षण मौजूद हैं। सन्त चतुरदास (चत्रदास) ने सन्तकवि सुन्दरदास के बारे सच ही कहा है –

जगत भगत विख्यात, चातुरजन अैसें कही।
सब कवियन में सिरताज, दादूसिष सुन्दर मही॥

2.3.6. पाठ सार

सन्तकवि सुन्दरदास का स्थान हिन्दी नीति साहित्य में अप्रतिम है। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों से सम्पन्न है। माधुर्य, सरलता और गम्भीरता उनके व्यक्तित्व की प्रमुख विशेषताएँ मानी जा सकती हैं। सम्पूर्ण सन्तकाव्य-परम्परा में सुन्दरदास ही शिक्षित एवं शास्त्रज्ञ कवि माने जाते हैं। उन्होंने काशी में विद्याध्ययन किया और उसके उपरान्त साहित्य-साधना में जुट गए। शास्त्र-ज्ञान के साथ-साथ उन्हें

जीवन और जगत् का व्यापक अनुभव रहा। चूँकि, उन्हें काव्यशास्त्रीय नियमों की जानकारी थी इसीलिए सम्पूर्ण सुन्दर वाणी में रचनात्मक अनुशासन का परिपालन देखा जा सकता है। गोस्वामी तुलसीदास की भाँति उन्होंने सभी प्रकार की काव्य-शैलियों को अपनी लेखनी का आधार बनाया है। उनकी रचनाओं का नीतिपक्ष 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से आप्लावित है। अहंकारपूर्ण जीवन का खण्डन तथा व्यक्ति के जीवन में 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की स्थापना ही उनके नीतिकाव्य का सार है।

2.3.7. कठिन शब्दावली

कुंजर	:	हाथी
हाट	:	बाज़ार
दीसै	:	दिखाई देना
तोष	:	सन्तुष्टि
कामिनि	:	माया
घट	:	शरीर
उनहार	:	प्रतिकृति
कीस	:	बंदर
तृष्णा	:	चाह

2.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. नारायणदास, स्वामी, सुन्दर ग्रन्थावली, श्री दादूदयालु महासभा, जयपुर, राजस्थान.
2. शास्त्री, स्वामी द्वारिकादास, श्री सुन्दर ग्रन्थावाली (भाग-2), श्री दादूदयालु शोध संस्थान ट्रस्ट, वाराणसी.
3. कौशिक, डॉ॰ कृष्ण कुमार, सन्तकवि सुन्दरदास और उनका काव्य, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. दीक्षित, डॉ॰ त्रिलोकी नारायण, हिन्दी सन्त साहित्य, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. मिश्र, रमेशचन्द्र, भारतीय साहित्य के निर्माता : सुन्दरदास, साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली.

2.3.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. सुन्दरदास : मध्ययुगीन हिन्दी सन्तकाव्य के महत्त्वपूर्ण नीतिकार।
2. सुन्दरदास का कृतित्व।
3. सन्तकवि सुन्दरदास की मधुर वाणी सम्बन्धी दृष्टि।
4. सन्तकवि सुन्दरदास की आध्यात्मिक चेतना।
5. सन्तकाव्य-परम्परा के आलोक में सन्तकवि सुन्दरदास की गुरुभक्ति।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "सन्तकवि सुन्दरदास के नीतिकाव्य का लक्ष्य केवल उपदेश नहीं है, अपितु उनकी रचनाओं में जन-जन के हित और उनके उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है।" इस कथन की पुष्टि कीजिए।
2. सन्तकवि सुन्दरदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्वमें कोई फाँक नहीं है।" इस कथन की समीक्षा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सन्तकवि सुन्दरदास रचित ग्रन्थों की संख्या मानी जाती है–
   (क) 42
   (ख) 43
   (ग) 44
   (घ) 45

2. सुन्दरदास का जन्म कब हुआ ?
   (क) संवत् 1652
   (ख) संवत् 1653
   (ग) संवत् 1654
   (घ) संवत् 1655

3. 'आत्मा चैतन्य रूप, व्यापक साक्षी अनूप' किसने कहा है ?
   (क) कबीर
   (ख) दादूदयाल
   (ग) सुन्दरदास
   (घ) तुलसीदास

4. सन्तकवि सुन्दरदास का समाधि स्थल कहाँ स्थित है ?
   (क) करडाला में
   (ख) सांभर में
   (ग) नरेना में
   (घ) सांगानेर में

5. 'ज्ञान समुद्र' के रचयिता हैं –
   (क) सुन्दरदास

(ख) कबीरदास

(ग) तुलसीदास

(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : भक्त कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : तुलसीदास के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

3.1.0. उद्देश्य कथन
3.1.1. प्रस्तावना
3.1.2. तुलसीदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  3.1.2.1. व्यक्तित्व
  3.1.2.2. कृतित्व
3.1.3. तुलसीदास का युगबोध एवं मानव-दर्शन
3.1.4. तुलसीदास का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  3.1.4.1. वैयक्तिक नीति
  3.1.4.2. सामाजिक नीति
  3.1.4.3. राज्य नीति
  3.1.4.4. अर्थ नीति
  3.1.4.5. धार्मिक नीति
  3.1.4.6. आध्यात्मिक नीति
  3.1.4.7. सांस्कृतिक नीति
3.1.5. तुलसीदास का नीतिकाव्य और भक्तिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
3.1.6. पाठ सार
3.1.7. कठिन शब्दावली
3.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.1.9. बोध प्रश्न

3.1.0. उद्देश्य कथन

भक्तकवियों में गोस्वामी तुलसीदास अग्रगण्य है । प्रस्तुत इकाई गोस्वामी तुलसीदास के रचनात्मक अवदान पर आधारित है । इस पाठ में तुलसी के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक नीति, जीवन-मूल्य और मूल्य-चेतना का विश्लेषण किया गया है । प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. तुलसीदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. तुलसीदास के युगबोध एवंमानव-दर्शन की विवेचना कर सकेंगे ।
iii. तुलसीदास के काव्य में प्रस्तुत नीति के विविध पहलुओं की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
iv. भक्तिकालीन काव्य-परम्परा के आलोक में तुलसीदास के काव्य की नीतिपरकता का अनुशीलन कर सकेंगे ।

3.1.1. प्रस्तावना

तुलसीदास भारतीय मानस में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं समादृित कवि हैं। उनकी इस लोकप्रियता का रहस्य क्या है, इस पर विद्वानों में सहमति का अभाव है। राजेन्द्र यादव की दृष्टि में तुलसीदास की लोकप्रियता का आधार धार्मिक बातें तथा सामन्ती मूल्यों का सम्पोषक होना है। लेकिन यह मत समीचीन जान नहीं पड़ता क्योंकि यदि तुलसीदास की लोकप्रियता का आधार केवल धार्मिक बातें तथा सामन्ती मूल्यों का सम्पोषक होना ही होता तो 'सत्यनारायण की कथा' सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ होता। इसी प्रकार यदि सामन्ती मूल्यों के कारण तुलसीदास लोकप्रिय हुए, यह माना जाए तो मनुस्मृति को सर्वाधिक लोकप्रिय रचना स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए। ध्यातव्य है कि ग्रियर्सन ने तुलसीदास को महात्मा बुद्ध के बाद सबसे लोकप्रिय व्यक्ति बताया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो यहाँ तक कह दिया है कि भारत का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय का विराट् मूल्य एवं स्वरूप लेकर आया हो। वास्तव में तुलसी की काव्य-चेतना का आधार केवल धर्म नहीं, अपितु उनकी मानसी नीति है जो भारतीय समाज की अपार विविधता में प्रवाहित भारतीय मनुष्य की और समाज की आन्तरिक पहचान को सम्भव बनाती है। चूँकि, तुलसीदास की रचनाओं में भारतीय समाज के समग्र जीवन-मूल्य की उपलब्धता है इसलिए उनकी नैतिक चेतना भी भारतीय संस्कृति और मानवीय जीवन-मूल्यों के प्राणतत्त्व को ध्वनित करने वाली है।

3.1.2. तुलसीदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

गोस्वामी तुलसीदास हिन्दी के उन महान् कवियों में अग्रगण्य हैं जिनकी कविता का मूल उद्देश्य 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' होता है। वे कविता का मूल लक्ष्य लोकमंगल का विधान करना मानते हैं। उन्होंने अपने चरितनायक 'श्रीरामचन्द्र' को एक आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए लोकशिक्षा का विधान किया है। उनका सम्पूर्ण काव्य सन्तुलन एवं समन्वय की अभूतपूर्व चेष्टा है। वस्तुतः तुलसीदास भारतीय जनमानस के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। उनकी नैतिक चेतना अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। इस सन्दर्भ में वे व्यक्तिगत साधना को जितना महत्त्व देते हैं, उतना ही महत्त्व लोकधर्म को भी देते हैं। एक ओर तो वे व्यक्तिगत साधना मार्ग में विरागपूर्ण भक्ति का उपदेश देते हैं तो दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालते हैं। तुलसीदास के व्यक्तित्व और कृतित्व में लोकमंगल व लोकनीति का जो भाव मौजूद है, वह उनकी सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, नैतिक और मानवीय दृष्टि से उद्भूत है।

3.1.2.1. व्यक्तित्व

भक्तशिरोमणि तुलसीदास केवल रामकाव्य के लिए ही नहीं अपितु अपनी काव्य-शैली की उत्कृष्टता, श्रेष्ठता एवं सर्वोच्चता के लिए जाने जाते हैं। सम्पूर्ण काव्य-जगत् में उनके काव्य-सौष्ठव को आदर्श माना जाता है। उनके जीवनवृत के बारे में अन्तःसाक्ष्य एवं बाह्यसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने विविध मत प्रस्तुत किए हैं।

बेनीमाधव दास-प्रणीत 'मूल गोसाईं-चरित' तथा महात्मा रघुवरदास-रचित 'तुलसीचरित' में उनका जन्म वि.सं. 1554 उल्लिखित है। शिवसिंह सेंगर एवं रामगुलाम द्विवेदीराजापुर को तुलसीदास का जन्मस्थान मानते हैं।

जनश्रुति के आधार पर तुलसी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का नाम हुलसी स्वीकार किया जाता है। मिश्रबन्धु आदि विद्वानों ने उनको कान्यकुब्ज ब्राह्मण बताया है। हालाँकि, 'मूल गोंसाईचरित' और 'तुलसीचरित' के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि ने तुलसीदास को 'सरयूपारीण ब्राह्मण' माना है।

मातु पिता जग जाय तज्यो विधि हू न लिखी कछु भाल भलाई।

* * *

जक जननी तज्ये जनमि करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे।

(विनयपत्रिका)

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि उनका बचपन अत्यन्त ही विषम परिस्थितियों में हुआ। माता-पिता के द्वारा छोड़ दिए जाने के उपरान्त बाबा नरहरिदास ने तुलसी का पालन-पोषण किया। आगे चलकर पण्डित दीनबन्धु पाठक की सुपुत्री रत्नावली से उनका विवाह हुआ। अत्यधिक आसक्ति के कारण एक बार जब उन्हें अपनी धर्मपत्नी से मधुर भर्त्सना "लाज न आई आपको दौरे आएहुँ साथ" मिली तब वे सहसा लौकिक विषयों से विमुख होकर प्रभु-प्रेम की ओर उन्मुख हो गए। वि.सं. 1680 को तुलसीदास का देहान्त हुआ।

3.1.2.2. कृतित्व

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसीदास-रचित छोटे-बड़े बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उन्होंने तुलसीकृत बड़े ग्रन्थों में 'दोहावली', 'कवित्त रामायण', 'गीतावली', 'रामचरितमानस', 'रामाज्ञाप्रश्न' और 'विनयपत्रिका' को माना है जबकि 'रामललानहछू', 'पार्वतीमंगल', 'जानकी मंगल', 'बरवैरामायण', 'वैराग्य संदीपनी' और 'कृष्णगीतावली' को तुलसी-कृत लघु ग्रन्थ स्वीकार किया है। 'शिवसिंहसरोज' में तुलसीदास-कृत दस अन्य ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है – 'रामसतसई', 'छप्पयरामायण', 'कड़खारामायण', 'रोलारामायण', 'संकटमोचन', 'हनुमानबाहुक', 'रामशलाका', 'छन्दावली', 'झूलना रामायण' एवं 'कुण्डलिया रामायण'। तुलसीदास की लगभग सभी रचनाओं में भाव-वैविध्य सहज ही परिलक्षित होता है। अपनी रचनाओं में एक ओर जहाँ उन्होंने नाथपंथियों के प्रभाव से नष्ट होती जनमानस की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्तियों को रामभक्ति के माध्यम से पुनः पल्लवित-पुष्पित किया है, तो वहीं दूसरी ओर रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से राजनैतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को जनता के समक्ष प्रस्तुत कर विशृंखलित मानव-समाज को केन्द्रित किया।

तुलसीदास का इतना महान् रचनाकार होना अपने आप में किसी चमत्कार से कम नहीं है। जो व्यक्ति बचपन से ही अनाथ हो गया, दरिद्र होने के कारण भटकता रहा, समाज और धर्म के ठेकेदारों से निरन्तर लांछित एवं प्रताड़ित रहा, वह व्यक्ति अपने इतने महान् स्वरूप तक कैसे पहुँचा। वस्तुतः इसका मूल कारण तुलसी की उदात्तता है। आज सम्पूर्ण भारत, विशेषकर उत्तरभारत के लोगों के मनोमस्तिष्क में तुलसीदास और उनकी अमरकृतियाँ, मुख्यतः रामचरितमानस का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्ति, नीति और उपासना के क्षेत्र में 'रामचरितमानस' पाँचवें वेद के समान पूजनीय है। महलों से लेकर कुटियाओं तक में तुलसी के कृतित्व की पैठ है। उनकी कृतियाँ अनपढ़ से लेकर शास्त्रों के व्याख्याता तक सभी के लिए संजीवनी का काम कर रही हैं। काव्य तुलसी के लिए साधन है और रामभक्ति साध्य। इसलिए इस साध्य की प्राप्ति के लिए तुलसी ने जिस साधन को अपनाया है, उसमें व्यक्ति व समाज दोनों हैं। वैसे तो वे काव्य-रचना 'स्वान्तः सुखाय' करते हैं, किन्तु उनका यह 'स्वान्तः सुखाय' बड़ी सहजता से 'बहुजन सुखाय' बन जाता है। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व लोकहितकारी है।

3.1.3. तुलसीदास का युगबोध एवं मानव-दर्शन

युगबोध एवं मानव-दर्शन के आलोक में भक्तकवि तुलसीदास अपनी रचना-प्रक्रिया व उसकी सार्थकता को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। उनके अनुसार सार्थक कविता वही है जो राम से सम्बन्धित है। क्योंकि, राम "मंगल भवन अमंगल हारी, उमा सहित जिहि जपत मुरारी" हैं। रामोन्मुखता तुलसीदास का केन्द्रीय जीवन-मूल्य है। राम के बिना न कविता में और न ही जीवन में सुन्दरता आती है। कविता और जीवन तभी सुन्दर हो पाते हैं, अगर वे राम से सम्बन्धित हों –

निति विचित्र सुकविकृत जोउ। राम नाम बिनु सोह न सोउ॥

एक मायने में नीतिपरक कविता को ही साहित्य कहते हैं। बड़ा से बड़ा कवि भी विचित्रताओं से बड़ा नहीं होता बल्कि राम के मूल्य व उनकी नीति से ही कविता सुन्दर हो सकती है। क्योंकि –

जरि जाउं सुजीवन जानकी नाथ, जिए जग में तुम्हारो बिनु में।

मनोविज्ञान कहता है कि किसी भी व्यक्ति द्वारा किसी वस्तु का चुनाव उसकी आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियों तथा मूल्य-चेतना का परिणाम होता है। इस आलोक में तुलसी व उनके चरितनायक श्रीराम को जोड़ने वाला महत्त्वपूर्ण सूत्र है – 'तुलसी का युगबोध और उनका मानव-दर्शन', जहाँ संघर्षमयता, मर्यादा और संयम राम की चारित्रिक विशिष्टताएँ हैं। राम का संघर्ष व्यक्तिगत नहीं है। उस संघर्ष का सम्बन्ध लोकहित से है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "तुलसी के राम का व्यक्तित्व दैनिक जीवन के भीतर उजागर हुआ है। यह केवल अनादि, अनन्त और व्यापक सच्चिदानन्द मात्र नहीं है। वे शील और मर्यादा के अधिवक्ता भी हैं।"

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में युगीन परिस्थितियों का यथातथ्य वर्णन किया है। विशेषकर, रामचरितमानस में उन्होंने जहाँ कलियुग का वर्णन किया है, वह वस्तुतः तत्कालीन युगबोध ही है। उस समय

समाज की जो दुरावस्था रही उसका विस्तृत एवं व्यापक निरूपण उन्होंने रामचरितमानस, दोहावली, कवितावली और गीतावली आदि कृतियों में भी किया है। तत्युगीन समाज का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने कहा है कि समाज में ऊँच-नीच का भेदभाव व्याप्त था। सभी वर्ण अपने-अपने धर्म का पालन नहीं कर रहे थे। ब्राह्मणवर्ग वेद-विरोधी हो चला था। लोग ज्ञानियों को नहीं, अपितु थोथी बकवास करने वालों को पण्डित मानते थे –

मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पण्डित सोइ जो गाल बजावा॥
मिथ्या दम्भ दम्भ रत जोई। ता कह सन्त कहइ सब कोई॥

तत्युगीन समाज में स्त्रियों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी तथा शासकों की रूपलिप्सा बढ़ गई थी। नारी को वे भोग का साधन मात्र मानते थे। सभी लोग नारियों के वशीभूत होकर मदारी के बन्दर की तरह नाचते थे। सुहागिनी स्त्रियाँ आभूषणरहित थीं जबकि विधवाएँ नित नव-शृंगार कर रही थीं। चूँकि, पुरुषों में वासना-वृत्ति प्रधान थी, इसलिए वे कुलवंती नारियों को तो घर से बाहर निकाल देते थे, जबकि दासियों को घर ले आते थे। कोई भी व्यक्ति बहन-बेटी का विचार नहीं कर रहा था। पीड़ित होकर तुलसीदास कहते हैं –

कुलवंति निकारहिं नारि सती। गृह आनहीं चेरि निबेरि गति॥
कलिकाल विहाल किए मनुजा। नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥

तुलसीदास ने कवितावली में अपने समय के समाज का वर्णन करते हुए कहा है कि किसान को खेती में कुछ नहीं मिलता। भिखारी को भीख नहीं मिलती तथा व्यापारी के लिए व्यापार करना सरल नहीं रहा गया है। आजीविका खोजने से भी नहीं मिलती –

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि।
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी॥

इस प्रकार तत्युगीन व्यवस्था का तुलसी जहाँ एक ओर विशद् निरूपण करते हैं, वहीं दूसरी ओर 'राम राज्य' की परिकल्पना कर आदर्श प्रणाली का प्रारूप भी प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने कहा है –

दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज काहू नहीं व्यापा॥
सब नर करहिं परसपर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति नीति॥

तुलसीदास एक महान् भक्त, प्रबुद्ध रचनाकार, समन्वयवादी लोकनायक, समाजसुधारक, उपदेशक एवं तत्त्वद्रष्टा दार्शनिक थे। उनके समय में अनेक धार्मिक मत एवं दार्शनिक विचार प्रचलित थे जिनमें पारस्परिक विरोध व्याप्त था। उन्होंने मानव जीवन-दर्शन के निहितार्थ तत्युगीन विरोधों को बहुत अंशों में दूर कर अपनी समन्वयकारी, समेकित एवं मानववादी दृष्टि का परिचय दिया है और अपना एक निश्चित दार्शनिक मत स्थापित किया जो प्रमुखतः रामचरितमानस एवं विनयपत्रिका में उपलब्ध होता है। जीव, जगत् एवं ब्रह्म की अखिल 'त्रयी'

को व्याख्यायित करने के अनुक्रम में और माया के स्वरूप-निरूपण में भी उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में कहीं-न-कहीं मानवता को ही सहेजने एवं सँवारने का कार्य किया।

मानवाधिकारों का पूर्वरूप मानववादी चेतना है। मानवतावाद शोषित, पीड़ित, उपेक्षित और अधिकार-वंचित जनता के पक्ष में संघर्ष एवं सहानुभूति की चेतनाहै। मानववादी चिन्तन एवं कर्म के निहितार्थ प्रतिमानवीय शक्तियों व उनके कारणों की धारदार पहचान और उनके उन्मूलन की प्रतिबद्धता अनिवार्य है। मानवतावाद के आधार पर विवेक और संघर्ष की निरन्तरता के द्वारा न्यायोचित पक्ष की स्थापना का आग्रह तुलसीदास के युगीन बोध एवं जीवन-दर्शन की अन्यतम उपलब्धि मानी जा सकती है।

3.1.4. तुलसीदास का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

तुलसीदास 'नीति' को आचरण एवं व्यवहार से जोड़कर देखते हैं। उनके मतानुसार 'नीति' महज विश्वास या दृष्टिकोण नहीं है बल्कि जीवन की वास्तविकता तथा जीवन-जीने की पद्धति है। उनके काव्य की नीतिपरकता जीवन की सादगी एवं सदाचार पर बल देती है। सदाचार वह है जिसमें जीवन के सच का निर्वाह हो। सादगी सीमित और आवश्यक ज़रूरतों के अनुसार जीवन-निर्वाह की कला है। किसी भी मानव-संस्कृति की श्रेष्ठता इस बात पर निर्भर करती है कि वह सदाचार तथा सादगी के प्रति कितनी समर्पित है। चूँकि, तुलसीदास की नैतिकता भौतिकता के तिरस्कार एवं सदाचार की स्वीकार्यता पर बल देती है इसलिए उन्होंने भौतिक तत्त्वों की नश्वरता को बार-बार रेखांकित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार तुलसीदास एक ऐसे कवि हैं जिनके काव्य में भावजगत् तथा कर्मजगत् का पूर्ण सामंजस्यदिखाई देता है। उनकी कविता कर्म-सौन्दर्य की उच्चतर भूमि पर अवस्थित कविता है। इस आलोक में उनकी नीति केवल एकान्तिक साधना नहीं है अपितु वह व्यवहार क्षेत्र के भीतर लोकमंगल की चेतना को प्रतिष्ठित करने वाली है। तुलसीदास के नीतिकाव्य में न तो आडम्बर है और न ही जटिलता। उनकी नीतिपरकता स्पष्ट, सामाजिक तथा व्यक्ति के अन्तःविवेक पर आधारित है। तुलसी सदृश समन्वयशीलता तो कबीर में भी नहीं है। तुलसी की नीति में शान्तमयी वैचारिकी एवं मानसी अनुभूति है जिसके माध्यम से उन्होंने शत्रुता, मिथ्या, झूठ, आडम्बर, सामाजिक-आर्थिक भेदभाव आदि का विरोध किया है और सामासिक जीवन-संस्कृति पर बल दिया है। उन्होंने 'रामचरितमानस' द्वारा जनजागरण-सन्देश दिया। भक्त-हृदय के अपूर्व विनम्रभाव को उन्होंने 'विनयपत्रिका' में उद्घाटित कर प्रभुचरणों में समर्पित किया। 'कवितावली' ओज का काव्य है। 'गीतावली' में मानवीय सुकुमार रागात्मक सम्वेदनाओं की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है। 'दोहावली' में अद्भुत त्याग, बलिदान और प्रेम का चित्रण है जिसमें 'रामचरितमानस' के अनेक दोहे संकलित हैं।

3.1.4.1. वैयक्तिक नीति

व्यक्ति का आचरण समाज व संस्कृति को सीधे तौर पर प्रभावित करता है। व्यक्ति का विकास समाज को विकसित करता है, राष्ट्र को विकसित करता है और अन्ततः मानवता को संरक्षित एवं विकसित करता है। इसलिए तुलसीदास वैयक्तिक नीति पर अपेक्षाकृत अधिक बल देते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि किसी भी व्यक्ति

को उसकी बनावटी मधुर वाणी और दिखावटी आकर्षक वेशभूषा से नहीं जाना जा सकता है। बाहरी सुशोभन और आलम्बन से उसके चरित्र का आकलन नहीं किया जा सकता। शूपर्णखा, मरीचि, पूतना और रावण के परिधान और वेषभूषा मनोहारी थे लेकिन उनका मन घोर मलिन और कुटिलता से परिपूर्ण था –

बचन वेष क्या जानिए, मनमलीन नर नारि।
सूपनखा मृग पूतना, दस मुख प्रमुख विचारि॥

व्यक्ति का आभूषण उसका व्यक्तित्व होता है। तेजहीन व्यक्ति की बात को कोई भी महत्त्व नहीं देता है। उसकी आज्ञा का पालन कोई नहीं करता है। ठीक वैसे ही जैसे जब राख की आग बुझ जाती है तो उसे हर कोई छूने लगता है। इसलिए तुलसीदास सचेत करते हैं –

बिना तेज के पुरुष की, अवशि अवज्ञा होय।
आगि बुझे ज्यों राख की, आप छुवै सब कोय॥

जिस स्थान या जिस घर में आपके जाने से लोग खुश नहीं होते हों और उन लोगों की आँखों में आपके लिए प्रेम और स्नेह न हो, तुलसीदास कहते हैं कि व्यक्ति को ऐसी जगह पर कभी नहीं जाना चाहिए, चाहे वहाँ धन की वर्षा ही क्यों न होती हो –

आवत ही हरषै नहीं, नैनन नहीं सनेह।
तुलसी तहाँ न जाइये, कंचन बरसे मेह॥

जब तक व्यक्ति के मन में काम, भावना, क्रोध, अहंकार और लालच मौजूद हैं तब तक एक ज्ञानी व्यक्ति और मूर्ख व्यक्ति में कोई अन्तर नहीं होता है, दोनों एक ही जैसे होते हैं। तुलसीदास कहते हैं –

काम क्रोध मद लोभ की, जौ लौं मन में खान।
तौ लौं पण्डित मूरखौं, तुलसी एक समान॥

मनुष्य को अपना कर्म निष्ठापूर्वक करना चाहिए, क्योंकि जो जैसा करता है, वह वैसा ही फल भोगता है। तुलसीदास कहते हैं –

करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा॥

भक्तकवि तुलसीदास कहते हैं कि सुन्दरता, अच्छे गुण, सम्पत्ति, ख्याति और धर्म के बिना भी जिन लोगों में अहंकार है, ऐसे लोगों का जीवनकाल कष्टप्रद होता है और अन्त समय दुःखदायी होता है –

तनु गुन धन महिमा धरम, तेहि बिनु जेहि अभिमान।
तुलसी जिअत बिडम्बना, परिनामहु गत जान॥

व्यक्ति को बुरी संगति से सदैव बचना चाहिए। सत्संगति के महत्त्व को समझाते हुए तुलसीदास कहते हैं कि बुरी संगति से अच्छे लोग भी बदनाम हो जाते हैं और अपनी प्रतिष्ठा गँवाकर लघुता को प्राप्त होते हैं –

तुलसी किए कुसंग थिति, होहिं दाहिने बाम।
कहि सुनि सुकुचिअ सूम खल, रत हरि संकर नाम॥

दुष्ट व्यक्ति के हृदय में बहुत अधिक संताप रहता है। वे परायी सम्पत्ति देखकर हमेशा जलते रहते हैं। ऐसे लोग जहाँ कहीं दूसरे की निन्दा सुन पाते हैं, वहाँ ऐसे हर्षित होते हैं मानो मार्ग में पड़ा खजाना मिल गया हो –

खलन्हि हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर सम्पत्ति देखी॥
जहं कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥

दुष्ट लोग काम, क्रोध, मद और लोभ के परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापों के घर होते हैं। वे बिना ही किसी कारण दूसरों से वैर किया करते हैं। जो भलाई करता है, उसके साथ भी बुराई करते हैं –

काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरू अकारन सब काहूँ सो। जो कर हित अनहित ताहूँ सो॥

बिना सत्संग विवेक नहीं होता और बिना विवेक जाग्रत् हुए भक्ति नहीं होती। चूँकि, सत्संग राम की कृपा से ही सुलभ हो पाता है। इसलिए तुलसीदास ने भक्ति की प्राप्ति के लिए भी सत्संग के महत्त्व को ही रेखांकित किया है –

बिनु सतसंग विवेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

दुष्ट व्यक्ति भी सत्संगति पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारस के स्पर्श से लोहा सुन्दर सोना बन जाता है। दैवयोग से यदि कभी सज्जन कुसंगति में पड़ जाते हैं तो वे वहाँ भी साँप की मणि के समान अपने गुणों का ही अनुसरण करते हैं। जिस प्रकार साँप का संसर्ग पाकर भी मणि उसके विष को ग्रहण नहीं करती तथा अपने सहज गुण प्रकाश को नहीं छोड़ती, ठीक उसी प्रकार सज्जन लोग दुष्टों की संगति में रहकर भी अपना मूल स्वभाव नहीं त्यागते –

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥
बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं॥

इस संसार में भला व्यक्ति भलाई ही ग्रहण करता है जबकि दुष्ट लोग सदैव नीचता को ही ग्रहण किए रहते हैं। अमृत की सराहना अमर करने में होती है और विष की मारने में –

भलो भलाइहि पै लहइ, लहइ निचाइहि नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु॥

तुलसीदास का मानना है कि व्यक्ति को सदैव अपने से बड़ों का सम्मान करना चाहिए तथा उनकी आज्ञा का पालन करना चाहिए। गुरु, पिता, माता और स्वामी की आज्ञा का पालन करने से कुमार्ग पर भी चलने पर भी पैर गड्ढे में नहीं पड़ते –

गुर पितु मातु स्वामि सिख पालें। चलेहुँ कुमग पग परहिं न खालें॥

जो मनुष्य उचित और अनुचित का विचार छोड़कर अपने पिता के वचनों का पालन करते हैं, वे मर्त्यलोक में सुख व यश के पात्र होकर अन्त में स्वर्ग में निवास करते हैं –

अनुचित उचित बिचारु तजि जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन सुख सुजस के बसहिं अमरपति ऐन॥

व्यक्ति को गुरु, पिता, माता, स्वामी व मित्र की वाणी सुनकर उसे हितकारी समझकर प्रसन्न मन से उसका पालन करना चाहिए। अनुचित और उचित का विचार करने से धर्म जाता है और सिर पर पाप का भार चढ़ता है –

गुर पितु मातु स्वमि हित बानी। सुनि मन मुदित करिअ भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किए बिचारू। धरमु जाइ सिर पातक भारू॥

व्यक्ति को अपनी प्रतिष्ठा व सम्मान के लिए दूसरों की निन्दा करने से बचना चाहिए। जो लोग दूसरों की निन्दा करके खुद सम्मान पाना चाहते हैं ऐसे लोगों के मुँह पर ऐसी कालिख लग जाती है जो बार-बार धोने से भी नहीं हटती, मृत्युपर्यन्त बनी रहती है –

तुलसी जे कीरति चहहिं, पर की कीरति खेइ।
तिनके मुँह मसि लागहैं, मिटिहि न मरिहै धोइ॥

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। इसलिए भक्तकवि तुलसीदास व्यक्ति के सम्बन्धों एवं उसकी महत्ता को अपने काव्य में बार-बार रेखांकित करते हैं। उनकी दृष्टि में आदर्श मित्र वही है जो अपने मित्र के दुःख को अपना दुःख मानकर उसके निवारण का प्रयास करता है। जो व्यक्ति अपने मित्र के दुःख से दुखी नहीं होता, उसे देखने मात्र से ही बहुत बड़ा पाप होता है –

जे न मित्र दुःख होहिं दुखारी। तिनहिं विलोकत पातक भारी॥

तुलसीदास की वैयक्तिक नीति मूलतः लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालती है। जो व्यक्ति अपनी हानि की चिन्ता कर शरण आए प्रार्थी को नकार देते हैं, वे नीच और पापी होते हैं। ऐसे लोगों से तो दूरी बनाए रखना ही उचित है, यह तथ्य नीतिसम्मत है –

सहज सुहृद गुर स्वामि सिख, जो न करइ सिर मानी।
सो पछिताई अघाइ उर, अवसि होई हित हानि॥

व्यक्ति को काम-वासना में लिप्त नहीं होना चाहिए। तुलसीदास कहते हैं कि युवा स्त्रियों का शरीर दीपक की लौ के समान है। इसलिए हे मन ! तू उसका पतंगा मत बन। काम और मद को छोड़कर सत्संग कर और सदा श्रीराम का भजन कर –

दीप सिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहि राम तजि काम मद करहि सदा सतसंग॥

जो व्यक्ति अपना कल्याण, सुन्दर यश, सुबुद्धि, शुभ गति और नाना प्रकार के सुख चाहता हो। उसे चौथ के चन्द्रमा की तरह परायी स्त्री का मुँह नहीं देखना चाहिए –

जो आपन चाहै कल्याणा। सुजस सुमति सुभ गति सुख नाना॥
सो परनारि लिलार गोसाईं। तजउ चउथि के चंद कि नाईं॥

मानव-जीवन में वाणी का बहुत महत्त्व है। मीठे वचन सब ओर सुख फैलाते हैं। इसलिए व्यक्ति को कठोर वचन छोड़कर सदैव मधुर वचन बोलने का प्रयास करना चाहिए –

तुलसी मीठे बचन ते सुख उपजत चहुँ ओर।
बसीकरन इक मन्त्र है परिहरू बचन कठोर॥

तुलसीदास के काव्य में वैयक्तिक नीति-निरूपण व्यक्ति के जीवन के उच्चतर एवं नैतिक मूल्यों के अन्वेषण की चेतना है। वह वैयक्तिक होते हुए भी चरितार्थता के स्तर पर सामाजिक सरोकार से सम्बन्धित है। इस प्रकार लोकमंगल, मानवीय जीवन-मूल्य तथा नैतिक व मर्यादित सम्बन्धों की अखण्डता तुलसी की वैयक्तिक नीति के आधार हैं।

3.1.4.2. सामाजिक नीति

तुलसीदास का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब समाज के लगभग हर क्षेत्र में विषमता, द्वेष, वैमनस्य, धनलोलुपता का बोलबाला था। धर्म, समाज, दर्शन लगभग सभी क्षेत्रों में टकराव की स्थिति थी। ऐसे में तत्युगीन विरोध दूर करके, पारस्परिक भेदभाव को मिटाकर समरसता उत्पन्न करना ही तुलसी के सामाजिक नीति का मुख्य प्रतिपाद्य स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः तुलसीदास के नीतिकाव्य का अपना एक सामाजिक अभिप्राय है

जहाँ उनकी भक्ति और नैतिकता एक नए संकल्प में उभरती है । तुलसी-काव्य में व्यक्ति के आचरण और सामाजिक यथार्थ के बीच एक क्रिया-प्रतिक्रिया है ।

तुलसीदास के नीतिकाव्य की समूची प्रकृति सामाजिक है । उनके चरितनायक श्रीरामचन्द्र सदैव अधर्म और अनौचित्य से संघर्ष करते हुए वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्यों के प्रबल प्रतिमान विकसित करते हैं । उनकी नीति में आदि से अन्त तक लोकमंगल की आकांक्षा है तथा उसका प्रयोजन मानवीय एवंलोकमंगलकारी है और उनके काव्य में जो लोकमंगल का भाव मौजूद है, वह उनकी सामाजिक दृष्टि व नीति से ही उद्भूत और अभिप्रेरित है । रामकथा के माध्यम से तुलसीदास सामाजिक सम्बन्धों का मर्यादित, आदर्श एवं नैतिक रूप प्रस्तुत करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि जिस समाज में शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय-अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, कर्त्तव्य-पालन करने वाले महापुरुषों, स्वामी की सेवा में मर-मिटने वाले सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले राजाओं के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव समाप्त हो गया हो, उस समाज का कल्याण कदापि नहीं हो सकता । राम, भरत, लक्ष्मण, सीता, दशरथ, हनुमान आदि अनेक पात्रों के माध्यम से तुलसीदास अपनी सामाजिक नीति की परिकल्पना को साकार करते हैं ।

वस्तुतः तुलसीदास कविता का मुख्य उद्देश्य लोकमंगल का विधान करना मानते हैं । उनके अनुसार वही कीर्ति, कविता एवं ऐश्वर्य अच्छा होता है जो गंगा के समान सबका हित करने वाला हो –

कीरति भनिति भूति भल सोई । सुरसरि सम सब कहं हित होई॥

चूँकि, तुलसीदास की नीति केवल भक्ति, मोक्ष और निर्वाण का प्रयोजन लेकर नहीं चलती है इसलिए वे समाज में गैरियत का भाव मिटाकर समता स्थापित करने का सन्देश देते हैं –

तुलसी ममता राम सी । समता सब संसार॥

समाज के समस्त पीड़ितों के कल्याण के प्रति प्रतिबद्धता तुलसीदास के नीतिकाव्य में सहज ही अनुभूत है । परहित उनका सम्बल है । इसलिए वे लोगों को सही मार्ग पर लाने के लिए सदैव अभिप्रेरित करते हैं –

परहित सरिस धरम नहीं भाई । परपीड़ा सम नहीं अधमाई ॥

जिस व्यक्ति के मन में दूसरे का हित समाया रहता है ऐसे व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी दुर्लभ नहीं है । तुलसीदास कहते हैं –

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

जो लोग सामने तो बात बना-बनाकर कोमल बोलते हैं और पीठ-पीछे बुराई करते हैं तथा मन में कुटिलता रखते हैं, वैसे लोगों से दूरी बनाने में ही भलाई है। तुलसीदास कहते हैं जिसका मन साँप की चाल के समान टेढ़ा है, ऐसे व्यक्ति को त्यागने में ही कुशलता है –

आगें कह मृदु बचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई॥
जाकर चित अहि गति सम भाई। अस कुमित्र परिहरेहिं भलाई॥

समाज में मित्रता और वैर अपने समकक्षों से ही करनी चाहिए। सिंह यदि मेढकों को मारे तो क्या उसे कोई भला कहेगा –

प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।
जौं मृगपति बध मेडकुन्हि भल कि कहइ कोउ ताहि॥

जिस समाज में धूर्त और कपटी लोगों का बोलबाला हो वहाँ समझदार लोगों के लिए चुप हो जाना ही श्रेयस्कर होता है। तुलसीदास उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार बारिश के मौसम में मेढकों के टर्राने की आवाज अधिक हो जाती है और कोयल मौन धारण कर लेती है, ठीक उसी प्रकार विवेकशील लोग कपटपूर्ण माहौल में अपनी ऊर्जा व्यर्थ नहीं करते, चुप हो रहते हैं –

तुलसी पावस के समय धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिह हमको पूछिह कौन॥

तुलसीदास की सामाजिक नीति में मनुष्य, समाज और परिवेश को समझने की चेतना है। उनकी पूरी नैतिक चेतना एक बृहतर मानवीय समाज के लिए है। उनकी पीड़ा भी स्वयं की वजह से नहीं है, अपितु दूसरों की वजह से है, दूसरों के निदान के लिए है। सारांशतः तुलसीदास की सामाजिक नीति परोपकार पर आधारित है तथा बहुजन हिताय की भावना से ओतप्रोत है।

3.1.4.3. राज्य नीति

तुलसीदास की राज्यनीति के केन्द्र में राम हैं। उनकी राज्यनीति का महत्त्व इस मायने में है कि वह तत्युगीन राजनैतिक और सामाजिक-व्यवस्था का विरोध करते हुए एक वैकल्पिक व्यवस्था के स्वप्न की प्रस्तावना करती है। तुलसीदास अकबर के समकालीन थे। मुगल साम्राज्य के आगरा, दिल्ली, फतेहपुर सीकरी समृद्ध नगरों के चारों ओर समुद्रवत् फैली चरम गरीबी का उन्होंने जीवन्त चित्रण किया है। चूँकि, उनके समय में 'राज्यनीति' शून्य हो गई थी और कोई सुनिश्चित लक्ष्य नहीं रह गया था। राजनीति की मानवीय, सामाजिक भूमिका स्खलित हो गई थी। मूल्यों से स्खलन के बाद राजनीति पाखण्ड, षड्यन्त्र और अनैतिकता से परिपूर्ण हो जाती है। इस तरह की राजनीति करने वाले वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे पूरे खानदान के साथ रावण। तुलसीदास कहते हैं –

जे रावण के सवा लाख नाती। ते रावण के घर दिया न बाती॥

तुलसी की राज्यनीति में शासन की प्रजातान्त्रिक चेतना की अवधारणा निहित है। उन्होंने कहा है –

जासु राज नृप प्रजा सुखारी। सो नृप अवस नरक अधिकारी॥

प्रजा के मुखिया यानी राजा को मुख के समान होना चाहिए जो खाने-पीने को तो अकेला है परन्तु विवेकपूर्ण ढंग से सब अंगों का समान पालन-पोषण करता है। तुलसीदास कहते हैं –

मुखिआ मुखु सो चाहिऐ खान पान कहुँ एक।
पालक पोषइ सकल अंग तुलसी सहित बिबेक॥

जब सत्ता भय पैदा करने लगती है, तब उस पर निगाह रखना आवश्यक हो जाता है। चूँकि, भय और आतंकित सत्ताओं से ग्रस्त शासन की उम्र लम्बी नहीं होती है, इसलिए राज्यनीति के आलोक में तुलसीदास कहते हैं कि मंत्री, वैद्य और गुरु यदि किसी लोभ, लालच या भय के वशीभूत होकर चापलूसी करते हैं और सत्य वचन नहीं बोलते तो ऐसे राजा का राज्य, ऐसे रोगी का शरीर और ऐसे व्यक्ति का धर्म शीघ्र ही नष्ट हो जाता है –

सचिव वैद गुरु तीनि जो प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगही नास॥

तत्युगीन राजनैतिक-व्यवस्था में व्याप्त अन्धकार को नष्ट करने की कल्पना तुलसीदास ने रामराज्य के रूप में प्रस्तुत की है। रामराज्य की अवधारणा में वे समाज के सबसे अन्तिम परिधि पर खड़े व्यक्ति की स्थिति से शुरुआत करते हैं। उस राज्य में किसी भी व्यक्ति को तीनों प्रकार के कष्ट नहीं होते –

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम काज काहूहि नहिं ब्यापा॥

रामराज्य की कल्पना के माध्यम से तुलसीदास कहीं-न-कहीं अपनी यातना से भी निजात पाने की कोशिश करते हैं। रामराज्य में आदमी होने के अर्थ पर सभी का अधिकार है। सभी को जीने का सुअवसर मिलना चाहिए। रामराज्य में कोई किसी से बैर नहीं करता। सभी लोग परस्पर प्रेम से जीवन-निर्वाह करते हैं तथा कोई किसी के प्रति शत्रु का भाव नहीं रखता। तुलसीदास कहते हैं –

सब नर करहिं परसपर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत स्रुति नीति॥

तुलसीदास के अनुसार रामराज्य में सब अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं। तालाब कमलों से परिपूर्ण रहते हैं। चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों से युक्त चाँदनी से पृथ्वी को परिपूर्ण करता है। सूर्य उतना ही तप्त होता है जितनी आवश्यकता है। मेघ आवश्यकतानुरूप जल की वर्षा करते हैं –

विधु महि पूर मयूखन्हि रवि तप जेतनेहिं काज।
मांगे वारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज॥

समग्रतः रामराज्य का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए तुलसीदास ने एक आदर्श राज्य की परिकल्पना की है। प्रभावस्वरूप आधुनिककाल में महात्मा गाँधी जिस राज्य की कल्पना प्रस्तुत करते हैं, उसका मूल आधार भी तुलसी की रामराज्य परिकल्पना ही है। निश्चयतः यह एक आदर्श शासन-व्यवस्था है जिसका मूल आधार लोकहित एवं मानवतावाद है।

3.1.4.4. अर्थ नीति

तुलसीदास मूलतः मानवीय चेतना के रचनाकार हैं। उनकी काव्य-यात्रा के विभिन्न पड़ाव भी उनके सामाजिक-आर्थिक दर्शन को प्रतिबिम्बित करते हैं। उन्होंने किसानों, मजदूरों, खेतिहरों, शोषितों, पीड़ितों की दारुण स्थिति का हृदयविदारक वर्णन किया है। उनका आर्थिक चिन्तन भी मानवीय सम्बन्धों पर आधारित है। इसलिए मानवीय आर्थिक सम्वेदनाओं के चित्रण में वे बेहद सधी हुई और सशक्त नीतियों का प्रतिपादन करते हैं। वैसे तो पूरे भक्तिकाव्य में ही आवश्यकता से अधिक धन-संचयन की प्रवृत्ति का निषेध है। तुलसी-काव्य में भी परिग्रह का विरोध करते हुए परोपकारी वृत्ति को विकसित करने का प्रयास किया गया है। परोपकारी पुरुष सम्पत्ति और सामर्थ्य पाकर अधिक विनम्र हो जाते हैं जैसे फलों के बोझ से झुककर वृक्ष के टहनियाँ धरती के पास आ लगती हैं –

फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि निअराइ।
पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ॥

धन की तीन गतियाँ होती हैं – दान, भोग और नाश। दान उत्तम गति है, भोग मध्यम गति है और नाश नीच गति है। जो पुरुष न देता है, न भोगता है, उसके धन की तीसरी गति स्वयमेव हो जाती है। इसलिए तुलसीदास कहते हैं –

सो धन धन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य रति मति सोइ पाकी॥

तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में मानव समाज को सचेत किया है कि धन ने मनुष्य के अहंकार को और अधिक पुष्ट किया है। धन-संचय की प्रवृत्ति ने समूचे समाज और मानव मन को बीमार किया है। ऐसे में अपरिग्रह, संयमित जीवन, सहज आचरण एवं व्यवहार से ही धन के अन्तःसूत्रों को दुरुस्त किया जा सकता है।

3.1.4.5. धार्मिक नीति

तुलसीदास का समय धार्मिक अराजकता का युग है। उनकी दृष्टि में धार्मिक अराजकता का अभिप्राय धर्म के केन्द्र का प्रदूषित और खण्डित होना है। उल्लेखनीय है कि किसी भी स्तर पर केन्द्र के टूटने पर

परिस्थितियाँ अवसर के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं तथा लोग अवसरवादी हो जाते हैं। धर्म केवल दिखावे का व्यवहार नहीं है बल्कि यह आस्था का विषय है। मूल चेतना खत्म होने पर यह धार्मिक प्रतीकों संगमरमर की चमचमाहट मात्र में तब्दील हो जाता है। इस चिन्ता से आकुल होकर तुलसीदास अपनी रचनाओं में मरणशील धर्म की पूर्ति मर्यादा एवं नैतिकता के माध्यम से करते हैं –

अनुज बधू भगिनी सुत नारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥
इन्हिह कुदृष्टि बिलोकइ जोई, ताहि बधें कछु पाप न होई॥

धर्म के धरातल पर संसार के सारे कर्त्तव्यों को सम्पादित करते हुए अपने सच्चे अन्तःकरण से तुलसीदास आराध्य के प्रति अहैतुकी, निःस्वार्थ भाव की भक्ति के हामी हैं। उनका प्रबल विश्वास है कि जिस समाज में धर्म का स्वरूप उदात्त और लोकमय होगा वह समाज अवश्य ही उन्नत और श्रेष्ठ बनेगा। धर्म की बहुत ही सरल व्याख्या तुलसीदास करते हैं। उनके अनुसार दूसरों की भलाई के समान कोई दूसरा धर्म नहीं है ओर दूसरों को दुःख पहुँचाने के समान कोई पाप नहीं है –

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

धर्म के चार चरण हैं – सत्य, दया, तप और दान। कलियुग में एक दानरूपी चरण ही मुख्य है। किसी भी प्रकार से भी दिये जाने पर दान कल्याण ही करता है। तुलसीदास कहते हैं –

प्रकट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान।
जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान॥

वस्तुतः तुलसीदास की धार्मिक नीति मात्र सामयिक चिन्ता नहीं है अपितु युगों-युगों के लिए की गई उस चिन्ता का सम्बन्ध मनुष्य के सदाचरण से है जहाँ कोई आडम्बर और दिखावा नहीं है। उनकी धार्मिक चेतना का सम्बन्ध कहीं-न-कहीं मानव समाज की उन बुनियादी समस्याओं से है जो इतिहास के पन्नों के साथ पलटती नहीं हैं, बार-बार मौजूद रहती हैं। यही कारण है कि तुलसीदास के व्यक्तित्व की और उनकी काव्य-चेतना की चिन्ताओं का एक बहुत बड़ा सन्दर्भ है – धर्म। उनकी धार्मिक नीति में धर्म का अर्थ आदमी होने का भाव है। प्रवृत्तियों, मूल्य और आचरण का वह स्वरूप जो क्षुद्रताओं, नीचताओं, पशुता से ऊपर उठाता है। इस 'ऊपर उठाने वाले भाव' के समग्र बोध को ही तुलसी मूल धर्म स्वीकार करते हैं। धर्म कोई घटना या क्रिया नहीं है इसलिए तुलसी की पूरी नैतिक चेतना में धर्म एक मनुष्य होने का अनुभव या मनुष्य होने का भाव है। उनकी भक्ति के आधारस्तम्भ सगुणोपासना एवं अवतारवाद के मूल में भी यही चेतना विद्यमान है।

3.1.4.6. आध्यात्मिक नीति

तुलसीदास भक्तिकाल की सगुणधारा के अन्तर्गत रामभक्तिकाव्य-परम्परा के प्रतिनिधि कवि हैं। उन्होंने अपने सभी काव्य-ग्रन्थों में अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र के प्रति अनन्य भक्तिभाव अभिव्यक्त किया है। आध्यात्मिक व भक्ति-चेतना सम्पन्न तुलसीदास रामभक्ति को अपना परम लक्ष्य मानते हैं। 'रामचरितमानस' में तुलसीदास स्पष्टतया स्वीकार करते हैं कि 'सेवक-सेव्य भाव' के बिना व्यक्ति इस संसार-सागर से तर नहीं सकता –

सेवक-सेव्यी भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।

'विनयपत्रिका' में तुलसीदास की आध्यात्मिक चेतना अधिक स्पष्टता से अभिव्यक्त हुई है। वे कहते हैं –

ब्रह्म तू है जीव हौं तू ठाकुर हौं चेरो।
तात-मात गुरु सखा तू सब विधि हितु मेरो॥

जो परमेश्वर एक हैं, जिनकी कोई इच्छा नहीं है, जिनका कोई रूप और नाम नहीं है, जो अजन्मा, सच्चिदानन्द और परमधाम हैं तथा जो सबमें व्यापक एवं विश्वरूप हैं, उन्हीं भगवान् ने दिव्य शरीर धारण करके नाना प्रकार की लीला की है –

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद पर धामा॥
व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥

विषय, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के देवता और जीवात्मा – ये सब उस एक परब्रह्म की सहायता से ही चैतन्य होते हैं। विषयों का प्रकाश इन्द्रियों से, इन्द्रियों का प्रकाश इन्द्रियों के देवताओं से और इन्द्रियों के देवताओं का प्रकाश चेतन जीवात्मा से होता है। तुलसीदास कहते हैं कि इन सबके परमप्रकाश अनादि ब्रह्म श्रीराम हैं –

विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥
सब पर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥

तुलसी का मानना है कि यदि अपने भीतर व बाहर दोनों ओर उजाला चाहते हैं तो मुखरूपी द्वार की जीभरूपी देहली पर रामनामरूपी दीपक रखना होगा –

राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥

देवता, मनुष्य और मुनियों में ऐसा कोई नहीं है जिसे भगवान् की महान् बलवती माया मोहित न कर दे, इसलिए प्राणियों को मन में इसका विचार कर महामाया के स्वामी श्रीरामचन्द्र प्रभु का भजन करना चाहिए –

सुर नर मुनि कोउ नाहिं जेहिं न मोह माया प्रबल।
अस बिचारि मन माहिं भजिअ महामाया पतिहि॥

नाम-महिमा का गुणगान करते हुए तुलसीदास कहते हैं कि कलियुग में रामनाम वह कल्पवृक्ष है जो स्मरण करते ही संसार के सब जंजालों का नाश कर देने वाला है। कलियुग में यह रामनाम मनोवांछित फल देने वाला, परलोक का परम हितैषी और इस लोक का माता-पिता है –

नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जग जाला॥
राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता॥

आध्यात्मिक चेतना से परिपूर्ण तुलसीदास की पूरी निष्ठा अपने आराध्य के प्रति है। मूर्ख सेवक, कंजूस राजा, कुलटा स्त्री और कपटी मित्र – ये चारों शूल के समान पीड़ा देने वाले हैं। तुलसीदास कहते हैं –

सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥
सखा सोच त्यागहु बल मोरें। सब बिधि घटब काज मैं तोरे॥

मानव-जीवन दुर्लभ है इसलिए अपना कार्य विवेकपूर्ण ढंग से करना चाहिए। तुलसीदास चेतावनी देते हैं कि काल किसी को लाठी लेकर नहीं मारता बल्कि वह धर्म, बल, बुद्धि और विचार को हर लेता है –

काल दण्ड गहि काहु न मारा। हरइ धर्म बल बुद्धि बिचारा॥

तुलसीदास कहते हैं कि जो प्राणी मनुष्य जन्म में श्रीराम का भजन नहीं करते प्रत्युत विषयों में खोए रहते हैं। उनका यह मूर्खतापूर्ण आचरण वैसा ही है कि जैसे कोई व्यक्ति काँच के टुकड़ों को प्राप्त करने के लिए हाथ में रखी पारसमणि फेंक दे –

सो तनु धरि हरि भजहिं न जे नर। होहिं बिषय रत मंद मंद तर॥
काँच किरिच बदलें ते लेहीं। कर ते डारि परस मनि देहिं॥

तुलसी की नैतिकता का महत्त्वपूर्ण सरोकार अध्यात्म है। उनकी आध्यात्मिक नीति तत्युगीन पतनशील सामन्ती समाज में नैतिक आलोक लेकर प्रकट होती है। इसी अध्यात्म के आधार पर लोकमंगल के निहितार्थ तुलसी ने संसार और ब्रह्म के सम्बन्धों के सूत्र को पहचाना है। तुलसीदास की आध्यात्मिक नीति के मूल में मानव-जीवन के उच्चतर मूल्यों की खोज निहित है। उनकी आध्यात्मिक नीति व्यक्ति व समाज के झूठ को पहचानने की सबल चेतना भी प्रदान करती है।

3.1.4.7. सांस्कृतिक नीति

तुलसीदास की सांस्कृतिक चेतना का मूल आधार मानव जीवन-दर्शन है जो मध्यकालीन पतनशील सामन्ती समाज में नैतिक आलोक लेकर प्रकट होता है। अपनी कविता के माध्यम से वे मानव जीवन के मूल संकटों की पहचान करते हैं। इसी से उनकी सांस्कृतिक नीति मानसी है जो अनुशासित व्यक्ति व समाज से अपना सरोकार रखती है। ऐसे में भक्तकवि तुलसीदास सबसे पहले पारिवारिक संस्कार की बात करते हैं। परिवार में नैतिक मूल्य का संस्कार नहीं रह गया है। न तो गुरु के स्तर पर और न ही परिवार के स्तर पर शिक्षा का कोई महत्त्व दिखाई देता है। शिक्षा केवल पेट भरने तक सीमित रह गई है।

पारिवारिक संस्कार और मूल्य के आलोक में तुलसीदास शिक्षा केमहत्त्व को प्रतिपादित करते हैं। उनकी पूरी नैतिक चेतना में करुणा एवं आत्मविसर्जन की प्रस्तावना विद्यमान है। करुणा के आधार पर ही मनुष्य को जोड़ा जा सकता है। तुलसीदास के नायक श्रीराम करुणावान् हैं। वे अन्याय के सदैव विरुद्ध हैं। तुलसी की अवतारवाद की पूरी कल्पना ही करुणामय है। वे कहते हैं –

तुलसी अपने राम को भजन करौ निरसंक।
आदि अन्तन निरबाहिवो जैसे नौ को अंक॥

तुलसी ने अपने जीवन में अर्थाभाव के दंश को झेला है। उनका सारा जीवन भिक्षा माँगते व्यतीत हुआ है। बच्चे विद्यालय जाने की बजाय काम पर जा रहे हैं। यह समकालीन समाज का सबसे खतरनाक पहलू है –

कलि बारहि बार दुकाल परै बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।
नर पीड़ित रोग न भोग कहीं न अभिमान विरोध अकारण ही॥

समाज में दया, निष्ठा, ईमानदारी आदि मानवीय गुणों का लोप हो गया है। सर्वत्र क्रोध, घृणा, अहंकार व द्वेष का बोलबाला है। तुलसीदास सचेत करते हैं कि दया ही धर्म का मूल है और इसके ठीक विपरीत अहंकार समस्त पापों का जड़ होता है –

दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
तुलसी दया न छाँडिए जब लग घट में प्राण॥

अज्ञान व मोह सब प्रकार के रोगों की जड़ है। इन व्याधियों से अन्य अनेक शूल उत्पन्न होते हैं। काम वासना वात है, लोभ अपार कफ है, क्रोध पित्त है जो सदैव छाती जलाता रहता है। तुलसीदास ने कहा है –

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥
काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्तल नित छाती जारा॥

तुलसीदास सचेत करते हैं कि ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद गले की रोगों की अधिकता है। पराये आनन्द को देखकर जो जलन होती है, वह क्षय है। मन की दुष्टता और कुटिलता ही कोढ़ है –

ममता दादु कंडु इरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई।
पर सुख देखि जरनि सोइ छई। कुष्ट दुष्टता मन कुटिलई॥

अहंकार मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। यह अत्यन्त दुःख देने वाला डमरू है। दम्भ, कपट, मद और मान नेहरुआ यानी नसों का रोग है –

अहंकार अति दुःखद डमरुआ। दम्भ कपट मद मान नेहरुआ॥

तुलसीदास कहते हैं कि तृष्णा बड़ा भारी जलोदर रोग है। पुत्र, धन और मान की प्रबल इच्छाएँ प्रबल तिजारी हैं –

तृस्ना उदरबृद्धि अति भारी। त्रिबिधि ईषना तरुन तिजारी॥

तृष्णा व्यक्ति व समाज को दूषित कर देती है, इसलिए तुलसीदास मानव-जीवन में सन्तोष को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए कहते हैं कि सन्तोष धन प्राप्त हो जाने पर और किसी धन की ज़रूरत नहीं रह जाती है –

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवत सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥

परस्पर विरोधी धाराओं को एक बिन्दु पर ले जाना सांस्कृतिक समन्वय की पहचान है। भारतीय संस्कृति की प्रकृति समन्वयात्मक है। समन्वय भारतीय समाज की अनिवार्य आवश्यकता है। इसलिए तुलसीदास के यहाँ सगुण और निर्गुण में कोई भेद नहीं है। जो निर्गुण है, प्रेम और भक्ति की दशा में वही सगुण हो जाता है –

अगुन अरूप अलख अज जोई। भगति प्रेम बस सगुन सो सोई॥

तुलसीदास वैष्णव और शैव के स्तर पर भी समन्वय की बात करते हैं। तुलसी ने अपने आराध्य श्रीरामचन्द्र से कहलवाया है –

शिव द्रोही मम दास कहावा ! सो नर मोहि सपनेहुँ नहिं भावा॥

मध्यकालीन रचनाकारों की नारी विषयक अवधारणा को सामन्ती मूल्यों का पोषक माना जाता है लेकिन तुलसी का नारी के प्रति दृष्टिकोण मर्यादित है। वे स्त्री की पराधीनता का सवाल उठाने वाले पहले रचनाकार हैं –

कत विधि सृजी नारी जग माहीं , पराधीन सपनेहुँ सुख नाही॥

ममता में फँसे हुए मनुष्य से ज्ञान की कथा, अत्यन्त लोभी से वैराग्य का वर्णन, क्रोधी से शम की बात और कामी व्यक्ति से भगवान् की कथा – इनका वैसा ही फल होता है, जैसा ऊसर में बीज बोने से होता है। संस्कार वहाँ उत्पन्न किए जा सकते हैं जहाँ ग्राह्यता हो। उर्वरता के अभाव में बीजवपन करना व्यर्थ है। तुलसीदास कहते हैं –

ममता रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बएँ फल जथा॥

अस्तु, तुलसीदास की सांस्कृतिक नीति मांगलिक है जो मन, वचन एवं कर्म की शुद्धता, सत्यता एवं निश्छलता की अनुशंसा करती है जिसमें एक ओर जहाँ लोकव्यवहार, लोकमर्यादा, लोकरक्षा और लोक के आचार-विचार को दिशा दी गई है, वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक दर्शन और भक्ति-भावना का भी सुन्दर प्रकाशन किया गया है।

3.1.5. तुलसीदास का नीतिकाव्य और भक्तिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

तुलसीदास का नीतिकाव्य मानव मुक्ति की अभूतपूर्व प्रस्तावना है। भक्तिकालीन काव्य-परम्परा की आलोक में मुक्ति का वास्तविक अर्थ है – 'जीने का समान अवसर'। अधिकारों की समानता के बगैर मुक्ति एवं स्वतन्त्रता भ्रामक एवं छद्म है। इसलिए तुलसीदास समाज में जनतान्त्रिक चेतना का निर्माण करते हैं। वस्तुतः मानवतावाद की जो परिकल्पना आधुनिक समाज के चिन्तन में उभर रही है, उसकी मूल चेतना तुलसी-कृत नीतिकाव्य में प्राप्त होती है।

सम्पूर्ण भक्तिकाव्य-परम्परा का निर्वहन करते हुए तुलसीदास अपने नीतिकाव्य में लोकजीवन की प्रतिष्ठा करते हैं और सम्पूर्ण जनसामान्य की चिन्ता करते हैं। वस्तुतः उनके नीतिकाव्य की ऊर्जा का स्रोत सामान्य जीवन ही है। तुलसी-काव्य की अभिव्यक्ति अभिजात्यता की गोद से नहीं अपितु मनुष्य की सामान्यता की ऊर्वर भूमि से हुई है। तुलसी-काव्य भूगोल तथा संस्कृति की सीमाओं का सम्मेलन करते हुए मनुष्य को एक धरातल पर लाने की चेष्टा करता है।

तुलसीदास के लिए नीति का अभिप्राय मर्यादा की स्थापना है। उनके लिए नीति का आशय व्यक्ति और समाज का अनुशासित होना है। वे अपने परिकल्पित मर्यादित समाज यानी रामराज्य की स्थापना द्वारा लोकमंगल की स्थापना करते हैं। इसके माध्यम से वे प्रतिमानवीय शक्तियों से संघर्ष कर उन्हें परास्त करने का उद्यम करते हैं। लोकमंगल के निहितार्थ तुलसीदास की नीति अधिक ठोस, तार्किक तथा मानवीय चेतना से अनुप्राणित है। लोकमंगल की परिस्थितियों का निर्माण तुलसीदास की नीतिगत चुनौतियों में से एक है और इस बिन्दु पर तुलसी-काव्य एक मानवतावादी नीतिकाव्य है।

3.1.6. पाठ सार

तुलसीदास का काव्य-संसार जातीय रचनाशीलता और नीतिपरक मानवीय-मूल्यों का अप्रतिम उदाहरण है। उनका काव्य जहाँ अपने समय के सामाजिक और मानवीय संकटों का तकलीफदेह बयान करता है, वहीं व्यक्ति व समाज के जीवन का सार्थक आदर्श भी प्रस्तुत करता है। तुलसीदास की कतिपय नीतिगत सीमाएँ भी हैं। यथा – वर्णव्यवस्था की स्वीकृति, स्त्री के प्रति कहीं-न-कहीं असहानुभूति का भाव, सामाजिक पारम्परिक परिवर्तन की कोशिशों का धीमापन आदि। लेकिन ये सीमाएँ वस्तुतः तुलसी की न होकर उस युग की हैं। वस्तुतः कोई भी नीति अथवा दर्शन अपने समय की सीमाओं से अछूता नहीं हो सकता इसलिए किसी भी नीतिकाव्य की महत्ता इस बात पर निर्भर करती है कि वह किस हद तक अपने समय की सीमाओं का अतिक्रमण करती है तथा विकल्प प्रदान करती है। आधुनिक विश्वदृष्टि में अनेक सीमाओं से युक्त होने के बावजूद तुलसीदास-कृत नीतिकाव्य की प्रासंगिकता निर्विवाद है।

3.1.7. कठिन शब्दावली

गरल	:	विष
मसि	:	कालिख
दादुर	:	मेढक
विधु	:	चन्द्रमा
बिटप	:	वृक्ष
सठ	:	मूर्ख
शम	:	शमन

3.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. पोद्दार, हनुमान प्रसाद, श्रीरामचरितमानस, गीताप्रेस, गोरखपुर.
2. शास्त्री, डॉ॰ चरणदास शर्मा, तुलसी के काव्य में नैतिक मूल्य, भारतीय ग्रन्थ निकेतन, नयी दिल्ली.
3. मेघ, रमेश कुंतल, तुलसी : आधुनिक वातायन से, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. शुक्ल, रामचन्द्र, गोस्वामी तुलसीदास, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. सिंह, उदयभानु, तुलसी काव्य-मीमांसा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. तिवारी, अजय, तुलसीदास : एक मूल्यांकन, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा.
7. सिंह, योगेन्द्र प्रताप, तुलसी के रचना सामर्थ्य का विवेचन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

3.1.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. तुलसीदास का कृतित्व।
2. तुलसी की आध्यात्मिक चेतना।
3. तुलसीदास की धार्मिक नीति।
4. तुलसीदास की नीति में सत्संग का महत्त्व।
5. तुलसीदास की समन्वय नीति।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "तुलसीदास का नीतिकाव्य मानवीय एकता का सम्प्रसारक है।" उक्त कथन की समीक्षा कीजिए।
2. "तुलसीदास के नीतिकाव्य में भावजगत् व कर्मजगत् का पूर्ण समन्वय दिखाई देता है।" उक्त कथन की पुष्टि कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. भक्तकवि तुलसीदास का नीतिकाव्य अभिप्रेरित है–
   (क) लोकहित से
   (ख) लोकाचरण से
   (ग) उपर्युक्त दोनों
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. 'रामसतसई' के रचयिता हैं –
   (क) तुलसीदास
   (ख) रहीम
   (ग) कबीर
   (घ) सूरदास

3. "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो।" यह कथन किसका है ?
   (क) आचार्य रामविलास शर्मा
   (ख) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
   (ग) आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

(घ) आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

4. 'मूल गोसाईंचरित' के अनुसार तुलसीदास का जन्म स्थान है –
   (क) बांदापुर
   (ख) राजापुर
   (ग) मिर्ज़ापुर
   (घ) मंगलापुर

5. ग्रियर्सन के अनुसार बुद्ध के बाद भारत का सबसे बड़ा लोकनायक है–
   (क) कबीर
   (ख) सूरदास
   (ग) तुलसी
   (घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 3 : भक्त कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 2 : रहीम के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

3.2.0. उद्देश्य कथन
3.2.1. प्रस्तावना
3.2.2. रहीम : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  3.2.2.1. व्यक्तित्व
  3.2.2.2. कृतित्व
3.2.3. रहीम का युगबोध एवं मानव-दर्शन
3.2.4. रहीम का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  3.2.4.1. वैयक्तिक नीति
  3.2.4.2. सामाजिक नीति
  3.2.4.3. राज्य नीति
  3.2.4.4. अर्थ नीति
  3.2.4.5. धार्मिक नीति
  3.2.4.6. आध्यात्मिक नीति
  3.2.4.7. सांस्कृतिक नीति
3.2.5. रहीम का नीतिकाव्य और भक्तिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
3.2.6. पाठ सार
3.2.7. कठिन शब्दावली
3.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
3.2.9. बोध प्रश्न

3.2.0. उद्देश्य कथन

परवर्ती मध्यकालीन नीतिकवियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाले कवियों में रहीम का नाम अग्रणी है। रहीम की कविता जीवन-जगत् के व्यापक अभिज्ञान और लोकजन की गहन अन्विति की प्रांजल प्रसूति है। वे कविता के कारोबारी नहीं अपितु नैतिक व्यवहारी प्रतीत होते हैं। अपनी रचनाओं में वैयक्तिक व लोकानुभवों को पर्याप्त महत्त्व देने के कारण उन्होंने भक्ति और नीति जैसे नीरस विषयों को भी कान्तासम्मत उपदेश का सरस रूप दे दिया है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रहीम के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. रहीम का युगबोध एवं उनके मानव-दर्शन की संकल्पना का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. हिन्दी नीतिकाव्य और मूल्य-चेतना के आलोक में रहीम के अवदान की चर्चा कर सकेंगे।

iv. हिन्दी साहित्य में भक्ति-रीतिकालीन परम्परा की मूल्य-चेतना के सन्दर्भ में रहीम के नीतिकाव्य का मूल्यांकन कर सकेंगे।

3.2.1. प्रस्तावना

हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्तिकालीन पाँच बड़े कवि हुए हैं – तुलसी, सूर, जायसी, कबीर और रहीम। रहीम में जहाँ एक ओर भक्ति-भावना की उज्ज्वलता, नीतितत्त्व की सात्विकता तथा सामान्य जन-जीवन के प्रति तादात्म्य है, वहीं दूसरी ओर उनमें राजसिक शोभा, शृंगारिक रसमग्नता, रूपाकर्षी सौन्दर्यप्रियता एवं कलाविलासोन्मुखता भी सहज भाव से समाविष्ट है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल साहित्य का मूल प्रयोजन लोकमंगल मानते हैं। इस आलोक में साहित्य का मूलाधार यदि बहुप्रकारी मानव-जीवन है, साहित्य का रूपायन यदि सहज कलामय पुनर्सृजन है तो कविश्रेष्ठ रहीम का काव्य-संसार अभूतपूर्व और विविधायामी है। चूँकि, वे सच्चे जीवन संवेदी और सहज-हृदय-संकर्षी शब्दशिल्पी हैं, इसलिए उनकी रचनाओं में कलाबाजी के लिए कोई संभ्रम नहीं है। उल्लेखनीय है कि गोस्वामी तुलसीदास जैसे रचनाकार रहीम के प्रति स्नेह-भाव रखते थे, आचार्य केशवदास उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते थे तथा मतिराम उनसे सदैव अभिप्रेरित हुए। क्योंकि, रहीम मध्ययुगीन विद्योतमान व्यक्तित्व हैं इसलिए राष्ट्र-समाज-इतिहास-साहित्य-संस्कृति, सब रहीम का स्मरण सजल भाव से करते हैं।

3.2.2. रहीम : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

साहित्य समाज का दर्पण है। साहित्यकार जिस युग में जन्म लेता है, उस युग का परिवेश उसके साहित्य को अवश्य ही प्रभावित करता है। रहीम के व्यक्तित्व व कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ॰ आरिफ नज़ीर ने ठीक ही कहा है कि रहीम का काव्य स्वानुभूतिमूलक वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं का प्रतिफलन होते हुए भी उनके युग की वास्तविक दशा एवं स्थिति का जीता-जागता चित्र है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन कहते हैं कि मध्ययुगीन परिवेश में जहाँ सूर और तुलसी जैसे सूरजचाँद उदय हुए, वहाँ रहीम भी कविता के उन्नायक बने। उनकी हिन्दी कविता कितनी चुभती हुई है, उनके दोहे भी तुलसी की चौपाइयों की तरह लोगों के मुख पर चढ़े हुए हैं। उनके एक-एक दोहे गागर में सागर की तरह गम्भीर अर्थ और अनुभव भरा होता है। उनकी रचनाओं में साम्प्रदायिक संकीर्णता की दुर्गन्ध नहीं मिलती। रहीम भली-भाँति जानते हैं कि नैतिक जीवन-मूल्यों के बिना मानव-जगत् का विकास कतई सम्भव नहीं है, इसलिए उनके शब्द भी सार्थक हैं और उनका व्यक्तित्व भी।

3.2.2.1. व्यक्तित्व

विद्वानों ने रहीम को तुर्कमान मूल का स्वीकार किया है। रहीम के पूर्वजों का मूल निवास स्थान अरब तथा कैस्पियन सागर की तलहटी का वह क्षेत्र माना जाता है जो काराकूरम रेगिस्तान से लेकर पूर्व में आमू नदी तक फैला हुआ था। वंश परम्परा के आलोक में डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र ने विस्तार से रहीम की वंश परम्परा (बहारलू-अलीशुकर बेग > पीरअली > यारबेग > सैफ़ अली > बैरम ख़ां > अब्दुर्रहीम) का उल्लेख किया है। रहीम का जन्म 17 दिसम्बर, 1556 ई. को लाहौर में हुआ। उनकी विलक्षण बुद्धि, अपूर्व प्रतिभा एवं आकर्षक व्यक्तित्व से

प्रायः सभी लोग प्रभावित थे। पिता की ओर से उन्हें पराक्रम, दूरदर्शिता, दानशीलता, साहित्य-संगीत-कला की अभिरुचि और राज्य संचालन के गुण नैसर्गिक रूप से प्राप्त हुए थे तथा मातृपक्ष से उन्हें मेवाती वंश का दुर्धर्ष क्षात्रधर्म प्राप्त हुआ था। बादशाह अकबर अत्यधिक प्यार और दुलार के कारण रहीम को अधिकांशतः अपनी सेवा में रखते थे। आगे चलकर रहीम का विवाह प्रसिद्ध अमीर मिर्ज़ा अज़ीज़ कोका की बहन माहबानो बेगम से हुआ। तत्कालीन प्रचलन के अनुसार रहीम की अनेक पत्नियाँ थीं लेकिन माहबानो बेगम ही उनकी प्रधान बेगम बनी रहीं और उनके गर्भ से रहीम के तीन पुत्र और दो पुत्रियाँ उत्पन्न हुईं। आरिफ़ नज़ीर के अनुसार इन पाँच सन्तानों के अतिरिक्त रहमान दाद, मिर्ज़ा अमरुल्ला तथा हैदर कुली नामक रहीम के अन्य तीन पुत्र भी हुए जो कि अन्य पत्नियों के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

मुगल बादशाह अकबर रहीम की विद्वता के साथ-साथ उनकी वीरता से भी प्रभावित थे। अकबर के बाद जहाँगीर का आश्रय भी रहीम को प्राप्त हुआ। हालाँकि, जहाँगीर का व्यवहार रहीम के प्रति एकसमान नहीं रहा। लेकिन जहाँगीर ने रहीम के साथ हुए अत्याचारों का बड़ा प्रायश्चित किया तथा अन्ततः अपनी गलती स्वीकार की। उसने सन् 1615 ई. में रहीम की छीनी हुई उपाधि 'ख़ानख़ाना' उन्हें पुनः प्रदान की। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में रहीम सिंध में महावत ख़ां का पीछा करने से पहले ही लाहौर में अस्वस्थ हुए तथा वर्ष 1627 ई. में उनकी मृत्यु हो गई। धर्म की दृष्टि से मुसलमान होते हुए भी रहीम समन्वयवादी माने जाते हैं। वस्तुतः वे किसी धर्म विशेष सम्बन्धित न होकर सच्चे मानवधर्मी थे।

3.2.2.2. कृतित्व

ख़ानख़ाना रहीम अपने बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के कारण हिन्दी साहित्य जगत् में विशिष्ट स्थान रखते हैं। अपनी अद्भुत प्रतिभा, गहन अधीत-विद्यता तथा मौलिक सृजन क्षमता के बल पर उन्होंने अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रणयन किया। वे अरबी, फारसी, तुर्की, संस्कृत, अवधी, ब्रजी आदि भाषाओं के ज्ञाता ही नहीं थे, अपितु इन भाषाओं में काव्य-रचना का अभूतपूर्व सामर्थ्य भी रखते थे। उन्होंने अनेक कृतियों का प्रणयन किया है। 'दोहावली', 'नगर-शोभा', 'बरवै-नायिका-भेद', 'बरवै' (भक्तिपरक), 'शृंगार-सोरठा', 'मदनाष्टक', 'फुटकर-छन्द', 'संस्कृत-काव्य', 'फ़ारसी रचनाएँ' आदि उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। रहीम की रचनाओं से सम्बन्धित अनेक संग्रह-ग्रन्थ प्रकाशित और पाठकों के बीच सम्मानित होते रहे हैं। इस परिप्रेक्ष्य में ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित 'रहिमन-विलास', पण्डित मायाशंकर याज्ञिक द्वारा सम्पादित 'रहीम-रत्नावली', सुरेन्द्रनाथ तिवारी द्वारा सम्पादित 'रहीम-कवितावली', रामनाथलाल सुमन द्वारा सम्पादित 'रहिमन-चन्द्रिका', हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'रहिमन-विनोद', शारदा प्रेस कानपुर द्वारा प्रकाशित 'रहिमन-शतक', डॉ॰ विद्यानिवास मिश्र द्वारा सम्पादित 'रहीम-ग्रन्थावली' आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

3.2.3. रहीम का युगबोध एवं मानव-दर्शन

तत्युगीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिवेश ने रहीम के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को काफी गहराई तक प्रभावित किया है। संयोग से जिस वर्ष रहीम का जन्म हुआ, उसी वर्ष अकबर ने बादशाह का पद ग्रहण किया। अपने जीवन का गौरवशाली समय रहीम ने अकबर के ही राज्यकाल में व्यतीत किया। चूँकि, अकबर मात्र तेरह वर्ष की आयु में ही राजगद्दी पर आसीन हुआ, इसलिए उसके समक्ष अपने आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं से निपटने की बड़ी चुनौती थी। ध्यातव्य है कि मुगल बादशाह अकबर ने अपने शत्रुओं से सामना करने के लिए सेना को बहुत शक्तिशाली बनाया। उसने बहुत कम उम्र में ही रहीम को भी सैनिक बना दिया। वैसे तो रहीम आजीवन राजनीति और युद्ध जैसे साहित्य विपरीत कार्यों में जुटे रहे, फिर भी उन्होंने उत्कृष्ट काव्य-रचना की है। उन्होंने अनेक युद्धों में भाग लिया, इसलिए उनके काव्य पर इसका काफी प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए उन्होंने तलवार, पैदल चलने वाले सैनिक, प्यादा, घोड़े पर चलने वाले नायक आदि के माध्यम से बहुत ही नीतिपूर्ण छन्दों की रचना की है। अकबर के बाद उसका बेटा जहाँगीर शासक बना जिसने अपने राज्य के प्रबन्धन में अपने पिता का ही अनुसरण किया। वह कलाप्रेमी व कलासंरक्षक बादशाह के रूप भी याद किया जाता है।

मुगल बादशाह जहाँगीर के बाद शाहजहाँ शासक बना जिसने राज्य-प्रबन्धन में काफी उथल-पुथल की और तत्युगीन राजनैतिक परिवेश का प्रभाव रहीम के काव्य पर भी देखा जा सकता है। उस राजनैतिक उथल-पुथल से प्रभावित रहीम का अन्तिम समय अच्छा नहीं रहा तथा उन्हें अपने जीवन के अन्तिम क्षणों में सुख-दुःख का अत्यन्त गहन अनुभव मिला। राजनीति रचनाकार की रचनाशीलता व उसके स्वरूप पर असरकारी प्रभाव छोड़ती है। रहीम की रचनाओं को पढ़कर यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐश्वर्य काल में रहीम के अनेक मित्र थे किन्तु विपत्तिकाल में उनका कोई मित्र नहीं रहा। इस महत्त्वपूर्ण लोकनीति एवं व्यवहार की मार्मिक, सहज एवं सरल अभिव्यक्ति उनकी रचनाओं में काफी प्रभावी है।

मध्ययुगीन समाज में वर्ण-व्यवस्था का काफी प्रचलन था। हिन्दू समाज की तरह मुस्लिम समाज भी अनेक वर्गों में विभाजित था। पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा जैसी कुरीतियों ने तत्कालीन समाज को पूरी तरह से आबद्ध कर रखा था। समाज में बहुविवाह या पुनर्विवाह की प्रथाएँ भी सामाजिक संरचना व उसके स्वरूप को दूषित कर रही थीं। रहीम-काव्य में तत्युगीन सामाजिक बोध प्रबल है। रहीम ने अपनी रचनाओं में न केवल हिन्दू-मुस्लिम एकता पर जोर दिया है अपितु भिक्षावृत्ति, मदिरापान आदि अनैतिक आचरणों पर भी उन्होंने खुलकर हमला बोला है।

धार्मिक चेतना की मानवीय अभिव्यक्ति रहीम के काव्यों की अनूठी विशेषता है। युगीन वातावरण के अनुरूप ही मुसलमान होते हुए भी उन्होंने कृष्णभक्ति का मनोहारी व जीवन्त चित्रण किया है। वे राम-रहीम की एकता के साथ-साथ राम-कृष्ण की एकता पर भी पूरा बल देते हैं। उनके काव्य में रामभक्ति के सरस उदाहरण बेहद प्रभावी हैं। सूफी साधना के अनुरूप रहीम हृदय की आन्तरिक शुद्धता को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देते हैं, क्योंकि ईश्वर अंश से परिपूर्ण अपने हृदय से ही व्यक्ति ईश्वर को जान सकता है।

मध्ययुगीन परिवेश ने रहीम के काव्य की भाषा एवं भाव को बहुत हद तक प्रभावित किया है। रहीम अपने जीवनकाल में काफी व्यस्त रहे सम्भवतया इसलिए वे किसी महाकाव्य की रचना नहीं कर पाए। उन्होंने दोहा, सोरठा, बरवै आदि छोटे-छोटे मुक्तक छन्दों में विविध विषयों पर अपने मन में उठे भावों को बड़ी ईमानदारी से पिरोया है।

रहीम के काव्य से यह सहज ही अनुभूत है कि उनका वैयक्तिक चिन्तन व मानव जीवन-दर्शन समेकित रहा। लौकिक और पारलौकिक ज्ञान में वे अद्वितीय माने जा सकते हैं। वे प्रकृष्ट चिन्तक, महान् सेनापति, नीतिनिष्ठ शिक्षक, सफल प्रशासक, अभूतपूर्व राजनीतिज्ञ, बहुविद् मानसी और मानवीय भावनाओं के सरल व उत्कृष्ट हस्ताक्षर हैं। जनसम्वेदना, जनविश्वास, लोकानन्द और लोकानुभूति रहीम के काव्य में समाविष्ट हो हैं। अकुण्ठ भाव से लोक में समाहित ऐसा श्रेष्ठ रचनाकार ही मानवधर्मी चिन्तक है। जो रचनाकार मानवधर्मी होगा, उसका काव्य उतना ही प्रभावी और प्रेरणास्पद होगा। रहीम ऐसे ही मानवधर्मी कवि हैं। उनका काव्य और जीवन-दर्शन मूलतः लोक से अन्तःप्राणित है। कुछ विद्वानों ने रहीम की रचनात्मक दृष्टि पर स्थानीयता का आरोप लगाया है, लेकिन वह तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता है क्योंकि रहीम के काव्य व मानव जीवन-दर्शन में जो स्थानीयता प्रतीत होती है, वह अपने प्रतिपाद्य में सार्वभौमिक प्रकृति बनाए रखती है। सारांशतः वह लोकमानस का दर्पण है।

3.2.4. रहीम का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

मानवीय आचरण एवं व्यवहार सदैव नीति से संचालित होता है। नैतिक चेतना के मापदण्ड सुचिर-सुचिन्तित नीतिशास्त्र तय करता है। मनुष्य अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय कुछ नियमों के आधार पर करता है। वस्तुतः नैतिक आचरण करने की शक्ति समाज में पहले आती है, उसके उपरान्त उसमें नैतिक नियमों पर दार्शनिक विचार करने की शक्ति आती है। मनुष्य को नैतिक बनाने वाले तत्त्व क्रिया और विचार हैं। क्रिया और विचार ही नैतिक जीवन के आलम्बन हैं। एक अर्थ में नीति मानवीय उपलब्धि और और सामाजिक अवाप्ति है। नीतिकाव्य नीति की ही सार्थक व रचनात्मक अभिव्यक्ति है। नीतिकाव्य की भावभूमि इतनी विस्तृत और व्यापक है कि देश की नैतिक परम्परा के अनुकूल व्यक्ति और समाज के नैतिक विकास के लिए आवश्यक जितनी भी बातें हो सकती हैं, सभी इसमें सहज ही समाविष्ट हैं। चूँकि, रहीम ने अनेक दशाओं में मानव-जीवन को तथा उसकी सफलताओं-असफलताओं, उपलब्धियों एवं सम्भावनाओं को अत्यन्त निकटता से देखा था, इसलिए उनकी अभिव्यक्ति कहीं भी कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है। ऐसे में उनकी नीति या तो स्वानुभूत है या फिर सहज परम्परानुभूत। रहीम के नीतिकाव्य के प्रतिपाद्य विषय अनन्त हैं, उसके कई सन्दर्भ हैं तथा उनकी नैतिक शिक्षा सम्बन्धी एक-एक बात व्यावहारिक तथा गम्भीर अनुभूतियों का दर्पण है। उनके काव्य में वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक आदि नीति के विविध आयाम अपनी उच्चतर स्थिति में भावनीय और अनुकरणीय हैं।

3.2.4.1. वैयक्तिक नीति

व्यक्ति समाज का अभिन्न अंग है। यदि समाज को उदात्त एवं गौरवपूर्ण बनाना है तो व्यक्ति को नैतिक जीवन-मूल्यों का अनुकरण करना होगा। वैयक्तिक नैतिकता के विकास के लिए रहीम ने विविध गुणों के विकास पर जोर दिया है। वैयक्तिक नीति-निरूपण में रहीम सत्संग की महत्ता को अपनी रचनाओं में बार-बार रेखांकित करते हैं क्योंकि व्यक्ति का नैतिक विकास सत्संग से ही होता है। सही मित्र की पहचान कराते हुए वे सचेत करते हैं कि मित्रता की कसौटी त्याग है। मित्र का सुख ही मित्र का परम काम्य होता है। जिस व्यक्ति का मन अपने मित्र के दुःख को देखकर दुखी नहीं हो, वह मित्र तो क्या, 'आदमी' भी कहलाने का अधिकारी नहीं है। विपत्ति के दिनों में ही सच्चे मित्रों की पहचान होती है –

कह रहीम संपति सगे, बनत बहुत बहु रीत।
विपति-कसौटी जे कसे, ताही सांचे मीत॥

व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार पर सत्संगति का बहुत प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति जैसी संगति में रहेगा, वह वैसा ही बन जाएगा –

कदली सीप भुजंग-मुख, स्वाति एक गुण तीन।
जैसी संगति बैठिये, तैसोई फल दीन॥

हालाँकि, रहीम यह भी स्वीकार करते हैं कि यदि व्यक्ति दृढ़ निश्चयी है, अपने स्वभाव से उदात्त है, सज्जन है तो कुसंगति उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती –

जो रहीम उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग॥

सज्जन व्यक्ति की संगति से दुर्जन व्यक्ति भी सज्जन बन जाते हैं, इसलिए रहीम सज्जन व्यक्तियों से मित्रता बनाए रखने पर बल देते हैं –

टूटे सुजन मनाइए, जो टूटे सौ बार।
रहिमन फिरि फिरि पोइए, टूटे मुक्ताहार॥

विपरीत स्वभाव वाले लोगों में कभी मेल नहीं हो सकता क्योंकि दोनों की प्रकृति भिन्न होती है। दुष्ट और सज्जन का एक साथ निर्वाह कठिन है क्योंकि दुष्ट के स्वभावजनित कुकृत्य सज्जन के लिए कष्टकारक होते हैं –

कहु रहीम कैसे निभै, बेर केर को संग।
वे डोलत रस आपने, उनके फाटत अंग॥

मर्यादा साधनामय जीवन के लिए प्रेरणा है। शीलवान् लोग इसके बिना मृत्यु का अनुभव करते हैं। शील से ही मर्यादा की रक्षा होती है। शील के विनष्ट होने पर व्यक्ति की मान-मर्यादा स्वयं ही नष्ट हो जाती है। रहीम सचेत करते हैं कि मान-मर्यादा के अतिक्रमण से व्यक्ति का विनाश सुनिश्चित है –

जो मरजाद चली सदा, सोई तो ठहराय।
जो जल उमगे पार तें, सो रहीम बहि जाय॥

इसलिए रहीम कहते हैं कि शील ही वह तत्त्व है जो व्यक्ति को पशु से विलग करता है। शील-रक्षा व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है। जहाँ शील भंग होने की आशंका हो, वहाँ उसे नहीं रहना चाहिए –

रहिमन रहिबो वा भलो, जौ लों सील समूच।
सील ढील जब देखिए, तुरत कीजिए कूच॥

लेकिन शील की रक्षा के लिए व्यक्ति का अपने मन पर नियन्त्रण परम आवश्यक है। मन के वश में होते ही व्यक्ति की इन्द्रिय-विजय होती है तथा उसके उपरान्त मान-मर्यादा सभी सुरक्षित रहते हैं। इस सन्दर्भ में रहीम कहते हैं –

जो रहीम मन हाथ है, तो तन कहुँ किन जाहिं।
जल में जो छाया परै, काया भीजति नाहिं॥

मान-सम्मान का व्यक्ति के जीवन में बड़ा महत्त्व है। इस आलोक में रहीम का मानना है कि कोई सम्मान के बिना अमृत पान भी कराये तब वह अमृत भी त्याज्य है –

रहिमन मोहि न सुहाय, अमी पियावै मान बिनु।
जो विष देय बुलाय, मान सहित मरिबो भलो॥

नैतिक व्यक्ति के लिए कपटरहित होना परमावश्यक है। जो व्यक्ति नीति व आदर्श के प्रति आस्थावान् है, जीवन-मूल्यों के प्रति समर्पित है, वास्तव में वही व्यक्ति निष्कपट है। मन की बातों को किसी बुरी भावना से छिपाना या भीतर कुछ और रखना तथा बाहर कुछ और प्रकट करना ही कपट कहलाता है। इसलिए रहीम कहते हैं कि नीति और आचरण दोनों ही दृष्टियों से कपट त्याज्य है तथा यह श्रद्धा, स्नेह एवं मैत्री का प्रत्यक्ष शत्रु है –

रहिमन वहाँ न जाइए, जहाँ कपट को हेत।
हम तन छारत ढेकुली, सींचत अपनो खेत॥

विद्या, बुद्धि, बल, धन, मान और रूप में अपने को दूसरों से बढ़कर समझने की भ्रान्ति को अभिमान, गर्व या मद कहते हैं। रहीम अभिमान की निन्दा करते हैं। उनकी दृष्टि में धर्म और आचरण, दोनों ही दृष्टियों से अभिमान त्याज्य है। वे कहते हैं कि जो उदात्त चरित्र वाले व्यक्ति हैं, वे कभी अभिमान नहीं करते –

रहिमन कबहुँ बड़ेन के, नाहिं गर्व को लेस।
भार धरे संसार के, तउ कहावत सेस॥

निम्न कोटि के व्यक्ति से सीधे और सरल ढंग से कार्य नहीं करवाया जा सकता क्योंकि वह दण्ड नीति के बल पर ही कार्य करता है। कुम्हार के चाक के प्रतीक द्वारा रहीम इस वैयक्तिक नीति का प्रतिपादन करते हैं –

रहिमन चाक कुम्हार को, मांगे दिया न देई।
छेद में डंडा डारि के, चहै नांद लै लेई॥

रहीम सचेत करते हैं कि नीच प्रकृति के व्यक्ति से सदैव दूरी बनाकर रहना चाहिए, क्योंकि उससे न तो वैर अच्छा है और न ही मित्रता –

रहिमन ओछे नरन सों, बैर भलो ना प्रीति।
काटे चाटे स्वान के, उभय भाँति विपरीत॥

अधम व दुष्ट व्यक्तियों की संगति त्याज्य है। रहीम कहते हैं कि अधम व्यक्तियों का साथ नहीं करना चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति से अन्ततः हानि ही सहनी पड़ती है –

रहिमन नीच प्रसंग तें, नित प्रति लाभ विकार।
नीर चोरावे संपुटी, मारु सहै घरिआर॥

मूर्खता स्वार्थपरता के सदृश व्यक्ति के जीवन को विनष्ट कर देती है। मूर्खों का जीवन असफल एवं उपहासजनक होता है। इस आलोक में रहीम कहते हैं कि मूर्खों की चरम सीमा तब लक्षित होती है जब वे निपुणों एवं पण्डितों के समक्ष अपनी चतुराई की प्रशंसा करते नज़र आते हैं –

करत निपुनई गुन बिना, रहिमन निपुन हजूर।
मानहुँ टेरत विटप चढ़ि, मोहिं समान को कूर॥

आत्मश्लाघा को रहीम ने निन्दनीय माना है क्योंकि आत्मप्रशंसा रूपी रस में व्यक्ति इतना डूब जाता है कि उसे इतना भी ध्यान नहीं रहता कि लोग सुनकर सभ्यतापूर्वक उसका उपहास उड़ा रहे हैं। आत्मप्रशंसा करके जहाँ विवेकहीन लोग परम गद्‌गद् होते हैं, वहीं सज्जन व उदात्त लोग लज्जा से मर्माहत हो जाते हैं। रहीम कहते हैं –

ये रहीम फीके दोउ, जानि महा संतापु।
ज्यों तिय कुच आपन गहे, आप बड़ाई आपु॥

स्वार्थ व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार को दूषित कर देता है। स्वार्थी व्यक्तियों के लिए रहीम बबूल का प्रतीक चुनते हैं जो फल, फूल और छाया प्रदान करने के स्थान पर पथिकों के मार्ग में अवरोध पैदा करता है। इस सन्दर्भ में रहीम कहते हैं –

आप न काहू काम के, डार पात फल फूल।
औरन को रोकत फिरै, रहिमन पेड़ बबूल॥

चिन्ता मानव-जीवन की सबसे विकट समस्या है। यह व्यक्ति को सन्तप्त कर नष्ट कर डालती है। इसलिए व्यक्ति को व्यर्थ ही चिन्ता नहीं करनी चाहिए। चिन्ता चिता से भी अधिक भयकारिणी है, क्योंकि चिता तो केवल मृतक को जलाती है, जबकि चिन्ता चलते-फिरते, जीते-जागते व्यक्ति को ही जला डालती है –

रहिमन कठिन चितान ते, चिन्ता के चित चेत।
चिता दहति निर्जीव को, चिन्ता जीव समेत॥

कवि रहीम के अनुसार सन्तोष ही सबसे बड़ी सम्पत्ति है। जिसे कोई कामना नहीं है, वही निश्चिन्त है और वही बड़े-से-बड़े अधिराजों का भी अधिराज है –

चाह गयी चिन्तान मिटी, मनुवा बेपरवाह।
जिनको कछू न चाहिए, ते शाहन के शाह॥

रहीम की नीति में वाणी का बहुत अधिक महत्त्व है। वे कहते हैं कि व्यक्ति को सोच-समझकर बोलना चाहिए। अपने कथन की सम्पुष्टि करते हुए रहीम कहते हैं कि उल्टी-सीधी, हल्की-भारी बात कहकर जीभ तो भीतर-की-भीतर रह जाती है परन्तु मार खोपड़ी को खानी पड़ती है –

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गै सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर रही, जूती खात कपाल॥

रहीम की वैयक्तिक नीति व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार को मानव जीवन-मूल्यों के निमित्त संस्कारित करती है, उन्हें उदात्त बनाती है। अच्छे एवं बुरे कर्मों में विभेदकर व्यक्ति को विवेकशील एवं चरित्रवान् बनाती है। जब व्यक्ति वैयक्तिक रूप से नैतिक होता है तो वह समाज को भी नैतिक रूप प्रदान करता है।

3.2.4.2. सामाजिक नीति

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह जीवन के प्रारम्भ से ही समाज का अंग बनकर अग्रसर होता है। यदि समाज को नैतिक बनाए रखना है तो यह आवश्यक है कि समाज के नियन्ता और संचालक उसका वातावरण विशुद्ध एवं नैतिक बनाएरखें। व्यक्ति का विराट् रूप समाज है तथा उसका कोई भी खण्ड टूटता है तो वस्तुतः व्यक्ति ही टूटता है, इसलिए जिस समाज के बहुसंख्यक लोग सदाचरण वाले हों, उस समाज का व्यक्ति परिवेश के प्रभाव से स्वयं उदात्त आचरण का हो जाता है। रहीम का काल जहाँ एक ओर नैतिक अवनति, पारस्परिक संघर्ष और निराशा का काल था, वहीं दूसरी ओर वह सन्तों के उपदेश, भक्तों की कुहुक और उदार उपदेशों से निर्मित पावन वातावरण का भी काल था। सामाजिक परिवेश अपनी सम्पूर्णता के साथ रहीम की रचनाओं में विद्यमान है।

कवि रहीम कहते हैं कि उदात्त चरित्र का व्यक्ति मानसिक परितृप्ति केवल श्रेष्ठ समाज में ही प्राप्त कर सकता है। हंस श्रेष्ठ व्यक्ति का प्रतीक है। रहीम कहते हैं कि हंस को मोतियों का भोग मानसरोवर में ही प्राप्त हो सकता है। वे स्वच्छ निर्मल सलिल में ही रहते हैं, जबकि बगुले मछलियों से भरे गंदले तालाबों का वातावरण ही पसंद करते हैं –

मानसरोवर ही मिले, हंसनि मुक्ता भोग।
सफरिन भरे रहीम सर, बक-बालक नहिं जोग॥

परिवार समाज की पहली इकाई है। रहीम सम्मिलित परिवार के पक्षधर हैं, क्योंकि संयुक्त परिवार में व्यक्ति का सामाजिक व मर्यादापरक आचरण उसे व्यक्तिवादी बनने से रोकता है। वस्तुतः रहीम मध्ययुगीन समाज के अनुरूप मूल्यवादी नैतिक समाजद्रष्टा हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि संयुक्त परिवार में बड़ी-से-बड़ी समस्या का मुकाबला व्यक्ति आसानी से कर सकता है। अतः बड़ा परिवार यानी संयुक्तपरिवार शक्ति है, क्षीणता नहीं –

आवत काज रहिम कहि, बाढ़ै बन्धु-सनेह।
जीरन होत न पड़े ज्यों, यामैं बरै बरेह॥

पति और पत्नी परिवार की धुरी हैं। इस आलोक में रहीम पति-पत्नी के सम्बन्धों पर आधारित एक महत्त्वपूर्ण नीति का प्रतिपादन करते हैं। वे पति व पत्नी के सम्बन्धों में मर्यादा पर विशेष बल देते हैं। स्वयं बहुपत्नी-व्यवस्था का हिस्सा होकर भी रहीम ने तत्युगीन इस प्रथा व इसके दुष्प्रभावों का प्रभावी चित्रण किया है। वे पति-पत्नी सम्बन्धों के बीच सौत न आने देने का संकेत करते हैं और सचेत करते हैं। क्योंकि पति-पत्नी के मध्य सौत के आने से परिवार की विशृंखलता अवश्यम्भावी है।

अपने परिवार की उन्नति एवं विकास देखकर आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। रहीम कहते हैं कि बड़ी-बड़ी मनोज्ञ आँखों को देखकर जैसे आँखों को अपूर्व सुख की अनुभूति होती है, वैसे ही सगोत्र, कुटुम्बी और आत्मीय जनों की बढ़ोतरी देखकर व्यक्ति को अवर्णनीय आनन्द की प्राप्ति होती है –

रहिमन यों सुख होत है, बढ़त देखि निज गोत।
ज्यों बड़री अंखियाँ निरखि, आँखिन को सुख होत॥

परिवार में पुत्र को महत्त्व दिया जाता है। इस सन्दर्भ में कवि रहीम कुपुत्र और सुपुत्र की तुलना दीपक से करते हुए कहते हैं –

जो रहीम गति दीप की, सुत सूपत की सोय।
बढ़े उजेरो तेहि रहै, गये अंधेरो होय॥

* * *

जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अंधेरो होय॥

भारतीय संस्कृति में अतिथि को देवतुल्य माना गया है। अतिथि सम्मान एक आवश्यक सामाजिक परम्परा है। लेकिन कभी-कभी मेहमान को मेजबान के घर जाने पर अपेक्षित सत्कार नहीं मिलता। रहीम इस सन्दर्भ में एक व्यावहारिक सामाजिक नीति का प्रतिपादन करते हैं –

रहिमन तब लगि ठहरिए, दान मान सनमान।
घटत मान देखिय जबहिं, तुरतहिं करिय पयान॥

रहीम अपने नीतिकाव्य में सामाजिक सद्भाव एवं आपसी प्रेम की महत्ता को बार-बार रेखांकित करते हैं। रहीम सभी से आपसी सद्भाव एवं प्रेमभाव बनाए रखने का उपदेश करते हैं। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ सज्जन पुरुष ऐसे ही होते हैं जिनका कोई शत्रु नहीं होता, सभी उनके हितैषी मित्र होते हैं –

रीति-प्रीति सब सों भली, वैर न हित मित गोत।
रहिमन याही जनम की, बहुरि न संगति होत॥

सामाजिक जीवन के लिए एकता, स्नेह एवं संगठन बलअत्यन्त आवश्यक है। राष्ट्र के लिए संगठन तो ज़रूरी है ही, व्यक्ति एवं समाज के लिए भी इसकी अनिवार्यता अक्षुण्ण है। इसलिए रहीम कहते हैं कि एकता में सुख तथा फूट में मृत्यु का निवास है –

जब लगि जीवन जगत में, सुख दुःख मिलन अगोट।
रहिमन फूटे गोट ज्यों, परत दुहुन सिर चोट॥

सामाजिक परोपकार की नीति का निरूपण कवि रहीम ने घड़े एवं रस्सी का उदाहरण देकर बहुत ही सहज, सरल व प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। घड़ा अपने गले में रस्सी का फंदा बँधवाता है, जल में डूबता है, कुएँ की दीवारों से टकराकर, अपने अस्तित्व के समाप्त होने के भय को त्यागकर, दूसरों की प्यास बुझाकर उन्हें तृप्त करता है –

रहिमन रीति सराहिये, जो घट गुन सम होय।
भीति आप पै डारि के, सबै पियावे तोय॥

बुद्धि एवं विवेक ही मानव के जीवन और उसके सामाजिक कार्यव्यवहार की निर्देशिका और कुंजी है। जैसी जिसकी बुद्धि-सबुद्धि अथवा कुबुद्धि होती है, उसी के अनुरूप वह आचरण करता है, वैसी ही बातें करता है। बुद्धिमान लोग ऐसे लोगों की बातों और कार्यों का बुरा नहीं मानते। इस सन्दर्भ में रहीम का कथन अनुकरणीय है –

जैसी जाकि बुद्धि है, तैसी कहै बनाय।
ताको बुरा न मानिए, लैन कहाँ सू जाय॥

इस प्रकार देखते हैं कि रहीम के काव्य में सामाजिक नीति अपने बहुमुखी आयामों के साथ शब्द-साकारित हो उठी है। उसमें सामाजिक जीवन की अनुभूति, उसकी सघनता, वैचारिक विशदता तथा चिन्तन दृष्टि की सहजता अनिवार्यतः समज्जित हो गई है।

3.2.4.3. राज्य नीति

कवि रहीम राज्य की आदर्श-व्यवस्था का पुरजोर समर्थन करते हैं। उनकी दृष्टि में आदर्श राज्य वह है जहाँ छोटे-बड़े सबको अपने विकास का समुचित अवसर मिलता है। आदर्श राज्य वह है जहाँ की प्रजा निर्भयतापूर्वक अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सके। साथ ही, वहाँ अत्याचारियों, अन्यायियों, दुराचारियों एवं सामाजिक मानवीय मूल्यों में व्याघात उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को राजदण्ड का भय होना चाहिए। तुलसी की भाँति वे ऐसे आदर्श राज्य की संकल्पना करते हैं जहाँ सबके विकास के साधन सुलभ हों –

रहिमन राज सराहिये, ससि सम सुखद जो होय।
कहा बापुरो भानु है, तप्यौ तरैयन खोय॥

अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा के समान शीतल ओर 'सर्वजन हिताय' शासन ही सुखदायी है। राज्य-व्यवस्था ऐसी हो जहाँ ईमानदार व्यक्ति सूर्य के समान तेजस्वी हो परन्तु दुष्ट लोग भयभीत रहें। राज्य के भय से सामान्य जन अपना समुचित विकास न कर सकें तो ऐसा राज्य 'आदर्श राज्य' की संज्ञा से कदापि अभिहित नहीं किया जा सकता। रहीम के अनुसार राजा को तो 'बहुजन हिताय' ही कार्य करना चाहिए। सूर्य और उलूक के प्रतीक के माध्यम से अपनी बात स्पष्ट करते हुए रहीम सीख देते हैं –

सीत हरत, तम हरत नित, भुवन भरत नहिं चूक।
रहिमन तेहि रवि को कहा, जो घटि लखे उलूक॥

रहीम उद्घोषणा करते हैं कि जनहित की तरफ ध्यान न देने वाला राज्य हीन, तुच्छ और नगण्य है। वहाँ के लोग ओछी मानसिकता से ग्रस्त होते हैं। इस सन्दर्भ में आदर्श राज्य की महत्ता को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि कीचड़ का थोड़ा जल भी धन्य है जिसमें छोटे-छोटे कीड़े-मकोड़े भी अपनी प्यास बुझा लेते हैं। दूसरी ओर अधिक जल वाले समुद्र का जीवन निरर्थक है क्योंकि जो भी प्यासा उसके निकट जाता है, वह प्यासा ही लौट आता है –

धनि रहीम जल पंक को, लघु जिय पिअत अघाय।
उदधि बड़ाई कौन है, जगत पियासो जाय॥

3.2.4.4. अर्थ नीति

रहीम की अर्थ नीति विषयक अवधारणा अत्यन्त उपादेय है। उनके द्वारा प्रतिष्ठापित नैतिक मूल्य किसी जाति, वर्ग, समूह या राष्ट्र की धरोहर मात्र नहीं हैं, अपितु वे तो संयमित मानव-जीवन के लिए संजीवनी हैं। रहीम चेतावनी देते हैं कि धन की अधिकता मानव को भोगी-विलासी बना देती है। जब धन की अधिकता होगी तो दुर्गुण भी उत्पन्न होंगे। व्यक्ति विलासी होगा, उसमें अधिकाधिक धन-संचय की प्रवृत्ति बढ़ेगी। धन-संचय की प्रवृत्ति मानवीय नैतिकता में व्यवधान भी उत्पन्न करेगी। निष्कलुष जीवन ही मानव-जीवन को सार्थक बना सकता है। धन से प्रभुता का आगमन होता है, प्रभुता से अहंकार बढ़ता है और अहंकार व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करता है –

लघुता से प्रभुता मिले, प्रभुता से प्रभु दूरि ।
चींटी लै सक्कर चली, हाथी के सिर धूरि॥

रहीम भौतिक समृद्धि की अपेक्षा सम्मान और प्रतिष्ठा को श्रेष्ठ मानते हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि सम्मानरहित अपार धन की अपेक्षा ससम्मान अल्प साधन से युक्त मानव-जीवन ही श्रेष्ठ है –

धन थोरो इज्जत बड़ी, कहि रहीम की बात।
जैसे कुल की कुलवधू, चिथड़न माँहि समात॥

लेकिन रहीम यह भी स्वीकार करते हैं कि खर्च अधिक तथा आमदनी कम होने की वजह से व्यक्ति का जीवन दुष्कर हो जाता है। व्यक्ति की आर्थिक विपन्नता व उसकी भयावह स्थिति का अत्यन्त ही मार्मिक चित्रण उन्होंने अपने नीतिपरक दोहों में किया है। उदाहरण देखिए –

खरच बढ़्यो उद्यम घट्यो, नृपति निठुर मन कीन।
कहु रहीम कैसे जिये, थोरे जल की मीन॥

अन्याय व अधर्म के माध्यम से प्राप्त की गई सम्पत्ति सुखद नहीं होती। वह अनर्थकारी है। ऐसे व्यक्तियों की घोर निन्दा होती है। उनके मुख पर कलंक का घृणित चिह्न अवश्य लगता है। कवि रहीम सचेत करते हैं –

रहिमन वित्त अधर्म को, जरत न लागे बार।
चोरी करि होरी रची, भई तनिक में छार॥

लेकिन धन के सर्वथा अभाव में व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं होता। कवि रहीम कहते हैं कि निर्धन व्यक्ति लाख उत्तम ओर गुणी हो तथा मधुर स्वभाव का भी हो, फिर भी लोग उसका आदर नहीं करते। अतः निर्धन होकर अपने बन्धुवर्ग के बीच रहना भी रहीम उचित नहीं समझते –

बरु रहीम कानन भलो, बास करिय फल भोग।
बन्धु मध्य धनहीन है, बसिबो उचित न योग॥

कवि रहीम यह भी स्वीकार करते हैं कि स्वयं की सम्पत्ति के बिना कोई मित्र नहीं, कोई सहायक नहीं –

जब लगि वित्त न आपुने, तब लगि मित्र न कोय।
रहिमन अंबुज अंबु बिनु, रवि नाहिंन हित होय॥

* * *

रहिमन निज सम्पति बिना, कोउ न बिपति सहाय।
बिनु पानी ज्यों जलज को, रवि नाहिंन हित होय॥

इस प्रकार कवि रहीम की अर्थनीति का लोकानुभव इतना व्यापक है कि अपनी सहजोक्ति के लिए वे जो अर्थान्तरन्यास करते हैं, उससे उनकी अर्थचेतना और मानव जीवन-दृष्टि की व्यापकता का प्रकृत बोध हो जाता है।

3.2.4.5. धार्मिक नीति

युगीन वातावरण के अनुरूप भक्तकवि रहीम ने अपनी रचनाओं के माध्यम से धार्मिक आडम्बरों का तीव्र विरोध किया है। हृदय की आन्तरिक शुद्धता के लिए धर्म को एक प्रमुख तत्त्व माना गया है। केवल ईश्वर अंश से परिपूर्ण अपने हृदय से ही व्यक्ति ईश्वर को पहचान सकता है। ईश्वर की करुणा-सिन्धुता, परमशक्तिमत्ता में रहीम का अडिग विश्वास है –

भजौं तो काको मैं भजौं, तजौं तो काको आन।
भजन तजन ते विलग है, तेहि रहीम तू जान॥

रहीम की धार्मिक नीति में सहज भक्ति एवं आस्था का महत्त्व न केवल उसकी परिव्याप्ति में निहित है अपितु आडम्बर व कृत्रिमतारहित दृष्टिकोण के अनुकरण मात्र से उनकी धार्मिक अभिव्यक्ति का स्वरूप मानवीय एवं मांगलिक हो जाताहै। तथाकथित धर्म के कितने ही आवरण लोकमानस में समाये हुए प्रतीत होते हैं लेकिन वे व्यवहार लोकमंगल व जनकल्याण को निर्मूल अथवा जड़ीभूत करने का निरन्तर प्रयास करते हैं तथा धर्म और अन्धविश्वास को एक-दूसरे में पिरोकर व्यक्ति व समाज में साम्प्रदायिकता जैसी अमानवीय प्रवृत्तियों को उजागर करते हैं। रहीम चूँकि उदारमना हैं इसलिए साम्प्रदायिकता जैसी घृणित व ओछी वृत्ति उन्हें स्पर्श भी नहीं कर पाती है।

भक्तकवि रहीम का मानना है कि सभी धर्मों में सबसे श्रेष्ठ मानव धर्म है। उनके काव्य में उनकी यह धारणा पूरी निष्ठा के साथ अभिव्यक्त होती है। वे मानव-मात्र से स्नेह-सम्बन्ध बनाए रखने पर बल देते हैं। और साथ ही

सचेत करते हैं कि प्रेमतत्त्व बहुत कोमल तन्तु सदृश है। छोटी-छोटी अपेक्षाओं के पूरा न होने पर इसे छिटक देना उचित नहीं –

रहिमन धागा प्रेम का, मत तोरहु चटकाय।
टूटे से फिरि न जुरे, जुरे गांठि पर जाय॥

रहीम ने सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखा है। वे हिन्दू-मुसलमान सभी को एक ईश्वर की सन्तान के रूप में स्वीकार करते हैं। भारतेन्दु बाबू ने ऐसे ही मुसलमान कवियों के बारे में कहा है कि "इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिये।" तुलसीदास की भाँति रहीम को भी विश्वास है कि इस स्वार्थपूर्ण संसारमें सरल व सहज मन से की गई व्याकुल पुकार को लोकवत्सल श्रीरघुवीर न केवल सुनते हैं, अपितु अपेक्षानुरूप स्नेह-साहाय्य भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार रहीम की धार्मिक नीति व भक्ति की मूल चेतना अन्ततः लोक के प्रति सजग होकर ही निरूपित होती है। भक्तिभाव में विभोर हो वे कह उठते हैं –

दुःख नर सुनि हाँसी करै, धरत रहीम न धीर।
कहीं सुनैं औ सुनि करैं, ऐसे वै रघुवीर॥

3.2.4.6. आध्यात्मिक नीति

रहीम की आध्यात्मिक चेतना व्यवहार-जगत् के लिए उपयोगी तथा व्यक्ति एवं समाज को संस्कारित करने वाली है। वे अटूट श्रद्धा और विश्वास से सराबोर हो कहते हैं कि वन में बसने वाले खग और मृग आखिर अनाथों के नाथ श्रीहरि की कृपा से ही तो स्वस्थ और नीरोग बने विचरण करते रहते हैं। अकूत पैसे वाले लोग नाना प्रकार की दवा-चिकित्सा के बावजूद व्याधिग्रस्त ही बने रहते हैं, क्योंकि उनमें विश्वात्मा-विभु के प्रति आस्था नहीं है। इसलिए रहीम जगत् के उद्धार की कामना प्रभु श्रीराम से करने की सीख देते हैं –

गहि सरनागति राम की, भवसागर की नाव।
रहिमन जगत उधार कर, और न कछू उपाव॥

विश्रब्ध भावना के साथ रहीम यह भी सीख देते हैं कि जिसका इस भरी दुनिया में कोई सहारा नहीं है, उसके सहज शरण्य श्रीहरि हैं –

रन वन व्याधि विपत्ति में, रहिमन मरे न रोय।
जो रक्षक जननी जठर, सो हरि गये कि सोय॥

* * *

रहिमन बहु भेषज करत, व्याधि न छांड़त साथ।
खग मृग बसत अरोग बन, हरि अनाथ के नाथ॥

तत्युगीन परिवेश में रहस्यवादी साधकों की सूफी साधना उल्लेखनीय है। सूफी साधना में मन की शुद्धता पर विशेष बल दिया गया है। आध्यात्मिक चिन्तन की प्रक्रिया में आत्मभर्त्सना अथवा आत्मग्लानि भी एक महत्त्वपूर्ण सोपान है। शक्तिसम्पन्न और उच्चतर प्रतिष्ठा से मण्डित होने पर भी रहीम सहज-विनीत भावना और अहंकारशून्य वृत्ति से भावित होते हुए अपने को तात्विक रूप में पाप-पुंज व सर्वथा असहाय महसूस करते हुए दयालु ईश्वर के समक्ष आत्म-निवेदन करते हैं –

मुनि-नारी पाषान ही, कवि पसु गुह मातंग।
तीनों तारे राम जू, तीनों मेरे अंग॥

मुसलमान होते हुए भी भक्तकवि रहीम ने बड़ी तन्मयता और श्रद्धा के साथ गंगा के प्रति अपनी आध्यत्मिक चेतना प्रकट की है। उनकी यह उदारता समकालीन परिवेश में अनुकरणीय है। गंगा से प्रार्थना करते हुए वे कहते हैं कि हे गंगे ! तुम्हारी महिमा अनन्त है। तुम्हारी महिमा से भक्तजन मरणोपरान्त विष्णु और शिव का पद प्राप्त करते हैं।" वे गंगा से प्रार्थना करते हैं कि मेरे मरणोपरान्त तुम मुझे विष्णुरूप न बनाना क्योंकि विष्णु बनने पर तुम मेरे चरणों से निकलने वाली नदी कहलाओगी। तुम मुझे महादेव रूप ही बनाना ताकि मैं तुम्हें आदर के साथ अपने मस्तक पर धारण कर सकूँ –

अच्युत-चरन-तरंगिनी, सिव-सिर-मालति-माल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इन्दव भाल॥

इस प्रकार रहीम की आध्यात्मिक नीति व चेतना में भारतीय संस्कृति और मानव जीवन-दर्शन के प्रति उनकी आस्था सहज ही झलकती है। उनकी आध्यात्मिक चेतना में कहीं भी किसी प्रकार की साम्प्रदायिक गन्ध नहीं है। वे लोक को सहज मन से आडम्बरमुक्त होकर अपने आराध्यों का नमन-वन्दन करने की सलाह देते हैं।

3.2.4.7. सांस्कृतिक नीति

भक्तकवि रहीम लोकसंस्कृति के प्रति जागरूक रचनाकार हैं। भारतीय संस्कृति के अनुरूप रहीम के नीतिकाव्य में करुणा, दया, परोपकार, क्षमा, सहनशीलता, धैर्य, सन्तोष, त्याग आदि उदात्त मानवीय मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है। रहीम का विचार है कि मानवीय समाज व संस्कृति में परोपकार का महत्त्व अतुलनीय है। जो महापुरुष होते हैं, वे तन-मन-प्राण सभी कुछ दूसरों के लिए त्याग कर देते हैं। इस भावसत्य की सिद्धि के हेतु वे पुराणप्रसिद्ध महाराज शिवि और महर्षि दधीचि के सर्वात्म त्याग का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं –

रहिमन पर उपकार के, करत न यारी बीच।
मांस दियो सिवि भूप ने, दीन्हों हाड़ दधीच॥

जिस प्रकार वृक्ष का मधुर फल तथा सरोवर का मृदु जल स्वहित के लिए नहीं, अपितु परोपकार के लिए होता है। उसी प्रकार सज्जन व्यक्तियों की सम्पत्ति भी परोपकार के लिए होती है। रहीम कहते हैं –

तरुवर फल नहिं भखत हैं, सरवर पियहिं न पान।
कह रहीम परकाज हित, सम्पत्ति संचहिं सुजान॥

परोपकार और त्याग जैसे उदात्त जीवन-मूल्यों के आलोक में रहीम कहते हैं कि जीवन नश्वर है अतः अपनी परोपकार की वृत्ति को विकसित करना चाहिए। शरीर तो एक दिन नष्ट हो जाएगा जबकि परोपकार ही शेष रहेगा –

हित रहीम इतउ करे, जाकी जहाँ बसात।
नहिं यह रहे न वह रहे, रहे कहन को बात॥

स्वार्थ-लोलुपता नैतिक मानवीय मूल्यों का निषेध कर व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार को दूषित कर देती है। कपटी व्यक्ति अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए किसी के भी सामने बेतरह झुक सकता है, स्वार्थ के वशीभूत हो हजार तरह से उससे आत्मीयता दिखाता है; किन्तु काम निकलते ही उसकी निगाह बदल जाती है, सारा उपकार वह पलभर में भुला देता है। भक्तकवि रहीम ने इस स्थिति का बड़ा ही नैतिक व मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन किया है –

काज परे कुछ और है, काज सरे कछु और।
रहिमन भंवरी के भये, नदी सिरावत मौर॥

यदि बुद्धि नहीं है तो चुप रहना उत्तम और हितकारी है। मौन अथवा कम बोलने से बचाव की गुंजाइश बनी रहती है –

दोनों रहिमन एक से, जौ लौं बोलत नाहिं।
जान परत हैं काक पिक, ऋतु बसन्त के माहिं॥

जो व्यक्ति एक ही समय में सबकुछ साध लेना चाहता है, वास्तव में उसका कुछ भी नहीं साधता। मन एकाग्र नहीं होने से जो कुछ बन भी रहा होता है, उलटे वह भी बिगड़ जाता है। रहीम कहते हैं –

एक साधे सब सधै, सब साधे सब जाय।
रहिमन मूलहिं सीचिवो, फूलहिं फलहिं अघाय॥

क्षमा और सहनशीलता मानव-जीवन की साधना के लिए श्रेष्ठ उपादान है। क्षमा से व्यक्तिगत राग-द्वेष की निवृत्ति हो जाती है और मानव हृदय निष्कलुष तथा निर्विकार हो जाता है। रहीम मानव-जीवन को साधनापरक बनाने के आकांक्षी हैं इसलिए क्षमा जैसे नैतिक व मानवीय जीवन-मूल्यों को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इस सन्दर्भ में भक्तकवि रहीम कहते हैं कि भृगु ने भगवान् विष्णु के वक्ष पर लात मारी फिर भी विष्णु की श्रेष्ठता में कोई कमी नहीं आयी बल्कि उनकी क्षमाशीलता का विड़द ही प्रसिद्ध हुआ –

छिमा बड़न को चाहिए, छोटन को उतपात।
का रहीम हरि को घट्यो, जो भृगु मारी लात॥

लेकिन क्षमा वही कर सकता है जो सहनशील हो। सहनशीलता संयम के परिणामस्वरूप अर्जित की जा सकती है। धरती सहनशील है। वह मनुष्य के सारे अपराधों को क्षमा कर देती है। मनुष्य धरती को खोदता, पीटता, काटता है परन्तु क्षमा की प्रतिमूर्ति जगज्जननी धरती उस पर क्रोध नहीं करती। ऐसा सहनशील व क्षमावान् होना ही व्यक्ति व समाज का अभीष्ट लक्ष्य होना चाहिए। रहीम कहते हैं –

धरती की सी रीत है, सीत घाम और मेह।
जैसी परै सो सहि रहै, त्यों रहीम यह देह॥

मनुष्य का जीवन तभी आभामय हो सकता है जब उसके हृदय में धैर्य एवं सन्तोषरूपी दीपक प्रज्ज्वलित हो। धैर्य और सन्तोष मानव को सुख-दुःख सहने का सामर्थ्य प्रदान करते हैं। इसलिए रहीम मानव को दुःख के दिन आने पर धैर्यरूपी दीपक जलाकर सुखद दिनों की प्रतीक्षा करने को कहते हैं –

रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै देर॥

रहीम याचकता की घोर निन्दा करते हैं। हालाँकि, वे यह भी स्वीकार करते हैं कि विपरीत समय आने पर मजबूर इंसान को याचना करनी ही पड़ती है। याचना करने वाले व्यक्ति को बड़े-से-बड़ा होने पर भी क्षुद्र बनना ही पड़ता है। उनकी दृष्टि में याचना करने वाला व्यक्ति मृतक के समान है किन्तु उससे भी अधम वे लोग हैं जो सक्षम होने पर भी ज़रूरतमंद की सहायता करने से मना कर देते हैं –

रहिमन वे नर मर चुके, जे कहुँ मांगन जाहिं।
उनसे पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत नाहिं॥

दया, क्षमा, त्याग, करुणा, मैत्री, परोपकार, सन्तोष आदि नैतिक वृत्तियों के साथ-साथ रहीम ने भारतीय संस्कृति में निहित दानशीलता की प्रवृत्ति का भी भरपूर समर्थन किया है। स्वयं रहीम एक बड़े दानदाता के रूप में सुविख्यात हैं। कहा जाता है कि वे प्रतिदिन प्रातःकाल अपने घर आए याचकों को दान देते थे। दान देते समय वे याचक की ओर न देखकर अपनी आँखें नीची रखते थे। इससे न तो याचक का स्वाभिमान ही नष्ट होने पाता था और न ही रहीम के मन में देने की सामर्थ्य का भाव ही पनप पाता था। वस्तुतः 'देते' समय मन में यह भाव कदापि नहीं आना चाहिए कि यह दान मैं कर रहा हूँ बल्कि ऐसा विचार कर दान करना चाहिए कि मैं तो निमित्त मात्र हूँ, देने वाला तो कोई और यानी वह ईश्वर है। स्वयं रहीम के शब्दों में –

देनहार कोउ और है, भेजत सो दिन रैन।
लोग भरम हम पै धरैं, याते नीचे नैन॥

मूल्यवान् समय की शृंखला ही तो जीवन है। अतः इसके उन्मेष के लिए समय की पहचान, आदर तथा उपयोग आवश्यक है। जो समय का सदुपयोग करता है तथा समयानुकूल प्रगति करता है, वही जीवित है। समय की महत्ता को स्वीकार करते हुए रहीम का कथन है –

समय लाभ सम लाभ नहीं, समय चूक सम चूक।
चतुरन चित रहिमन लगी, समय चूक की हूक॥

इस प्रकार रहीम की सांस्कृतिक नीति एक ओर जहाँ मानव की वैयक्तिक चेतना से जुड़ी हुई है, वहीं दूसरी ओर वह सामाजिक आचरण एवं व्यवहार का मार्ग भी प्रशस्त करती है। सांस्कृतिक चेतना द्वारा मनुष्य न केवल भौतिक उन्नति के लिए संस्कार सक्षम होता है, अपितु अन्तःसंस्कारित भी होता है।

3.2.5. रहीम का नीतिकाव्य और भक्तिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

मध्यकालीन नीतिकाव्य-परम्परा में रहीम का विशिष्ट स्थान है। उनके काव्य में ईश्वरीय भक्ति एवं मानव प्रेम की बड़ी सहज, नैसर्गिक और स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है। रहीम के नीतिकाव्य में एक ओर जहाँ भक्तिभावना की उज्ज्वलता, नीतितत्त्व की सात्विकता तथा लोकजीवन के प्रति लगाव के समेकित भाव निहित हैं, वहीं दूसरी ओर तत्युगीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिवेश ने उनकी रचनात्मक अभिव्यक्ति को गहरे प्रभावित किया है।

रहीम से पूर्व ही सन्तकाव्य, सूफीकाव्य, कृष्णकाव्य, रामकाव्य आदि की सुविकसित परम्परा में नीतितत्त्व की प्रधानता विद्यमान रही है। उक्त समस्त काव्यधाराओं ने रहीम को गहरे प्रभावित किया फलस्वरूप इसका स्पष्ट प्रभाव रहीम-काव्य पर देखने में आता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "रहीम के दोहे वृन्द और गिरिधर के पद्यों के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा कवि हृदय झाँक रहा है।" भारतीय वातावरण में उत्पन्न होने, पलने और बढ़ने के कारण रहीम के मन में उन्हीं आस्था एवं संस्कारों का विकास हुआ जैसा अन्य भारतीयों में होता आया। एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह भी है कि भारतीय परम्परा एवं संस्कृति का जैसा प्रभाव उन पर पड़ा, उसे सीधे शब्दों में अभिव्यक्त कर देना वे धर्म-विरुद्ध नहीं समझते थे। कहना सही होगा कि रहीम जैसे कवि के मानस पटल पर भारतीय संस्कृति की प्रत्येक वस्तु और बहुविध भावना सहज रूप में अंकित हो गई थी। तत्युगीन परिवेश में रहीम ने अपनी रचनाओं का भाव-विन्यास इतना बढ़ा लिया था कि उसमें न तो कोई बड़ा रहा, न कोई छोटा, न कोई उच्च रहा, न कोई निम्न। उन्होंने सबको अपने काव्य का विषय बना लिया।

3.2.6. पाठ सार

रहीम का नीतिकाव्य एक विशाल परिधि वाला संसार है। उसमें चर-अचर, भव्य-उदात्त, सामान्य-विशिष्ट सबकुछ समाविष्ट हो जाता है। उनका मानव जीवन-दर्शन और रचनात्मक अनुभव इतना व्यापक है कि वे अपनी

सरल अभिव्यक्ति के लिए जिस अर्थान्तरन्यास की सिद्धि करते हैं, उससे मानव-जीवन सम्बन्धी उनकी दृष्टि की व्यापकता का प्रकृत बोध आसानी से हो जाता है। रहीम को अपने व्यस्त एवं संघर्षशील जीवन में प्रबन्ध रचना का अवसर नहीं मिला, फिर भी उनकी मुक्तक रचनाओं में नैतिक जीवन-मूल्यों की अनुपम निधि उपलब्ध हो जाती है। इसलिए उन्होंने अपने नीतिकाव्य में व्यक्ति व समाज के लिए आवश्यक मर्यादा, शील और नीति को ही वाणी का विषय बनाया है। उनकी नीतिपरक रचनाएँ मूलतः मानवीय चेतना व लोकमंगल की कामना से परिपूर्ण हैं। रहीम का विश्वास है कि मानवीय धर्म ही सर्वश्रेष्ठ और वास्तविक धर्म है। उनका काव्य इस धारणा की स्थापना करता है। उनके रचनात्मक सरोकारों का विशद् व्यास और अनगिनत त्रिज्याएँ देखकर रहीम के प्रति विस्मयपूर्ण प्रशंसाभाव जाग्रत् होता है। ऐसा लोकप्राण कवि हिन्दी नीतिकाव्य-जगत् में गौरव का आस्पद है।

3.2.7. कठिन शब्दावली

अमी	:	अमृत
अगोट	:	रोक, भीत, नींव
मातंग	:	हाथी
मेह	:	मेघ, बादल
घाम	:	धूप
काया	:	शरीर
अभीष्ट	:	वांछित, मनोरथ
आस्पद	:	प्रतिष्ठा, अवलम्बन

3.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. याज्ञिक, पण्डित मायाशंकर (सम्पादक), रहीम-रत्नावली, साहित्य सेवा सदन, काशी.
2. मिश्र, विद्यानिवास एवं रजनीश, गोविन्द (सम्पादक), रहीम ग्रन्थावली, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. डॉ॰ सत्यप्रकाश, रहीम रचनावली, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. चतुर्वेदी, डॉ॰ रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. शर्मा, डॉ॰ शिवकुमार, हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. डॉ॰ नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

3.2.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. रहीम : हिन्दी नीतिकाव्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर।
2. रहीम का कृतित्व।
3. रहीम का युगबोध एवं मानव जीवन-दर्शन।

4. रहीम की अर्थ नीति।
5. रहीम की लौकिक चेतना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. रहीम की नीति स्वानुभूत है या परम्परानुभूत। सप्रमाण आकलन कीजिए।
2. "रहीम का काव्य नीति का प्रशस्त एवं स्थायी शिलालेख है।" उक्त कथन की विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'नगर-शोभा' के रचयिता हैं –
   (क) बिहारी
   (ख) केशवदास
   (ग) रहीम
   (घ) तुलसीदास

2. "इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दु न वारिये।" उक्त प्रसिद्ध उक्ति किसके द्वारा कही गई है ?
   (क) रहीम
   (ख) कबीर
   (ग) रसखानि
   (घ) भारतेन्दुहरिश्चन्द्र

3. भक्तकवि रहीम के अनुसार सर्वश्रेष्ठ धर्म है –
   (क) हिन्दू धर्म
   (ख) मुस्लिम धर्म
   (ग) मानव धर्म
   (घ) बौद्ध धर्म

4. भक्तकवि रहीम के अनुसार क्या करना मृत्यु के समान है ?
   (क) परोपकार करना
   (ख) घृणा करना
   (ग) चोरी करना
   (घ) माँगना

5. किस नीति के आलोक में रहीम ने पुराण प्रसिद्ध महाराज शिवि और महर्षि दधीचि का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है ?
   (क) धार्मिक नीति
   (ख) आध्यात्मिक नीति
   (ग) अर्थ नीति
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतिकालीन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : बिहारीलाल के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

4.1.0. उद्देश्य कथन
4.1.1. प्रस्तावना
4.1.2. बिहारीलाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  4.1.2.1. व्यक्तित्व
  4.1.2.2. कृतित्व
4.1.3. बिहारीलाल का युगबोध एवं मानव-दर्शन
4.1.4. बिहारीलाल का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  4.1.4.1. वैयक्तिक-सामाजिक नीति
  4.1.4.2. राज्य नीति
  4.1.4.3. अर्थ नीति
  4.1.4.4. धार्मिक नीति
  4.1.4.5. आध्यात्मिक नीति
  4.1.4.6. सांस्कृतिक नीति
4.1.5. बिहारीलाल का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
4.1.6. पाठ सार
4.1.7. कठिन शब्दावली
4.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.1.9. बोध प्रश्न

4.1.0. उद्देश्य कथन

रीतिकालीन कवि बिहारीलाल उच्च कोटि के रचनाकार हैं। वे एक सफल मुक्तककार एवं शृंगाररससिद्ध कवि हैं। बिहारीलाल रीतिकाल के प्रतिनिधि कवि कहे जा सकते हैं। उनकी कविता में यद्यपि शृंगार रस की प्रधानता है तथापि उसमें भक्ति एवं नीति का भी समावेश स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रस्तुत इकाई में राजनीति, समाज, प्रकृति, प्रशस्ति, भक्ति, नीति आदि दृष्टियों से बिहारीलाल के काव्य का विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. बिहारीलाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. बिहारीलाल की युगीन चेतना एवं उनके मानव-दर्शन का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. बिहारीलाल के नीतिकाव्य में अभिव्यक्त नीति के विभिन्न पक्षों का विवेचन कर सकेंगे।

iv. रीतिकालीन परम्परा की मूल्य-चेतना के आलोक में बिहारीलाल के रचनात्मक अवदानों की चर्चा कर सकेंगे।

4.1.1. प्रस्तावना

बिहारीलाल रीतिकाल के प्रधान कवि हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने बिहारीलाल को रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में रखा है। वस्तुतः बिहारीलाल उन दुर्लभ कवियों में से हैं जिन्होंने कम परिमाण में लिखकर अधिक यश अर्जित किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी उनकी महत्त्वपूर्ण कृति 'बिहारी सतसई' के सम्बन्ध में कहते हैं – "बिहारी की सतसई किसी मनोवृत्ति की उपज नहीं है। यह एक विशाल परम्परा के लगभग अन्तिम छोर पर पड़ती है और अपनी परम्परा को सम्भवतः अन्तिम बिन्दु तक ले जाती है।" ध्यातव्य है कि 'बिहारी-सतसई' का पठन-पाठन, अध्ययन-अनुशीलन प्रायः शृंगार-केन्द्रित रहा है। किन्तु 'बिहारी सतसई' केवल शृंगारपरक कृति नहीं है बल्कि उसमें शृंगारेतर भावों की अभिव्यंजना भी हुई है। मुख्यतः शृंगार की रचना होते हुए बिहारी-सतसई में दूसरे विषय भी गृहीत हुए हैं। इसमें नीति और भक्तिपरक दोहों की संख्या भरपूर है। हालाँकि, बिहारीलाल की भक्ति-भावना अन्य भक्तकवियों से भिन्न है। नीतिपरक रचनाओं के सन्दर्भ में 'बिहारी सतसई' के नीति सम्बन्धी दोहों की उपादेयता रेखांकित करने योग्य है। उनकी नीतिपरक रचनाएँ मानव-जीवन की वास्तविक अनुभूतियों से अभिप्रेरित हैं। उनके नीतिकाव्य में मानव-जीवन के विभिन्न मूल्य एवं आदर्श बड़ी तन्मयता के साथ यथार्थ रूप में उकेरे गए हैं।

4.1.2. बिहारीलाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

अनुभवसिद्ध नीतिमय वाणी का प्रसार करने वाले बिहारीलाल जल के बीच कमल पत्र के समान वैभव से सदैव असम्पृक्त रहे हैं। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व वह पावन संगम स्थल है जिसके घाट पर पहुँचकर वैमनस्य और अनैतिकता की क्रूर लहरें अपना सिर पटक-पटक कर लौट जाती हैं। अपने नीतिकाव्य की विमल प्रेरणा उन्हें जनजीवन की सहजता से ही प्राप्त हुई है। उनके नीतिकाव्य का एक-एक छन्द मानवीय चेतना व लोकहित की मंगलकामना से परिपूर्ण है। मानवीय आदर्श, सदाचरण एवं लोकव्यवहार ही मानव धर्म का मूल आलम्बन है, यह बात उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व से भली-भाँति प्रकट हो जाती है।

4.1.2.1. व्यक्तित्व

बिहारीलाल का जन्म वर्ष 1595 ई. में ग्वालियर में हुआ। उनके पिता का नाम केशवराय था। ध्यातव्य है कि ये केशवराय प्रसिद्ध आचार्य केशवदास नहीं हैं। केशवराय निम्बार्क सम्प्रदाय के महन्त नरहरिदास के शिष्य माने जाते हैं। बिहारीलाल ने उनके यहाँ संस्कृत व प्राकृत के काव्य-ग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन किया। उसके उपरान्त वे वृन्दावन आ गए और वहीं मथुरा के किसी ब्राह्मण परिवार में उनका विवाह हुआ। तदुपरान्त वे वृन्दावन में ही रहने लगे। इसी बीच उन्होंने फ़ारसी काव्य का अभ्यास किया तथा मुगल बादशाह शाहजहाँ से मुलाकात की। शाहजहाँ के कृपापात्र बिहारीलाल का कालान्तर में अन्य राजाओं से भी सम्पर्क हुआ। जयपुर के

राजा जयसिंह व उनके राजपरिवार में बिहारीलाल को विशिष्ट सम्मान प्राप्त हुआ। बिहारीलाल का समस्त जीवन काव्य-साधना में ही व्यतीत हुआ। विद्वानों के मतानुसार सन् 1663 ई. में उनका देहावसान हो गया।

4.1.2.2. कृतित्व

हिन्दी साहित्य के गौरव बिहारीलाल की महत्त्वपूर्ण कृति 'बिहारी सतसई' हिन्दी साहित्य की उन काव्य-कृतियों में से एक है जो सम्भ्रान्त और जनसामान्य दोनों वर्गों में समान रूप से लोकप्रिय हुई। अपने निर्माण के बाद से ही वह कवि-समाज और साहित्यिक अभिरुचि वाले लोगों के बीच समादृत रही। भाव, अनुभूति और चेतना को बिहारीलाल मार्मिक शब्दों और प्रभावी बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्त करने का प्रबल सामर्थ्य रखते हैं। उनकी ख्याति का मूल आधार 'बिहारी सतसई' ही है जो 'गाथासप्तशती', 'आर्यासप्तशती', 'अमरुकशतक' आदि ग्रन्थों की प्रेरणा से निर्मित एक विविध रत्नमाला है। बिहारी मुक्तककार हैं। उन्होंने मुक्तककाव्य को सम्पूर्णता में स्वीकार किया। मुक्तककाव्य के शृंगार, भक्ति, नीति, प्रशस्ति, प्रकृति आदि जितने विषय हो सकते थे या उनसे पूर्व की मुक्तककाव्य-परम्परा में जो विषय गृहीत थे, लगभग उन सभी को बिहारी ने अपने काव्य का विषय बनाया। 'बिहारी सतसई' की आभा के सामने आज भी कोई मुक्तक रचना ठहर नहीं पाती है। मुक्तक काव्य-परम्परा में शीर्ष स्थान पर विराजमान बिहारीलाल ने प्रायः ब्रजभाषा में काव्य की रचना की है। उसमें बुंदेलखंडी के अतिरिक्त फारसी के शब्दों का तद्भव रूप भी दृष्टिगत होता है। कहीं-कहीं आवश्यकता के अनुरूप कतिपय शब्दों को तोड़-मरोड़कर भी बिहारीलाल अपने भाषिक-विधान को सुसंगठित करते हैं। उनकी अलंकारयोजना भी सहज एवं प्रभावी है। काव्यकला की दृष्टि से उन्होंने लोक, समाज, मानव प्रकृति एवं मानवेतर प्रकृति का सुन्दर एवं मनोहर चित्रण किया है। केवल एक ग्रन्थ की रचना करके भी कवियों की पंक्ति में बिहारीलाल का उल्लेखनीय स्थान है।

4.1.3. बिहारीलाल का युगबोध एवं मानव-दर्शन

रीतिकाल दरबारी संस्कृति का युग है। भोग-विलास में आपादमस्तक निमग्न राजा-महाराजाओं और सामन्तों के शासन में शृंगारिक रचनाएँ प्रचुर मात्रा में रची गईं। तत्युगीन राजा, राजदरबार और राजकवि शृंगार-निरूपण में सर्वांग लीन थे। शृंगार के आवरण में लिपटी अनेक रचनाएँ तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक दशा-दिशा का संकेत तो करती ही हैं, कवियों के दृष्टिकोण को भी उद्घाटित करती हैं। 'बिहारी-सतसई' का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाय तो उसमें अपने युग की राजनीतिक तथा सामाजिक दशा-दिशा की भी जानकारी मिलती है। रीतिकाव्य नागर सभ्यता और नगरीय जीवन का काव्य है, उसमें ग्राम्य जीवन को महत्त्व नहीं मिला। 'बिहारी-सतसई' में गाँवों और ग्रामीणों से सम्बद्ध कुछ दोहे मिलते हैं। इनसे ग्रामों और ग्रामीणों के प्रति नागरिकों के दृष्टिकोण का पता भी चलता है। बिहारीलाल के समय तक भक्ति की धारा मन्द अवश्य पड़ गई थी, लेकिन काव्य-विषय के रूप में वह तब भी स्मरणीय महत्त्व रखती थी और नीति की धारा तो रीतिकाल में आकर पहले की तुलना में और भी तीव्र हो गई।

बिहारीलाल के जीवन को देखने पर यह बात स्पष्ट तौर पर सामने आती है कि उनकी राजनैतिक अभिरुचि प्रायः न के बराबर रही है। अब तक के उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर कहीं भी उनकी राजनैतिक महत्त्वाकांक्षाओं का प्रत्यक्ष एवं परोक्ष उल्लेख नहीं मिलता। वे शाहजहाँ के सम्पर्क में आए। उन्हें रहीम का सान्निध्य भी प्राप्त हुआ। आमेर राज्य में बिहारीलाल ने अपना लम्बा समय गुजारा, लेकिन दरबारी राजनीति से उन्होंने सदैव एक सुनिश्चित दूरी बनाए रखी। लेकिन यह भी सच है कि राजनैतिक चिन्तन व जन-सरोकारों से उनका दुराव नहीं था। 'बिहारी-सतसई' में राजनीति से सम्बन्धित दोहों को पढ़कर उनके राजनैतिक युगबोध का पता चलता है। चूँकि, तत्युगीन समाज में अधिकांश राजा-महाराजा विलासी प्रवृत्ति के थे। राजा-महाराजा प्रजा को उसके भाग्य पर छोड़ सुरा-सुंदरी में मग्न रहते थे। राजनैतिक अव्यवस्था की हालत का अंदाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक ही क्षेत्र में दो-दो शासक अपना दावा प्रस्तुत करते थे जिसमें उन क्षेत्रों की जनता पिसती थी। गुणहीन और चापलूस लोग राजा को सदैव घेरे रहते थे।

4.1.4. बिहारीलाल का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य में नीतिकाव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस काल में नीति विषयक रचनाएँ प्रचुर परिमाण में लिखी गईं। तुलसीदास और रहीम की परम्परा में अनेक रचनाकार इस कालखण्ड में हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं से जनसाधारण का पथ-प्रदर्शन किया है। अन्य विषयों की रचनाओं के बीच-बीच में नीति विषयक रचना करने वाले तो हुए ही, नीति-सम्बन्धी स्वतन्त्र पुस्तकाकार रचना करने वाले भी कम नहीं हुए। उदाहरण के तौर पर वृन्द, दीनदयाल गिरि, गिरिधर कविराय, बेताल, घाघ आदि कवियों ने अपनी रचनाओं से हिन्दी-नीतिकाव्य को समृद्धता प्रदान की है। सहजता इन नीतिपरक रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता है। दिन-प्रतिदिन के जीवन में काम आने वाली बातों को जिस तरह सीधी-सरल व सहज शैली में इन नीतिकारों ने अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया है उससे वे निश्चयतः जन-जन का कण्ठहार बन गई हैं।

बिहारी-सतसई में प्रचुर संख्या में नीति-सम्बन्धी दोहे मिलते हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि तत्युगीन लोग नीति विषयक रचनाओं को पसंद करते थे। कविवर बिहारीलाल नीतिपरक काव्य के सिद्धहस्त रचनाकार हैं। रचनात्मक शैली की दृष्टि से हिन्दी-नीतिकाव्य को वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक आदि वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

4.1.4.1. वैयक्तिक-सामाजिक नीति

वैयक्तिक-सामाजिक नीति के आलोक में सज्जन व दुर्जन प्रकृति के लोगों की पहचान करते हुए बिहारीलाल की नेक सलाह है कि नम्र हुए देखकर भी दुष्ट स्वभाव वाले दुर्जनों का विश्वास कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे (दुर्जन) इतने धूर्त होते हैं कि दाँव में पड़ने पर पैर में लगकर काँटे की भाँति प्राण हर लेते हैं –

न ए बिससियहि लखि नए दुरजन दुसह-सुभाइ।
आंटैं परि प्राननु हरत कांटैं लौं लगि पाइ॥

गुण व्यक्ति का आभूषण है, यदि कोई कुपात्र व्यक्ति जो येन-केन प्रकारेण किसी उच्च पद पर आसीन हो जाता है तथा उसके परिणामस्वरूप लोगों से विशेष आदर एवं सम्मान प्राप्त करता है, किन्तु चूँकि वस्तुतः उसमें कोई गुण नहीं हैं, केवल पद के कारण उसने लोगों पर अपनी धाक जमा ली है। ऐसे में कवि बिहारीलाल घुंघुंची पर अन्योक्ति करके कहते हैं कि जिस दिन वह अपने पद से हट जायेगा, उस दिन वह अपनी वास्तविक स्थिति में आ जायेगा –

पाइ तरुनिकुच-उच्चपदु चिरम ठग्यौ सबु गाउं।
छुटैं ठौरु रहिहै वहै, जु हो मोलु, छबि, नाउं॥

कोई ऐसा व्यक्ति जिसने गुणहीन होते हुए भी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है और लोगों के द्वारा अपनी प्रशंसा पर फूला हुआ है, उसको लक्ष्य कर गुड़हर के फूल के माध्यम से कवि बिहारीलाल सीख देते हैं –

बहकि बड़ाई आपनी कत रांचत मति-भूल।
बिनु मधु मधुकर कैं हियैं गड़ै न गुड़हर, फूल॥

कभी-कभी कोई गुणहीन व्यक्ति भी किसी विशेष अवसर पर लोगों के बीच सम्मान का पात्र बन जाता है तथा वह अपने आपको खास मानने लगता है। इस सन्दर्भ में कौए के माध्यम से बिहारीलाल सचेत करते हैं –

दिन दस आदरु पाइ कै करि लै आपु बखानु।
जौ लगि काग ! सराधपखु, तौ लागि तौ सनमानु॥

समय के फेर से कभी-कभी गुणवान् को कोई नहीं पूछता, जबकि मूर्खों को सम्मान मिलने लगता है। बिहारीलाल का कथन है–

मरतु प्यास पिंजरा-पर्यौ सुआ समै कैं फेर।
आदरु दै दै बोलियतु बाइसु बलि की बेर॥

ऐसा व्यक्ति जो सभी श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न है, परन्तु अपने सम्मान का ध्यान न रखकर प्रतिष्ठापूर्वक किसी स्थान या पद पर रहता है। कविवर बिहारीलाल ऐसे व्यक्ति का इस प्रकार निरादरपूर्वक रहना सर्वथा उचित नहीं मानते हैं। उन्होंने कहा है –

जनमु जलधि, पानिपु बिमलु, भौ जग आघु अपारु।
रहै गुनी ह्वै गर पर्यौ, भलैं न मुकता-हारु॥

हालाँकि, वे यह भी कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार रहना ही चाहे तो कोई क्या कर सकता है ? इस आलोक में कविवर का कहना है कि ये लोग कहीं-न-कहीं उच्च पद के लालच के कारण ही उस पद या स्थान का त्याग नहीं कर पाते हैं –

गहै न नेकौ गुन-गरबु, हँसौ सबै संसारु।
कुच-उचपद-लालच रहै गरैं परैं हूँ हारु॥

समाज में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो योग्य होने के साथ-साथ स्वाभिमानी भी होते हैं। ऐसे लोग अपनी योग्यता से नीचे का कोई पद या पदार्थ स्वीकार नहीं करते हैं। वे केवल उसी पद को ग्रहण करने का प्रयत्न करते हैं जिसका वे खुद को अधिकारी समझते हैं, अन्यथा कष्ट झेलने में भी उन्हें किसी प्रकार का संकोच नहीं होता है। कविवर बिहारीलाल चकोर के माध्यम से ऐसे ही व्यक्तियों पर घटित एक अन्योक्ति प्रस्तुत करते हैं –

चित दै देखि चकोर-त्यौं, तीजैं भजै न भूख।
चिनगी चुगै अंगार की, चुगै कि चंद मयूख॥

मनुष्य को कभी भी अभिमान नहीं करना चाहिए। कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन किसान लोग अपने-अपने द्वारों पर गोबर से गोवर्द्धन की प्रतिमा बनाकर, बड़े समारोहपूर्वक उसकी पूजा करते और उत्सव मनाते हैं। पूजा कर चुकने के पश्चात् वे अपने गाय-बैलों को उसी प्रतिमा पर खड़ा करके पूजते हैं, जिससे वह प्रतिमा रौंद उठती है। इसी गोवर्द्धन को आधार बनाकर बिहारीलाल ने किसी व्यक्ति के सम्मान पाकर अभिमान न करने की प्रेरणा देते हैं –

गोधन, तूँ हरष्यौ हियैं घरियक लेहि पुजाइ।
समुझि परैगी सीस पर परत पसुनु के पाइ॥

समय हमेशा अनूकूल नहीं रहता। सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण, यश-अपयश, जय-पराजय, सुसमय-कुसमय रात-दिन के समान परिवर्तनशील हैं। सच्चा प्रेमी, सच्चा मित्र, सच्चा परिजन वही है जो सुख-दुःख दोनों ही स्थिति में एक समान व्यवहार बनाए रखे। भ्रमर और गुलाब को आधार बनाकर कविवर बिहारीलाल ने यह नीति प्रतिपादित करते हैं कि सम्पत्ति-वैभव नष्ट हो जाने पर भी सच्चे मित्र और परिजन साथ नहीं छोड़ते प्रत्युत प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उनका प्रेम पूर्ववत् बना रहता है –

इहीं आस अटक्यौ रहतु अलि गुलाब कैं मूल।
ह्वैहैं फेरि बसन्त ऋतु इन डारनु वे फूल॥

कोई कैसा ही बड़ा गुणी क्यों न हो, गुणहीनों के बीच उसके गुणों की कोई कद्र नहीं होती है। इसलिए गुणहीनों के बीच आये किसी ऐसे ही गुणी को सलाह देते हुए बिहारीलाल कहते हैं–

चल्यौ जाइ, ह्याँ को करै हाथिनु के व्यापार।
नहिं जानतु, इहिं पुर बसैं धोबी, ओड़, कुंभार॥

किसी भी व्यक्ति के लिए योग्य होना महत्त्वपूर्ण है। जिस व्यक्ति में योग्यता होती है वह सामान्य होते हुए भी उच्च पद या सम्मान प्राप्त करता है। जिस व्यक्ति में अपनी योग्यता नहीं है, वह केवल दूसरों की (भले ही वे

कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों) सहायता से ही उच्च पद या सम्मान प्राप्त नहीं कर सकता। अपने इस विचार को बिहारी ने पायल तथा बिन्दी पर अन्योक्ति करके नीति प्रस्तुत किया है –

पाइल पाइ लगी रहै, लगौ अमोलिक लाल।
भोडर हूँ की भासिहै, बेंदी भामिनि-भाल॥

अयोग्य व्यक्ति को कितना ही महत्त्व दिया जाय, परन्तु वह उच्च नहीं हो सकता, मुख्यता प्राप्त नहीं कर सकता, महत्त्वपूर्ण नहीं बन सकता। जबकि योग्य व्यक्ति को चाहे अनिच्छापूर्वक ही रखना पड़े, वह उच्चता, मुख्यता या महत्त्व पा ही लेता है। अपनी इस नीति को कविवर बिहारीलाल बाल तथा हार के माध्यम से अत्यन्त प्रभावी एवं सुन्दर रूप में अभिव्यक्तकरते हैं –

मूड़ चढ़ाऐंऊ रहै पयौं पीठि कच-भारु।
रहै गरैं परि राखिबौ तऊ हियैं पर हारु॥

यहाँ मूड़ चढ़ाना, पीठ पर पड़े रहना, गले पड़ना तथा हृदय पर रहना मुहावरे हैं।

बिहारीलाल ने विभिन्न विषयों से सम्बद्ध अपने वैयक्तिक नीति-कथनों को दृष्टान्त के द्वारा प्रामाणिक बनाया है। जैसे बिना गुणों के केवल उत्तम नाम पाकर कोई बड़ा नहीं हो जाता। अपने इस कथन को धतूरे के दृष्टान्त से उन्होंने इस प्रकार अभिप्रमाणित किया है–

बड़े न हूजै गुननु बिनु बिरद-बड़ाई पाइ।
कहत धतूरे सौं कनकु, गहनौ गढ़्यौ न जाइ॥

कविवर बिहारीलाल का मानना है कि कुमति के धंधे में पड़े हुए लोग सत्संगति से भी सुमति नहीं पाते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे हींग को भले ही कपूर के साथ मिलाकर रखा जाय, उसमें सुगन्ध नहीं आती है –

संगति सुमति न पावहीं परे कुमति कैं धंध।
राखौ मेलि कपूर मैं, हींग न होइ सुगन्ध॥

संगति का दोष सबको लगता है। इस प्रचलित कथन को कविवर बिहारीलाल सर्वथा सत्य मानते हैं और इसको सत्यापित करने के लिए वे भौहों की संगति से नेत्रों पर पड़े प्रभाव को दृष्टान्त-स्वरूप प्रस्तुत करते हैं –

संगति-दोषु लगै सबनु कहे ति साँचे बैन।
कुटिल-बंक-भ्रुव-सँग भए कुटिल, बंक-गति नैन॥

छोटे लोगों से बड़ों के करने योग्य काम नहीं हो सकते हैं। ठीक उसी प्रकार जैसे चूहे के चमड़े से बड़ा नगाड़ा नहीं मढ़ा जा सकता है। कवि बिहारीलाल कहते हैं –

कैसैं छोटे नरनु तैं सरत बड़ने के काम।
मद्यौ दमामौ जातु क्यौं, कहि चूहे कैं चाम ॥

क्षुद्र मनुष्य स्वभावतः कभी भी बड़े नहीं हो सकते हैं। जिस प्रकार फाड़-फाड़कर देखने से आँखें थोड़ी भी बड़ी नहीं हो पाती हैं –

ओछे बड़े न ह्वै सकैं, लगौ सतर ह्वै गैन।
दीरघ होहिं न नैंक हूँ फारि निहारैं नैन॥

चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय, जिसका जो स्वभाव होता है वह कभी नहीं बदलता है। अपने इस कथन के प्रमाणस्वरूप कविवर बिहारीलाल ने फुहारे के जल को दृष्टान्त-रूप में प्रस्तुत किया है –

कोरि जतन कोऊ करौ परे न प्रकृतिहिं बीचु।
नल-बल जलु ऊँचैं चढ़े, अन्त नीच कौ नीचु॥

लोकधारणा है कि चन्द्रमा का कलंकरहित होना किसी बड़े अनिष्ट का सूचक होता है। बिहारीलाल ने इस लोकधारणा के दृष्टान्त द्वारा अपने इस कथन को सिद्ध किया कि यदि बुरा आदमी बुराई का त्याग कर देता है तब भी मन में भय बना रहता है। कविवर बिहारीलाल कहते हैं –

बुरौ बुराई जौ तजै, तौ चितु खरौ डरातु।
ज्यौं निकलंकु मयंकु लखि गनैं लोग उतपातु॥

संग अपने समकक्ष का ही सुशोभित होता है। इस लोककथन को बिहारीलाल ने पान-पीक और ओंठ तथा काजल और नेत्र द्वारा प्रामाणिकता प्रदान की है –

सोहतु संगु समान सौं, यहै कहै सबु लोगु।
पान-पीक ओठनु बनै, काजर नैननु जोगु॥

कविवर बिहारीलाल का मानना है कि अच्छे स्थान पर ठहरने से, बसने से सभी अच्छे ही लगते हैं। उदाहरण के तौर पर गोरे मुख पर चाहे जिस रंग की बिन्दी लगायी जाय, वह सुन्दर ही लगता है–

सबै सुहाएई लगैं बसैं सुहाऐं ठाम।
गोरैं मुँह बेंदी लसैं अरुन, पीत, सित, स्याम॥

संसार में प्रायः देखने में आता है कि बुरे लोगों को तो महत्त्व मिलता है परन्तु सज्जनों को कोई नहीं पूछता। इसे बिहारीलाल ने इस प्रकार सिद्ध किया है –

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ भलौ कहि छोड़ियै, खोटैं ग्रह जपु, दानु॥

अभिप्राय यह है कि अच्छे ग्रह तो लोगों द्वारा 'अच्छे' कहकर नज़रअंदाज़ कर दिए जाते हैं, पर जो बुरे ग्रह होते हैं उनके लिए जप, दान इत्यादि किये जाते हैं ताकि वे हानि न पहुँचाएँ अर्थात् सभी संभावित हानि के भयवश उन्हें महत्त्व प्रदान करते हैं।

साथ ही साथ कविवर बिहारीलाल वैयक्तिक-सामाजिक नीति के आलोक में यह मत भी अभिव्यक्त करते हैं कि बड़े लोगों द्वारा की गई बड़ी भूल पर भी समाज में उनको कौन, क्या कह सकता है ? अर्थात् कोई कुछ नहीं कहता। अपने इस कथन की सम्पुष्टि उन्होंने विधाता द्वारा गुलाब की कंटीली डालियों में सुन्दर, कोमल फूल देने से की है कि विधाता की इस बड़ी भूल पर भी उसे कोई कुछ नहीं कह सकता –

को कहि सकैं बड़ेनु सौं लखैं बड़ीयौ भूल।
दीने दई गुलाब की इन डारनु वे फूल॥

4.1.4.2. राज्य नीति

रीतिकालीन दरबारी संस्कृति और राज्यनीति में कविवर बिहारीलाल की अभिरुचि का कोई विशेष प्रमाण नहीं मिलता है। फिर भी उन्होंने अपनी रचनाओं में राज्यनीति से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख प्रभावी ढंग से किया है। वैसे तो राज्यनीति से सम्बन्धित दोहे संख्या की दृष्टि से बहुत कम हैं, फिर भी राजनैतिक परिदृश्य में उनका महत्त्व किसी भी मायने में कम करके नहीं आँका जा सकता है। कविवर बिहारीलाल का मानना है कि द्वैत राज्य अथवा दुअमली में प्रजा के दुःखों में सदैव वृद्धि होती है। वे कहते हैं –

दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यौं न बढ़ै दुःख-दंदु।
अधिक अंधेरौ जग करत मिलि मावस रबि चंदु॥

राजनीति में निपुण शासक अपने शुभचिन्तक सहायकों, योग्य अधिकारियों आदि के अच्छे कार्यों से प्रसन्न होकर उनके पद-वेतन आदि में वृद्धि कर उसका मान-सम्मान बढ़ाते हैं। परिणामस्वरूप वे पहले से भी अधिक मन से राजा और राज्य की हित-रक्षा में संलग्न होते हैं। राज्य नीति के इस गूढ़ को बिहारीलाल ने नवयौवना नायिका के मन-शरीर की वृद्धि का वर्णन करते हुए परोक्ष ढंग से अभिव्यक्त करते हैं –

अपने अंग के जानि कै, जोबन-नृपति प्रबीन।
स्तन, मन, नैन, नितंब कौ बड़ौ इजाफा कीन॥

निर्बल राजा के होने से किसी भी देश में चोर-डाकुओं के उत्पात बढ़ जाते हैं। मार्ग सुरक्षित नहीं रह जाते हैं। शक्तिशाली राजा के होने से अमन-चैन बढ़ता है। मार्ग सुरक्षित हो जाते हैं तथा लोग चिन्तारहित होकर यात्रा करते हैं। कविवर बिहारीलाल ने कहा है –

घन-घेरा छुटि गौ, हरषि चली चहूँ दिसि राह।
कियौ सुचैनो आइ जगु सरद सूर नर नाह॥

यदि सेना का हरावल दस्ता यदि कमजोर हो तो मुख्य सेना पर अचानक संकट आ पड़ता है। बिहारीलाल कहते हैं –

जुरे दु हुन के दृग झमकि रुके न झीनैं चीर।
हलुकी फौज हरौल ज्यौं परै गोल पर भीर॥

इस प्रकार बिहारीलाल के काव्य में राज्य सम्बन्धी नीतिपरक दोहे सारगर्भित एवं प्रभावी हैं। आदर्श राज्य व उसकी सुरक्षा का दायित्व उनकी राज्यनीति का मुख्य प्रतिपाद्य है।

4.1.4.3. अर्थ नीति

कविवर बिहारीलाल के नीतिकाव्य में अर्थ का सम्बन्ध धन के साथ-साथ भौतिक सुख-सुविधाओं से भी है। अर्थ का महत्त्व तो हमेशा रहा है लेकिन बिहारीलाल का मानना है कि धन में उन्मत्त करने की अत्यधिक शक्ति होती है, इसलिए वे सचेत करते हैं –

कनक कनक तैं सौगुनौ मादकता अधिकाइ।
उहिं खाऐं बौराइ, इहिं पाऐं हीं बौराइ॥

धन से सदैव सावधान रहना चाहिए, क्योंकि जब यह बढ़ता है तब मन भी बढ़ जाता है पर जब यह घटता है तब मन घटता नहीं बल्कि पूरी तरह नष्ट हो जाता है। वैसे ही जैसे जल के बढ़ने से कमल प्रफुल्लित हो जाता है, पर जल के घटने या न रह जाने पर मूल सहित कुम्हला जाता है, सूख जाता है –

बढ़त बढ़त संपति-सलिलु मन-सरोजु बढ़ि जाइ।
घटत घटत सु न फिरि घटै, बरु समूल कुम्हिलाइ॥

बिहारीलाल कहते हैं कि धन के जाते समय सन्तोष का जो भाव रहता है कि जो ईश्वर की इच्छा होगी वह होगा। वही धन के आते समय कि जितनी ईश्वर की इच्छा होगी, मिलेगा, रखना चाहिए –

जात जात बितु होतु है ज्यौंजिस मैं संतोषु।
होत होत जौ होइ, तौ होइ घरी मैं मोषु॥

बिना पेट भर खाए, बिना तन भर पहने करोड़ों की दौलत एकत्र करना व्यर्थ है। हाँ, आवश्यक खर्च के बाद यदि धन बचे तो उसे एकत्र करने में कोई हर्ज नहीं। किसी कृपण को सम्बोधित करते हुए अपने दोहे में कवि ने इसी भाव को अभिव्यक्त किया है –

मीत, न नीति गलीतु ह्वै जौ धरियै धनु जोरि।
खाऐं खरचैं, जौ जुरै, तौ जोरियै करोरि॥

भाव यह है कि हे मित्र ! गल-गलकर और कष्ट भोग-भोगकर धन जोड़ना नीति सम्मत नहीं है। खाने-खर्चने के बाद अर्थात् आवश्यक खर्च के बाद यदि जुड़े तो करोड़ों जोड़िए।

श्रेष्ठ तथा नीच मनुष्य की विशेषता बतलाते हुए बिहारीलाल उन्हें क्रमशः केश तथा कुच से सम्बद्ध करते हुए कहते हैं कि श्रेष्ठजन केश के समान और नीच मनुष्य कुच के समान होते हैं। जैसे बाल बढ़ने पर नीचे की ओर आते हैं वैसे ही श्रेष्ठ मनुष्य सम्पत्ति में विनम्र होते हैं। और, जैसे कुच वैभव में तने हुए और वैभव की हानि में लुजलुजे हो जाते हैं, वैसे ही नीच मनुष्य वैभव प्राप्त होने पर अहंकारी, गर्वीले तथा वैभव न रहने पर दीन-क्षीण हो जाते हैं –

संपति केस, सुदेस नर नवत, दुहुनि इक बानि।
बिभव सतर कुच, नीच नर, नरम बिभव की हानि॥

4.1.4.4. धार्मिक नीति

बिहारीलाल वैष्णव भक्त हैं इसलिए वे मुक्ति की कामना नहीं करते। उनकी प्रबल धारणा है कि प्रभु की भक्ति करते हुए उनकी सेवा और उनके दर्शन में जो आनन्द है वह मुक्ति में नहीं है –

हरि, कीजति बिनती यहै तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्यो रह्यो पर्यौ रहौं दरबार॥

अपनी धार्मिक चेतना को अभिव्यक्त करते हुए कवि बिहारीलाल मतवाद का घोर विरोध करते हैं। मतवाद को व्यर्थ का शोर मचाना मानते हुए वे सीख देते हैं –

अपनैं अपनैं मत लगे बादि मचावत सोरु।
ज्यौं त्यौं सबकौं सेइबौ एकै नंदकिसोरु॥

कवि शिरोमणि बिहारीलाल ने जहाँ एक ओर माला फेरना, छापा-तिलक लगाना आदि को व्यर्थ बतलाते हुए बाह्याडम्बरों का विरोध किया है और यह नीति प्रतिपादित की है कि सच्चे एवं शुद्ध मन से की जाने वाली भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं –

जपमाला, छापैं, तिलक सरै न एकौ कामु।
मन-कांचै नाचै बृथा, सांचै रांचै रामु॥

इस प्रकार धार्मिक पाखण्डों की आलोचना करते हुए एक ओर जहाँ कवि बिहारीलाल ने जपमाला, छाप-तिलक आदि का विरोध किया है, वहीं दूसरी ओर अपने कतिपय दोहों में तन्मयता के साथ किये गए नाम-जाप

माला का समर्थन किया है। वे स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देते हैं कि हरिनाम की नाव और माला रूपी पतवार के बिना भवसागर से पार होना सम्भव नहीं है –

पतवारी माला पकरि, और न कछु उपाउ।
तरि संसार-पयोधि कौं, हरि-नावैं करि नाउ॥

ईश्वर की कृपा होने पर गुणहीन भी गुणी हो जाता है तथा ईश्वर की कृपा से वंचित होकर वही फिर गुणहीन हो जाता है। इस आलोक में कवि बिहारीलाल ने नीति प्रतिपादित करते हुए लट्टू और लट्टू नचाने वाले का सुन्दर एवं प्रभावी दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं –

लटुवा लौं प्रभु-कर-गहैं निगुनी गुन लपटाइ।
वहै गुनी-कर तैं छुटैं निगुनीयै ह्वै जाइ॥

4.1.4.5. आध्यात्मिक नीति

कवि बिहारीलाल के आराध्य त्रिभंगीलाल श्रीकृष्ण हैं जिनको वे सदैव अपने हृदय में बसाए रखना चाहते हैं। चूँकि उनका आराध्य सीधा नहीं है (टेढ़ा या बाँका है) इसलिए वे भी अपने हृदय में से सीधापन निकाल देने को उद्धत हैं। अपने बाँके आराध्य को अपने हृदय में स्थित करने के लिए वे हृदय को कुटिल (जो सीधा-सच्चा न हो) बनाने के लिए तैयार हैं। कवि का विश्वास है कि यदि मेरा हृदय सीधा-सरल होगा तो त्रिभंगीलाल को अपने टेढ़ेपन के कारण उसमें बसते हुए कष्ट होगा। तर्क यह है कि सीधी वस्तु के भीतर टेढ़ी वस्तु नहीं रह सकती। टेढ़ी वस्तु रखने के लिए टेढ़ा स्थान ही चाहिए जैसे कि टेढ़ी तलवार के लिए टेढ़ी म्यान ही चाहिए, सीधी म्यान में वह प्रविष्ट नहीं हो सकती। कविवर कहते हैं –

करौ कुबत जगु, कुटिलता तजौं न, दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत, त्रिभंगीलाल॥

उल्लेखनीय है कि 'बिहारी सतसई' में वेदान्तियों का प्रतिबिम्बवाद भी देखने को मिलता है। कवि बिहारीलाल कहते हैं –

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जगु कांचो कांच सौ।
एकै रूपु अपार प्रतिबिम्बित लखियतु जहाँ॥

कहीं-कहीं आत्मज्ञानियों की भाँति बिहारीलाल यह भी नीति-सम्मत सीख प्रदान करते हैं –

जगतु जनायौ जिहिं सकलु सो हरि जान्यौं नाहिं।
ज्यौं आंखिनु सब देखियै, आंखि न देखी जाहिं॥

संसारिक मायाजाल में फँसा व्यक्ति, जो उससे निकलने के प्रयास में और अधिक जकड़ता चला जाता है, को लक्ष्य कर बिहारीलाल हिरन को माध्यम बनाकर अन्योक्ति के माध्यम से बहुत उपयोगी नीति का प्रतिपादन करते हैं–

को छूट्यौ इहि जाल परि; कत, कुरंग, अकुलात।
ज्यौं ज्यौं सुरझि भज्यौ चहत, त्यौं त्यौं उरझत जात॥

इस प्रकार कविवर बिहारीलाल ने विविध व्यक्तियों एवं विषयों पर अन्योक्तियों के माध्यम से नीतिपरक बातें कही हैं जहाँ उनका लक्ष्य चोट करना रहा है वहाँ चोट की है, जहाँ समझाने का उद्देश्य रहा है वहाँ सुन्दर व सहज ढंग से समझाने का प्रयास किया है, जहाँ चेतावनी देना आवश्यक लगा है, वहाँ 'आगे कौन हवाल' जैसी कड़ी चेतावनी भी दी है। साथ ही जहाँ अपने मन की भावना (भले ही वह दूसरे को अप्रिय और कड़वी लगे) अभिव्यक्त करना आवश्यक समझा है, वे वहाँ भी ऐसा करने से नहीं चूकते हैं –

सुख बीते दुःख होत है दुःख बीते सुख होत।
दिवस गए ज्यौं निसि उदित निसगत दिवस उदोत॥

अन्य भक्त कवियों की तरह कविवर बिहारीलाल अपनी आन्तरिक शुद्धता के निमित्त माया-मोह से ग्रस्त अपने मन की भर्त्सना करते हैं, उसे डाटते-फटकारते हैं –

भजन कह्यौ, तातैं भज्यौ; भज्यौ न एकौ बार।
दूरि भजन जातैं कह्यौ, सो तैं भज्यौ, गँवार॥

4.1.4.6. सांस्कृतिक नीति

भारतीय संस्कृति में प्रेम, त्याग, करुणा, परोपकार, क्षमा, सहनशीलता आदि नैतिक व मानवीय जीवन-मूल्यों पर विस्तार से चर्चा की गई है। इस आलोक में बिहारीलाल का कथन है कि सज्जन व्यक्ति का प्रेम सदैव पक्का होता है, वह मित्र की हीन दशा में भी कम नहीं होता। इसकी पुष्टि करते हुए वे कहते हैं कि चोल के रंग से रंगा हुआ कपड़ा फट भले जाय, परन्तु उसका रंग नहीं उतरता, फीका नहीं पड़ता –

चटक न छांड़तु घटत हूँ सज्जन-नेहु गंभीरु।
फीकौ परै न, बरु फटै, रंग्यौ चोल-रंग चीरु॥

कृपण व्यक्ति के स्वभाव के सम्बन्ध में बिहारीलाल कहते हैं कि उसके पास जितनी सम्पत्ति बढ़ती है उतनी ही कृपणता भी बढ़ती जाती है। अपने इस कथन को वे उरोजों के दृष्टान्त से प्रामाणिक बनाते हैं। उरोज जैसे-जैसे बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे कठोर भी होते जाते हैं –

जेती संपति कृपन कैं, तेती सूमति जोर।
बढ़त जात ज्यौं ज्यौं उरज, त्यौं त्यौं होत कठोर॥

लोभी व्यक्ति में आत्मसम्मान की भावना तो नहीं ही रहती है। साथ ही साथ उसमें आदमी को पहचानने की शक्ति भी नहीं रह जाती है। इसलिए बिहारीलाल सचेत करते हैं कि लोभ रूपी चश्मे से व्यक्ति को छोटा व क्षुद्र भी बड़ा और महान् दिखाई पड़ने लगता है –

घरु घरु डोलत दीन ह्वै, जनु जनु जाचतु जाइ।
दियैं लोभ-चसमा चखनु लघु पुनि बड़ौ लखाइ॥

बिहारीलाल धन-लिप्सा के रूप में सम्पत्ति को अनेक दुर्गुणों से भरी हुई एक बला के रूप में निरूपित करते हुए कहते हैं कि इसकी आवश्यकता तो केवल संसार में लज्जा बनाए रखने के लिए होती है। भगवान् बिना सम्पत्ति के ही लज्जा यदि बनाए रहें तो इसका चाहना बला मोल लेना है। बिहारीलाल ने कहा है –

तौ अनेक औगुन-भरिहिं चाहै याहि बलाइ।
जौ पति संपति हूँ बिना जदुपति राखे जाइ॥

विनम्रता मनुष्य का सबसे बड़ा गुण है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल से विद्यार्थी को पहली सीख यही दी जाती है – "विद्या ददाति विनयम्।" यानी व्यक्ति को विनम्र होना चाहिए। इस सन्दर्भ में फुहारे के पानी से समता स्थापित करते हुए बिहारीलाल नीति प्रतिपादित करते हैं कि मनुष्य नम्रता से ही श्रेष्ठता प्राप्त करता है –

नर की अरु नल-नीर की गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

बिहारीलाल सचेत करते हैं कि दुष्ट मनुष्यों का स्वभाव गेंद के समान होता है। गेंद की तरह वे ज्यों-ज्यों चोट खाते हैं, निरादृत होते हैं, त्यों-त्यों उछलते हैं, अपने को श्रेष्ठ मानते हैं। उन्होंने कहा है –

नीच हियैं हुलसे रहैं गहे गेंद के पोत।
ज्यौं ज्यौं माथैं मारियत, त्यौं त्यौं ऊँचे होत॥

मारवाड़ में जहाँ जल का अभाव रहता है वहाँ जेठ महीने की दोपहर में जल खोजते हुए यदि प्यासे को मतीर भी प्राप्त हो जाता है तो वह उसे क्षीरसागर कहता है। इस प्रसंग के द्वारा कविवर बिहारीलाल ने यह मत अभिव्यंजित किया है कि दुर्लभ वस्तु यदि थोड़ी भी मिल जाती है तो लोग उसे बहुत मानते हैं –

प्यासे दुपहर जेठ के फिरे सबै जलु सोधि।
मरुधर पाइ मतीरु हीं मारू कहत पयोधि॥

नीति-सम्मत दोहों के परिप्रेक्ष्य में 'बिहारी सतसई' में मारवाड़ क्षेत्र से ही जुड़ा एक और प्रसंग उल्लेखनीय है जिसके माध्यम से बिहारीलाल ने यह सीख दी है कि यदि छोटी वस्तु से काम बने और बड़ी वस्तु से काम न बने तो वह बड़ी या उत्तम वस्तु किसी काम की नहीं है। वे कहते हैं –

बिषम बृषादित की तृषा जिसे मतीरनु सोधि।
अमित, अपार अगाध-जलु मारौ मूड़ पयोधि ॥

वस्तुतः बिहारीलाल के नीतिकाव्य में कहीं भी महत्त्व बड़े-छोटे का नहीं होता है, उनकी दृष्टि में काम बनने या अभीष्ट पूरा होने का ही महत्त्व है–

अति अगाधु, अति औथरौ नदी, कुपु, सरु, बाइ।
सो ताकौ सागरु, जहाँ जाकी प्यास बुझाइ॥

चढ़ती नदी की भाँति आता हुआ यौवन भी बहुत से अनर्थ करवाता है। यह व्यक्ति एवं समाज को किसी न किसी रूप में सबको अपने में लपेटे ही लेता है। नीति यह है कि लोगों को इससे हमेशा सावधान रहना चाहिए –

इक भीजैं, चहलैं परैं, बूड़ैं बहैं हजार।
किते न औगुन जग करैं बै-नै चढ़ती बार॥

बिहारीलाल की मान्यता है कि संसार में कुछ भी कुरूप नहीं है। समय और रुचि के अनुसार सभी वस्तुएँ सुन्दर लगती हैं। उन्होंने कहा है –

समै समै सुन्दर सबै, रूपु कुरूपु न कोइ।
मन की रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होइ॥

सौन्दर्य के बाहरी पैमाने पर तो अनेक वस्तुएँ एक जैसी लगती हैं, परन्तु गुणीजन उन सबके प्रति अनुरक्त नहीं होते। वे तो विशेष आन्तरिक सौन्दर्य पर ही रीझते हैं, वशीभूत होते हैं। इस मायने में बिहारीलाल नीतिसम्मत बात करते हैं –

अनियारे, दीरघ दृगनु किती न तरुनि समान।
वह चितवनि औरै कछू, जिहिं बस होत सुजान॥

यह नहीं भूलना चाहिए कि चाहे किसी को अच्छा लगे या बुरा, जिसका जो स्वभाव होता है वह कभी छूटता नहीं है। बिहारीलाल कहते हैं –

भावरि-अनभावरि-भरे करौ कोरि बकवादु।
अपनी अपनी भाँति कौ छूटै न सहजु सवादु॥

बड़े लोगों के मर्यादाहीन आचरण के बारे में सोचना व्यर्थ है, क्योंकि बहुत बढ़ने पर तालाब और मनुष्य मर्यादा भंग करते ही हैं। इस सन्दर्भ में कविवर बिहारीलाल सचेत करते हैं –

अरे, परेखौ को करै, तुंहीं बिलोकि बिचारि।
किहिं नर, किहिं सर राखियै खरैं बढ़ैं परिपारि॥

मन के सच्चे भाव आँखों से प्रकट होते हैं, वाणी से नहीं। इस सन्दर्भ में बिहारीलाल कहते हैं –

झूठे जानि न संग्रहे मन मुँह-निकसे बैन।
याही तैं मानहु किये बातनु कौं बिधि नैन॥

बिहारीलाल कहते हैं कि पातक, राजा तथा रोग – ये तीनों निर्बल को ही दबाते हैं। अपनी इस उक्ति की पुष्टि में उनका कहना है कि ऐसा केवल मैं नहीं कह रहा हूँ, शास्त्रज्ञ और ज्ञानवान् पुरुष भी यही कहतेहैं –

कहै यहै श्रुति सुम्रत्यौ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसकहीं पातक, राजा, रोग॥

आदरणीय व्यक्तियों का सम्मान करना चाहिए, क्योंकि आदर योग्य गुणवान् व्यक्ति या वस्तु का निरादर करने से उस व्यक्ति या वस्तु का तो कुछ नहीं घटता, उलटे निरादर करने वालों की जड़ता ही प्रकट होती है। इस प्रकार बिहारीलाल सीख देते हैं –

सो सिर धरि महिमा मही लहियत राजा राइ।
प्रगटत जड़ता अपनियै सु मुकटु पहिरत पाइ॥

4.1.5. बिहारीलाल का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल (वि.सं. 1700 से वि.सं. 1900) को रीतिकाल कहा जाता है। वैसे तो रीतिकाल को सामान्यतया रास-रंग, वैभव-विलास और शृंगार का काल समझा जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि तत्युगीन साहित्य मूल्यहीन और नीतिरहित है। पूर्ववर्ती साहित्यिक परम्पराओं की भाँति हिन्दी साहित्य का रीतिकाल भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से मानव-जीवन की समझ और नैतिक जीवन-मूल्यों की परख करता है। बिहारीलाल के काव्य का लक्ष्य मूलतः जनमानस को नैतिक जीवन व मानवीय मूल्यों की ओर ले जाना है।

नैतिक मूल्यों की दृष्टि से बिहारीलाल के नीतिकाव्य का अनुशीलन करने पर अनेक नूतन तथ्य सामने आते हैं। वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक नैतिक मूल्यों के निहितार्थ उन्होंने ऐसी-ऐसी सरल नीतियों का प्रतिपादन किया है कि जिसकी बानगी अन्यत्र मिलना कठिन है। वैयक्तिक जीवन-मूल्यों के अन्तर्गत चारित्रिक जीवन-मूल्य भी आते हैं। इसी प्रकार सामाजिक मर्यादाओं के अन्तर्गत पारिवारिक मूल्यों व आदर्शों का महत्त्व है। आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक

चिन्तन के बिना मानव-जीवन दिशाहीन है। रीतिकालीन भौतिकतावादी प्रभावों के बावजूद कविवर बिहारीलाल ने अपने काव्य में सत्य, त्याग, करुणा, ईमानदारी, विवेकशीलता, सन्तोष, क्षमा आदि नैतिक, आदर्श एवं शाश्वत जीवन-मूल्यों का गुणगान किया है। उनका नीतिकाव्य सज्जन की प्रशंसा और दुर्जन की निन्दा करता है, सपूत-कपूत की तुलना करता है, प्रभु-महिमा व प्रभुनाम-स्मरण की ओर अभिप्रेरित करता है, धार्मिक आडम्बरों का निषेध कर साम्प्रदायिक व मजहबी बनने से रोकता है। बिहारीलाल का नीतिकाव्य 'कृतघ्नता' को बहुत बड़ा पाप मानते हुए परोपकार की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है। उनका नीतिकाव्य कहीं-न-कहीं प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से उनके करिश्माई व्यक्तित्व को ही उद्घाटित करता है। कविवर बिहारीलाल के नीतिकाव्य में अभिव्यिक्त जीवन-मूल्य ऐसे सच्चे हीरे हैं जिनका महत्त्व उनको सहेजने, संजोने और पिरोने वाला ही जान सकता है, महसूस कर सकता है।

4.1.6. पाठ सार

'बिहारी सतसई' में प्रचुर मात्रा में नीति विषयक दोहे संकलित हैं। देखा जाय तो शृंगार को छोड़कर अन्य विषयों की तुलना में इनकी संख्या सर्वाधिक है। शृंगार के साथ नीति का यह मेल कुछ अजीब-सा तो लग सकता है किन्तु अस्वाभाविक नहीं है। बिहारी रीतिकाल के प्रारम्भिक कवियों में से हैं। उनसे पूर्व के भक्तकवि अपने काव्य के माध्यम से एक प्रकार से जनता का पथ-प्रदर्शन ही कर रहे थे। प्रवृत्ति बदली तो साहित्य मनोरंजन और मानसिक विलास के साथ जुड़ गया। बिहारीलाल ने अपने को इसी धारा के साथ मुख्यता से जोड़ा, परन्तु पूर्व की धाराओं से अपने को पूरी तरह काटा नहीं। इसलिए भक्ति, नीति आदि विषयों की रचनाएँ भी उन्होंने की है। भक्तिकालीन यह विचार कि कवि समाज का पथ-प्रदर्शन करता है, बिहारी ने त्यागा नहीं। उन्होंने जहाँ एक ओर राजाओं, दरबारियों तथा काव्य-रसिकों के लिए काव्यशास्त्रसिद्ध शृंगारिक रचनाएँ कीं तो दूसरी ओर सामान्य वर्ग के लिए नीति की रचना द्वारा पथ-प्रदर्शक के दायित्व का निर्वाह भी किया। एक साथ दोनों पक्षों को साधना आसान काम नहीं। यही कारण है कि आगे के शृंगारी कवियों में नीति का विषय प्रायः नहीं मिलता, अपितु शृंगार और नीति स्पष्टतः दो अलग-अलग वर्ग बन गए।

4.1.7. कठिन शब्दावली

कनक	:	धतूरा, स्वर्ण
बृथा	:	व्यर्थ
भामिनि	:	स्त्री
नल	:	कमल
कुरंग	:	हरिण, मृग

4.1.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. पाण्डेय, सुधाकर, बिहारी सतसई (लालचन्द्रिका), नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.
2. किशोरीलाल, बिहारी काव्य का अभिनव मूल्यांकन, साहित्य भवन, इलाहाबाद.

3. सिंह, बच्चन, बिहारी का नया मूल्यांकन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
4. मिश्र, विश्वनाथ प्रसाद, बिहारी, संजय बुक सेंटर, वाराणसी.

4.1.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. बिहारीलाल के नीतिकाव्य में अर्थ नीति।
2. बिहारीलाल की आध्यात्मिक चेतना।
3. बिहारीलाल के काव्य में राज्य नीति।
4. बिहारीलाल की धार्मिक नीति।
5. बिहारीलाल का व्यक्तित्व एवं कृतित्व।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "कविवर बिहारीलाल रीतिकालीन नीतिकाव्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं।" स्पष्ट कीजिए।
2. बिहारीलाल के काव्य में निहित वैयक्तिक एवं सामाजिक नीति का अनुशीलन कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. बिहारीलाल किस काल के प्रतिनिधि कवि हैं ?
   (क) आदिकाल
   (ख) भक्तिकाल
   (ग) रीतिकाल
   (घ) आधुनिक काल

2. 'बिहारी सतसई' में कुल कितने दोहे संकलित हैं ?
   (क) 709
   (ख) 713
   (ग) 717
   (घ) 721

3. बिहारीलाल के अनुसार किसका विश्वास नहीं करना चाहिए ?
   (क) सज्जनों का
   (ख) दुर्जनों का
   (ग) दोनों का

(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. बिहारीलाल की दृष्टि में उच्च पद पर आसीन लोग अपना पद क्यों नहीं छोड़ पाते हैं ?
   (क) परोपकार के कारण
   (ख) लोभ के कारण
   (ग) भय के कारण
   (घ) उपर्युक्त सभी

5. "संगति का दोष सबको लगता है।" इस कथन की सम्पुष्टि के लिए नेत्र और भौहों का दृष्टान्त किस कवि ने प्रस्तुत किया है ?
   (क) केशवदास
   (ख) रहीम
   (ग) वृन्द
   (घ) बिहारीलाल

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतिकालीन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 2 : वृन्द के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

4.2.0. उद्देश्य कथन
4.2.1. प्रस्तावना
4.2.2. वृन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  4.2.2.1. व्यक्तित्व
  4.2.2.2. कृतित्व
4.2.3. वृन्द का युगबोध एवं मानव-दर्शन
4.2.4. वृन्द का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  4.2.4.1. वैयक्तिक नीति
  4.2.4.2. सामाजिक नीति
  4.2.4.3. राज्य नीति
  4.2.4.4. अर्थ नीति
  4.2.4.5. धार्मिक नीति
  4.2.4.6. आध्यात्मिक नीति
  4.2.4.7. सांस्कृतिक नीति
4.2.5. वृन्द का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
4.2.6. पाठ सार
4.2.7. कठिन शब्दावली
4.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.2.9. बोध प्रश्न

4.2.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत पाठ वृन्द के काव्य में अभिव्यक्त मूल्य-चेतना के विभिन्न पक्षों पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. वृन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. वृन्द की युगीन चेतना और मानव जीवन-दर्शन का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. वृन्द के नीतिकाव्य में अभिव्यक्त मानवीय जीवन-आदर्शों एवं मूल्यों का निरूपण कर सकेंगे।
iv. रीतिकालीन परम्परा की मूल्य-चेतना के अन्तर्गत वृन्द के रचनात्मक अवदानों का विवेचन कर सकेंगे।

4.2.1. प्रस्तावना

मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन हो या सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन या फिर राजनैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आध्यात्मिक जीवन ही क्यों न हो, नैतिक जीवन-मूल्य हर क्षण में, हर अवस्था में उसका मार्गदर्शन करते हैं। आदर्श एवं नैतिक जीवन-मूल्यों तथा साहित्य का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध सहज ही अनुभूत है, क्योंकि साहित्य और नैतिक जीवन-मूल्यों का आधार अन्ततः मानव-जीवन कल्याण ही है। रीतिकालीन मूल्य-विघटनकारी युग में कविवर वृन्द की रचनात्मकता अपना विशिष्ट स्थान रखती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि युगीन परिस्थितियों के अनुरूप रीतिकालीन साहित्य शृंगार-प्रधान है, लेकिन तत्युगीन काव्य मानवीय नैतिक मूल्यों की परख भी करता है। समाज में व्यक्ति का आचरण एवं व्यवहार महत्त्व रखता है। कविवर वृन्द के सामाजिक सरोकार गहरे हैं इसलिए नैतिकता के निहितार्थ अपनी कविताओं में उन्होंने मानवीय जीवन-मूल्यों को सिंचित एवं पुष्पित पल्लवित करने का अनूठा प्रयास किया है। जनमानस को जीवन के उदात्त मूल्यों की ओर प्रेरित करना ही उनके नीतिकाव्य का प्रतिपाद्य है।

4.2.2. वृन्द : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

रीतिकालीन कवियों में कविवर वृन्द का नाम बड़ा ही आदर के साथ लिया जाता है। चूँकि, वे मानवीय मूल्यों की निरन्तर तलाश करने वाले गम्भीर रचनाकार हैं इसलिए एक ओर जहाँ उनके नीतिकाव्य में आधुनिक भावबोध है तो वहीं दूसरी ओर तर्क, विचार एवं चिन्तन की प्रधानता होने से उसमें वैज्ञानिक बोध भी समाविष्ट है। निश्चय ही उनकी रचनाएँ सतही, कोरी उपदेशात्मक एवं व्यर्थ के उलझाव से युक्त नहीं हैं अपितु लोक-कल्याण के निमित्त उनमें संयम एवं गम्भीरता भी विद्यमान है। किसी रचनाकार की सामाजिक जागरूकता उसके अस्तित्व की सार्थकता को अभिव्यक्त करती है। इस सन्दर्भ में मानवीय जीवन-मूल्यों के व्याख्याता के रूप में कविवर वृन्द का व्यक्तित्व एवं कृतित्व एक-दूसरे को निरन्तर आलोकित करते रहते हैं।

4.2.2.1. व्यक्तित्व

कुछ विद्वानों का मानना है कि कविवर वृन्द के पूर्वज बीकानेर के रहने वाले शाकद्वीपीय भोजक ब्राह्मण थे। बाद में उनके पिता श्री रूपजी (डिंगल कवि) मेड़ते में आकर बस गए और वहीं वृन्द का जन्म हुआ। डॉ॰ महेन्द्र कुमार ने वि.सं. 1700 को वृन्द का जन्मकाल स्वीकार किया है। उनकी माता का नाम कौशल्या था। वृन्द का पूरा नाम वृन्दावन था। बचपन से ही वे सुशील, गम्भीर और तीव्र बुद्धि के थे। लगभग दस वर्ष की अवस्था में उनके पिता ने उन्हें विद्याध्ययन के लिए काशी भेजा। वहाँ तारा पण्डित के पास रहकर उन्होंने व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, गणित, दर्शनशास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त किया। काशी से लौटने के उपरान्त मेड़ते में उनका काफी सम्मान हुआ तथा जोधपुर नरेश महाराज जसवन्तसिंह ने उन्हें कुछ भूमि प्रदान की। उन्हीं के द्वारा औरंगजेब के वज़ीर नवाब मुहम्मद ख़ां से उनका परिचय हुआ तथा उनका प्रवेश बादशाह के दरबार में हुआ।

किशनगढ़ नरेश राजसिंह को कविवर वृन्द का अन्तिम आश्रयदाता माना जाता है। प्रायः सभी विद्वान कविवर वृन्द का निधन वि.सं. 1780 भाद्रपद कृष्ण 30, रविवार को हुआ स्वीकार करते हैं।

4.2.2.2. कृतित्व

कविवर वृन्द की रचनाओं में सोलह कृतियाँ सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं जो नीति, भक्ति, वार्त्ता व शृंगार से सम्बन्धित हैं। इस आलोक में 'बारहमासा', 'भावपंचाशिका', 'नयनपचीसी', 'पवनपचीसी', 'शृंगार-शिक्षा' तथा 'यमक-सतसई' उनकी छह प्रसिद्ध रीतिबद्ध रचनाएँ मानी जाती हैं। 'बारहमासा' में कवि ने बारह महीनों में आदिजिनेश्वर की पूजा का वर्णन किया है। 'भावपंचाशिका' एक शृंगारपरक कृति है। 'पवनपचीसी' एक प्रकृतिपरक काव्यकृति मानी जाती है। 'वृन्द विनोद सतसई' कवि के स्वयंसिद्ध अनुभवों की थाती है जो कि अत्यन्त सुन्दर, सरस, सरल और सुगठित शैली में अभिव्यक्त किए गए हैं। 'सम्मत शिखर छन्द', 'शृंगार शिक्षा', 'पुष्कराष्टवक', 'हितोपदेशाष्टकक' 'बचनिका' आदि कविवर वृन्द की अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

4.2.3. वृन्द का युगबोध एवं मानक्न्दर्शन

कविवर वृन्द का युगबोध एवं मानव जीवन्दर्शन उस चिन्तनधारा की प्रतिच्छवि है जो मूलतः अपनी प्रकृति में पारम्परिक होते हुए भी अध्ययन, चिन्तन और सम्भवतः उससे अधिक तत्युगीन सम्पर्कों के प्रभावस्वरूप बहुत हद तक कालजयी बन देशेतर गुणों, रुचियों और प्रवृत्तियों से पूरी तरह समन्वित हो गया है। उन्होंने मानव-जीवन की जटिल सम्वेदनाओं और उसके अन्तर्द्वन्द्वों की सजर्नात्मक अभिव्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से मानवीय आदर्श एवं नैतिक जीवन-मूल्यों का अभिप्रेरणात्मक उपयोग किया है। मानवजाति के कल्याण की कामना में कवि निश्चय ही समष्टिबोध से युक्त हैं। इस आलोक में मानवतावादी स्वर की प्रमुखता, लोकहित की कामना तथा मूल्यपरक चित्रण होने के कारण उनके नीतिकाव्य को समष्टि का समर्थक कहना समीचीन है। समाजबोध और जनजीवन में विश्वास कविवर वृन्द की युगीनचेतना एवं मानवीय जीवन-दर्शन की सबसे बड़ी ताकत है। इसलिए मानव कल्याण के निहितार्थ, तत्युगीन परम्पराओं में भी वे बड़ी निष्ठा से नीतिसम्मत बातें करते हैं। वैसे तो यह सहज स्वीकार्य तथ्य है कि साहित्य में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति होती ही है। वृन्द जीवन-मूल्यों को अपनी रचनाओं में व्यावहारिक रूप प्रदान करते हैं। आज जीवन में जो अनियमितताएँ दिखाई दे रही हैं उसमें वृन्द का नीतिकाव्य अधिक प्रभावी एवं उपयोगी हो सकता है। चूँकि, समाज में पाखण्ड आज भी मौजूद है। मिथ्याचार, आडम्बर एवं दिखावों का चलन अब भी है, ऐसे में कविवर वृन्द की प्रासंगिक्ता वर्तमान सन्दर्भों में और भी बढ़ गई है क्योंकि उनके नीतिकाव्य का मुख्य उद्देश्य लोकहित है। नीतिकार के रूप में उन्होंने जिस नीतिपरक काव्य की रचना की, उसके मूल में भी लोककल्याण की भावना सहज अनुभूत है। उनकी युगीन चेतना एवं मानवीय जीवन-दर्शन में सत्यं, शिवं और सुन्दरम् का सुन्दर समन्वय है और अन्ततः वे 'सर्वजन सुखाय व सर्वजन हिताय' को ही अपने काव्य में प्रमुखता प्रदान करते हैं।

4.2.4. वृन्द का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

कविवर वृन्द रीतिकालीन काव्यधारा के प्रमुख नीतिकवि माने जाते हैं। लोकहित के निमित्त वे मानवीय आचरण एवं व्यवहार को ही अपनी आत्मानुभूति बनाकर नीतिपरक बातें कहने वाले ऐसे कवि हैं जिन्होंने बहुत सरल व प्रभावी ढंग से व्यक्ति व समाज के उदात्त जीवन-मूल्यों को अपनी रचनाओं में पूरी निष्ठा के साथ अभिव्यक्त किया है। उनके काव्य में निहित वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक नीतियाँ मानव मात्र के सदाचरण व आदर्श की उल्लेखनीय प्रस्तुति हैं तथा उनकी रचनात्मक चेतना में समस्त मानवजाति का जीवन-दर्शन समाया हुआ है।

4.2.4.1. वैयक्तिक नीति

रीतिकालीन नीतिकाव्य में शारीरिक जीवन-मूल्यों की पहचान अभीष्ट है। यही कारण है कि शारीरिक बल एवं सुरक्षा की सीख रीतिकालीन नीतिकाव्य में सहज ही उपलब्ध है। नीतिकवि वृन्द शारीरिक जीवन-मूल्यों में बल को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं। वे कहते हैं कि हवा पर्वत को हिला नहीं पाती लेकिन पेड़ को जड़ से उखाड़ डालती है। इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा है –

कछु बसाय नहीं सबल सों, करै निबल पर जोर।
चलै न अचल उखारि तरु डारत पवन झकोर॥

शारीरिक बल की महत्ता को स्थापित करते हुए कविवर वृन्द कहते हैं कि सयाने (बुद्धिमान) लोग शारीरिक बल के महत्त्व को भली-भाँति स्वीकार करते हैं। रीतिकालीन कवि बिहारीलाल का मानना है कि पाप, राजा और रोग, तीनों ही निर्बल को ही दबाते हैं तथा उन्हें अपना शिकार बनाते हैं, वृन्द भी इसी बात की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि संसार में निर्बल व्यक्तियों के साथ ही दुर्व्यवहार होता है –

काम समै पावै सु दुःख जे निबलन के अंग।
मरदन खण्डन सहत हैं, यों अबला के अंग॥

कवि वृन्द स्वस्थ एवं रोगमुक्तकाया की महत्ता प्रकट करते हैं। इस आलोक में वे कुपथ्य से बचने का उपदेश करते हैं, क्योंकि कुपथ्य करने वाला व्यक्ति अवश्य ही रोगग्रस्त होता है –

नृप अनीति के दोस तैं, चूकै मन्त्र प्रयोग।
करै कुपथ ता पुरुष कौं, कौन न उपजै रोग॥

शारीरिक बल के आधार पर ही जिस प्रकार शेर पूरे वन को अपना बना लेता है, ठीक उसी प्रकार बलवान् व्यक्ति अपने पराक्रम से सम्पूर्ण पृथ्वी पर राज्य करता है। सिंह का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए पराक्रमी व बलशाली व्यक्ति के सन्दर्भ में उन्होंने कहा है –

वीर पराक्रम तें करैं, भुव-मण्डल कौ राज।
जोरावर यातैं करत, बन अपनौ मृगराज॥

पराक्रमी व साहसी व्यक्ति कभी दीनता तथा निकृष्टता का काम नहीं करता। सिंह भूख सहता है, लेकिन घास नहीं खाता। वृन्द कहते हैं –

करै न कबहूँ साहसी, दीन हीन कौ काज।
भूख सहै पर घास को, नाहिं भखै मृगराज॥

पराक्रमी व साहसी व्यक्ति स्वाभिमानी भी होते हैं। सिंह का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कविवर वृन्द कहते हैं कि सिंह भूखा रह जाता है, परन्तु सियार से माँगने नहीं जाता है। इस प्रकार वे स्वाभिमानी व्यक्ति को निकृष्ट के पास नहीं जाने की सीख देते हैं –

मान-धनी नर नीच पै, नाचै नाहिंन जाय।
कबहुँ न मांगे स्यार पै, बरु भूखौ मृगराय॥

सज्जनता व्यक्ति का सबसे बड़ा मानवीय गुण है। कवि वृन्द कहते हैं कि एक सज्जन व्यक्ति से सबकी भलाई होती है। राजा हरिश्चन्द्र का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं कि राजा हरिश्चन्द्र के साथ ही अनेक जीवों का उद्धार हो गया। वे कहते हैं –

एक भले सब कौ भलौ देखौ सबद विवेक।
जैसैं सत हरिचन्द के उधरे जीव अनेक॥

सज्जन व्यक्ति की प्रशंसा करते हुए कवि वृन्द कहते हैं कि धीरवान् सज्जन पुरुष तो बुरेव्यक्ति के साथ भी भला व्यवहार करता है। जिस प्रकार हवा पानी को सुखा देती है, लेकिन पानी हवा को शीतल ही रखता है, ठीक उसी प्रकार सज्जन व्यक्तियों का आचरण एवं व्यवहार होता है –

अहित किय हू हित करैं, सज्जन परम सधीर।
सोखे हूँ सीतल करै, जैसे नीर समीर॥

सज्जन व्यक्ति बुराई किए जाने पर भी अपनी अच्छाई का परित्याग नहीं करते है। कुल्हाड़ी चन्दन के वृक्ष को काटती है तब भी चन्दन कुल्हाड़ी को ही सुगन्धित ही करता है –

सज्जन तजता न सजनता, कीनेहू अपकार।
ज्यों चन्दन छेदै तउ, सुरभित करत कुठार॥

4.2.4.2. सामाजिक नीति

परिवार समाज की लघु इकाई है। पारिवारिक जीवन-मूल्यों का निरूपण प्रायः सामाजिक नीति के अन्तर्गत ही किया जाता है। पारिवारिक जीवन-मूल्यों के अनुपालन की सीख देते हुए कवि वृन्द कहते हैं कि चाहे कितनी ही हानि क्यों न हो जाय, लेकिन कुल की मर्यादा का परित्याग नहीं करना चाहिए। हाथी एक महावत को मार भी दे तो दूसरा महावत उस पर सवार हो जाता है –

कुल मारग छौड़े न कोउ, होहि बुद्धि कै हानि।
गज इक मारत दूसरो, चढ़त महाबत आनि॥

कंचन और काँच का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कवि वृन्द कुल-परम्परा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हैं –

भले बंस सन्तति भली, कबहूँ नीच न होय।
ज्यों कंचन की खान मैं, कांच न उपजै कोय॥

भारतीय जीवन-शैली की एक प्रमुख विशेषता संयुक्त परिवार व्यवस्था है जिसमें सामान्यतः वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार का मुखिया माना जाता है। परिवार के अन्य हर छोटे-बड़े सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे मुखिया की आज्ञा का पालन करें। इस आलोक में कविवर वृन्द वृक्षों में कल्पवृक्ष, हाथियों में ऐरावत तथा देवताओं में इन्द्र का उदाहरण प्रस्तुत कर मनुष्य से इतर प्रजातियों में भी मुखिया या सरदार होने की बात स्वीकार करते हैं –

सबहीं कुल में होत है, एक-एक सरदार।
गज ऐराबत सुर सुरिंद तरुबर मैं मंदार॥

पारिवारिक जीवन-मूल्यों के निहितार्थ कवि शिरोमणि वृन्द व्यक्ति पर कुल, परम्परा या वंशानुगत प्रभाव की चर्चा करते हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि माता-पिता के गुण सन्तान में अनिवार्यतः आते हैं। शिशु माँ के पेट में ही वंश के स्वभाव का परिचय प्राप्त कर लेता है। सिंहनी का गर्भस्थ शावक मेघ-गर्जना सुनकर भ्रमवश उछलने लगता है –

जनमत जननी उर मैं, कुल को लेत सुभाव।
उछलत सिंहनि कौ गरभ, सुनि गरजन घनराब॥

सपूत खुद कष्ट सहकर भी दूसरों की शोभा बढ़ाते हैं। अपने माता-पिता को कोई कष्ट नहीं होने देते। सूत ओटे-धुने जाने पर भी संसार को ढकने के काम आता है –

आप कस्ट सह और कौं, सोभा करत सपूत।
चरखी पींजन चरन खिंच, जग ढांकन ज्यौं सूत॥

रीतिकालीन कवियों में शिक्षा विषयक नैतिक मूल्यों का सर्वाधिक उद्‌घाटन कविवर वृन्द ने किया है। शिक्षा के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए वे कहते हैं कि कुलीन और रूपवान् होने पर भी विद्याहीन व्यक्ति सुगन्धरहित टेसू के फूल के समान होता है –

विद्या बिन बिराजहीं, जदपि सरूप कुलीन।
ज्यों सोभा पाबै नहीं, टेसू बास बिहीन॥

'उत्तम विद्या लीजिए, जदपि नीच पै होय' कहकर कविवर वृन्द सीख देते हैं कि विद्या यदि किसी अधम व्यक्ति के पास भी हो तो उसे ग्रहण करने में संकोच नहीं करना चाहिए। वैसे भी जिसके पास विद्या होती है, उसका सभी आदर करते हैं –

कहूँ अनादर पायकै, गुनी न करहुँ अंदेस।
विद्या है तो करहिंगे, सब कोउ आदेस॥

वे यह भी कहते हैं कि सरस्वती और लक्ष्मी यानी विद्या और धन-दौलत परस्पर विरोधी होते हैं –

विद्या लक्ष्मी पुरुष पैं, होय नहीं इक ठांय।
नाहिन दुःख सुख सौति में, पिय पै एकहि जाय॥

भारतीय समाज में प्राचीनकाल से ही गुरु शब्द अत्यन्त श्रद्धा, आदर और महत्त्व का परिचायक रहा है। रीतिकालीन कवि वृन्द तो गुरुजनों से हार जाने में भी अपनी प्रशंसा महसूस करतेहैं। उन्होंने कहा है –

है अयुक्त पै युक्त है, करियै बहै प्रमान।
बाह्न सौ गुरुजनन सों, हारे होत बखान॥

समाज में सबल या अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति का आदर सभी करते हैं। अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति के समक्ष सभी झुकते हैं। वृन्द कहते हैं –

सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय।
पवन जगावत आग कौ, दीपहिं देत बुझाय॥

व्यक्ति को आडम्बर छोड़ गुण-संग्रह की ओर ध्यान एकाग्र करना चाहिए। इस सन्दर्भ में कवि वृन्द कहते हैं कि अनेक घण्टियों से सजाने पर भी दूध-रहित गाय नहीं बिकती है –

आडम्बर तजि कीजियै, गुन संग्रह चित्त चाय।
छीर रहित न बिकै गउ, आनो घंट बंधाय॥

बनिये का पुत्र गढ़ यानी किला जीतने का रहस्य नहीं जान सकता है। इसलिए व्यक्ति को अपनी कुल-मर्यादा के अनुरूप ही आचरण एवं व्यवहार करना चाहिए –

कुल बल जैसौ होय सो, तैसी करिहै बात।
बनिक पुत्र जाने कहा, गढ़ लैबे की घात॥

4.2.4.3. राज्य नीति

राजा के आदर्श और कर्त्तव्य का उल्लेख करते हुए कविवर वृन्द कहते हैं कि न्यायप्रिय होना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य है। वैसे सभी यही कहते हैं कि जिस प्रकार चौपड़ के खेल में जैसा पासा पड़ता है, वैसा ही दाँव आता है, ठीक उसी प्रकार राजा जो करता है, वही न्याय होता है –

यहै बात सबही कहें, राजा करै सु न्याब।
ज्यौं चौंपर के खेल में, पासौ परै सु दांब॥

जिस तरह राजहंस में दूध का दूध और पानी का पानी करने की अद्‌भुत क्षमता होती है, ठीक उसी प्रकार राजा को न्यायप्रिय ओर विवेकशील होना चाहिए। इस आलोक में वृन्द कवि कहते हैं –

साँच झूठ निरनै करै, नीति-निपुन जो होय।
राजहंस बिन को करै, छीर नीर कौं दोय॥

राजा को उपकारी होना चाहिए। संसार सभी को भले या बुरे से याद करताहै। इस सन्दर्भ में दुर्योधन की दुष्टता और विक्रमादित्य का उपकार जगत्-प्रसिद्ध है। वृन्द कहते हैं –

सब काहू की कहत है, भली बुरी संसार।
दुर्योधन की दुस्ट ता, बिक्रम कौ उपकार॥

आदर्श राजा द्वारा अपने राजमार्ग पर चलने यानी कर्त्तव्य-निर्वहन व न्याय करने में किसी का कुछ बिगड़ भी जाता है तो राजा को खेद नहीं करना चाहिए। कवि वृन्द अपने मत की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि यदि राजपथ पर डाका पड़ जाए तो चलने वालों को कोई दोष नहीं देता –

न्याय करत बिगरै कछू, तो न करहु अफसोस।
धार परत जौ राजपथ, तो न देत कोउ दोस॥

राजा को प्रतापी और पराक्रमी होना चाहिए। राजा के बल व प्रताप से ही दुष्ट उसके राज्य में नहीं टिक पाते हैं। क्योंकि सूर्यरूपी राजा की उपस्थिति से अँधेरेरूपी दुष्ट को पलायन करना ही पड़ता है। वृन्द कहते हैं –

नृप प्रताप तैं देस मैं, रहै दुष्ट नहिं कोइ।
प्रगटें दिनेस कौं, तहाँ तिमिर नहिं होइ॥

जिस प्रकार कंटीली डाल का फल सुरक्षित रहता है, ठीक उसी प्रकार प्रजा भी तभी सुरक्षित रह पाती है जब राजा शक्तिशाली हो। कवि वृन्द कहते हैं –

रहै प्रजा धन यत्न सौं, जहं बांकी तरबार।
सो फल कोउ न लै सकै, जहाँ कटीली डार॥

राजा को नीति-सम्मत होना चाहिए। नीतिनिपुण राजाओं को अनीति शोभा नहीं देती। लेकिन, राजा अथवा बड़े लोग यदि कोई अनैतिक कार्य करते हैं तब भी कोई उन्हें बुरा नहीं मानता। कविवर वृन्द कहते हैं कि बालि को छिपकर मारने वाले श्रीराम को भजना किसी ने नहीं छोड़ा –

बड़े अनीति करैं तउ, बुरो कहै नहिं कोय।
बालि हन्यो अपराध बिनु, ताहिं भजै सब कोय॥

हालाँकि, नीतिविमुख राजा का राज्य देर तक नहीं टिकता। कवि वृन्द कहते हैं कि जिस तरह पुरुष कुपथ्य करने पर रोगी हो जाता है, ठीक उसी प्रकार राजा यदि अनीति करता है, नीति के विरुद्ध जाता है, मन्त्र प्रयोग यानी आदेश देना भी भूल जाता है तो वह सामर्थ्यहीन हो जाता है –

नृप अनीति के दोस तै, चूकै मन्त्र प्रयोग।
करै कुपथ ता पुरुष कौं, कौन न उपजै रोग॥

दण्ड-नीति के आलोक में वृन्द कहते हैं कि जिसका जैसा अपराध हो, उसको वैसा ही दण्ड मिलना चाहिए। कम अपराध के लिए ज्यादा और ज्यादा अपराध के लिए कम सजा नीतिसम्मत नहीं है –

जिहिं जैसो अपराध, तिहिं तैसे दण्ड बखानि।
थाप ककरिया चोर को, धन चोरहि जिय हानि॥

कहीं भी आक्रमण से पूर्व राजा को अपनी आत्मसुरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर लेना चाहिए। कवि वृन्द कहते हैं कि राजा को वहीं प्रवेश करना चाहिए जहाँ से निकलने का रास्ता भी मालूम हो। चक्रव्यूह में अभिमन्यु के जाने की दशा सारे संसार ने सुनी है –

करिए तह पैसार जहं, जो जानिए निसार।
चक्रव्यूह अभिमन्यु को, सुन्यो सबन संसार॥

कवि वृन्द का दृढ़ विश्वास है कि किसी भी उपाय से शत्रु को जीतना चाहिए, चाहे उसके लिए छल-बल का सहारा ही क्यों न लेना पड़े। वे सीख देते हैं कि छल-बल और अवसर देखकर शत्रु को अचानक ही नष्ट कर देना चाहिए। अश्वत्थामा ने रात्रि में अकेले ही पाण्डव-पुत्रों को मार दिया था। वृन्द कहते हैं –

छल बल समय बिचारि कै, अरि हनिए अनया।
कियौ अकेले द्रोन-सुत, निसि पांडव कुल नास॥

शत्रु को कभी छोटा नहीं समझना चाहिए। कवि वृन्द कहते हैं कि छोटा-सा अंगार क्षणभर में तिनके के ढेर को भस्म कर देता है। प्रेम, क्रोध अथवा किसी भी स्थिति में शत्रु का कभी विश्वास नहीं करना चाहिए –

अरि छोटौ गनिए नहीं, जाते होत बिगार।
तृन समूह कौं छिनक मैं, जारत तनक अंगार॥

लेकिन छोटे शत्रु को छोटे उपाय से ही साधना चाहिए। चूहे को शेर नहीं, अपितु बिल्ली ही मारती है। कवि वृन्द कहते हैं कि अपने से बलवान् शत्रु को यदि मारना हो तो बड़े व प्रभावी उपाय का इस्तेमाल करना चाहिए –

छोटे अरि को साधिए, छोटौ करि उपचार।
मरै न मूसा सिंह तैं, मारैं ताहि मजार॥

कवि वृन्द कहते हैं कि युद्ध करते समय धर्म-अधर्म, नीति-अनीति किसी की परवाह नहीं करनी चाहिए। केवल निडर रहकर शत्रु का सामना करना ही नीतिसम्मत है। वैसे भी महाभारत में अर्जुन और श्रीकृष्ण ने युद्ध की कौनसी रीति का पालन किया था –

छल बल धर्म अधर्म करि, अरि साधिए अभीति।
भारत में अरजुन किसन, कहा करी युध रीति॥

राज्य नीति के निहितार्थ भेद-नीति कहती है कि कई बार शत्रु को सीधी चुनौती न देकर कूटनीति से उन्हें आपस में लड़वाकर ही नष्ट कर देना चाहिए। वृन्द सीख देते हैं कि शत्रुओं में फूट डालो और फिर उनका नाश कर दो। श्रीकृष्ण ने यदुवंश का नाश ऐसे ही किया। जैसे वस्त्र व्यापारी धीरे-धीरे अधिक भाव वाला कपड़ा दिखाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी अधिक-से-अधिक मनुष्यों में फूट डालकर यदुवंश का नाश किया –

अधिक अधिक जन फोरि कै, कंस हत्यो ब्रजराज।
चढ़ते-चढ़ते मोल ज्यों, दरसें बसन बजाज॥

4.2.4.4. अर्थ नीति

कविवर वृन्द अर्थ-सम्बन्धी मूल्यों को भौतिक मूल्यों की संज्ञा प्रदान करते हैं। जीवनयापन में धन का बड़ा महत्त्व है। इसलिए जिस प्रकार से आजीविका चले, उसी प्रकार का अभ्यास करना चाहिए। वृन्द कहते हैं –

जासों निबहै जीविका, करिए सो अभ्यास।
वेस्या पालै सील तो, कैसे पूरे आस॥

कवि वृन्द कहते हैं कि वह सम्पत्ति किसी काम की नहीं है जिसे परिश्रम से अर्जित तो कोई करे लेकिन उसका उपभोग अन्य व्यक्ति करे –

वह सम्पत्ति किहि काम की, जनि काहु पै होय।
नीठ कमावै कष्ट करि, बिलसै औरहि कोय॥

धनार्जन के लिए गुणी होना आवश्यक है। केवल गुणी लोग ही सम्पत्ति अर्जित कर पाते हैं, गुणहीन नहीं। वृन्द कहते हैं कि यदि घड़ा गुणयुक्तयानी रस्सी से बँधा हुआ होता है तो वह पाताल यानी कुएँ से भी पानी निकाल लेता है। उन्होंने कहा है –

गुनबारौ सम्पत्ति लहै, लहै न गुन बिन कोइ।
काढ़े नीर पाताल तैं, जो गुन-जुत घट होइ॥

वृन्द अपरिग्रह के समर्थक हैं। मनुष्य में एक बार धन-संचय की प्रवृत्ति विकसित हो जाए तो फिर उसे कुछ और सूझता ही नहीं। निन्यानवे के फेर में पड़कर वह अपना जीवन निरर्थक कर लेता है। इसलिए वृन्द उपदेश करते हैं कि व्यक्ति को धन का संग्रह करने की बजाय उसे आवश्यक वस्तुओं पर खर्च करना चाहिए। और धन-रक्षण से मुक्त हो हरिनाम से प्रीति करनी चाहिए –

धन संच्यौं किहिं काम कौ, खाउ खरचु हरि प्रीति।
बंध्यौ गंधीलौ कूप जल, कढ़ै बढ़ै इहिं रीति॥

कविवर वृन्द यह भी कहते हैं कि कृपण व्यक्ति अपना धन न तो पारिवारिक आवश्यकताओं पर खर्च करते हैं और न ही परिजनों को उसका कोई सुख ही लेने देते हैं। जब चोर उनका संगृहीत धन लूटकर ले जाते हैं तब वे शहद लुट जाने पर मधुमक्खी की तरह हाथ मलते और पछताते रह जाते हैं –

खाय न खरचै सूम धन, चोर सबै लै जाय।
पीछे ज्यों मधुमच्छिका, हाथ मलै पछिताय॥

भारतीय चिन्तन-परम्परा में अर्थ को भौतिक-मूल्य की संज्ञा प्राप्त है। मनीषियों ने धन को केवल साधन-मूल्य के रूप में स्वीकार किया है। फिर भी यदि भौतिक आवश्यकताओं को पूर्ति न हो तो मानव के लिए साध्य

मूल्यों तक पहुँच पाना सम्भव नहीं है । कविवर वृन्द कहते हैं कि पेट की आग सबको व्याकुल कर देती है । किलकिला पक्षी भूख से व्याकुल होने पर जल और जलचरों का डर छोड़कर मछली पकड़ने के लिए समुद्र में घुस जाता है। उसी प्रकार अपना पेट भरने के लिए मनुष्य भी अपनी लोक-लाज, भय-चिन्ता त्याग कर नाना भाँति के उपाय करते हैं। नृत्य करते हैं, कथा-पुराण बाँचने का कार्य करते हैं, युद्ध करते हैं, सुकर्म-कुकर्म करते हैं –

उदर भरन के कारनै, प्रानी करत इलाज ।
नाचै बांचै रन भिरै, राचै काज अकाज ॥

यदि पेट न रहता तो कभी किसी को किसी के अधीन नहीं रहना पड़ता । निर्धन व्यक्ति पेट की वजह से ही धनवानों के अधीन रहकर अपना शीश झुकाते हैं –

दीन धनी आधीन ह्वै, सीस नवावत वाहि ।
मान भंग की भूमि यह, पेट दिखावत ताहि ॥

मानव-जीवन में अर्थ की अनिवार्यता एवं उसकी महत्ता निर्विवाद है । लेकिन साथ ही यह भी प्रसिद्ध है कि लक्ष्मी चंचला होती है । यह कभी स्थिर नहीं रहती । वृन्द कहते हैं कि धन और गेंद के खेल का स्वभाव एक जैसा है। ये एक क्षण में अपने हाथ में प्रतीत होते हैं जबकि दूसरे ही क्षण हाथ से निकल जाते हैं –

धन अरु गेंद जु खेल कौं, दोउ एक युभाय।
कर में आवत छिनक मैं, छिन मैं कर तैं जाय ॥

व्यक्ति को धन और यौवन पर कभी गर्व नहीं करना चाहिए । क्योंकि दोनों ही बादल की छाँह की तरह देखते ही देखते मिट जाते हैं। इस सन्दर्भ में कवि वृन्द ने कहा है –

धन अरु जोबन को गरब, कबहूँ करिये नाहिं ।
देखत ही मिट जात है, ज्यों बादर की छांहि ॥

सामर्थ्यवान् और धनवान् व्यक्ति को ज़रूरतमंद व्यक्ति की सहायता अवश्य करनी चाहिए। लेकिन दान देने से पहले परख कर लेनी चाहिए कि क्या वाकई यह प्राणी दान का पात्र है। जिसे आवश्यकता नहीं है, जो पहले से तृप्त है और जिसने भिक्षा को अपनी आजीविका बना लिया है उसे दान देना व्यर्थ है –

दान दीन को दीजिए, मिटै दरिद की पीर ।
औषध वाको दीजिये, जाके रोग सरीर ॥

4.2.4.5. धार्मिक नीति

धार्मिक चेतना के आलोक में कविवर वृन्द प्रभुनाम-स्मरण और प्रभुमहिमा का बखान मुक्त कण्ठ से करते हैं । उन्होंने 'नीति सतसई' का प्रारम्भ श्रीगुरुनाथ वन्दना से किया है । उल्लेखनीय है कि वृन्द ने प्रभु-कृपा को

गुरुनाथ की संज्ञा प्रदान की है। उनके अनुसार प्रभु की कृपा से मनोरथ वैसे ही पूरे हो जाते हैं जैसे कि बादल के प्रभाव से वृक्ष, बेल, फल-फूल बढ़ जाते हैं –

श्री गुरुनाथ प्रभाव तैं, होत मनोरथ सिद्धि।
घन तैं ज्यौं तरु बेलि दल, फूल फलन की बुद्धि॥

भगवद्भक्ति ही सारतत्त्व है। मूर्ख लोग इस तथ्य से अनजान होकर भगवान् की भक्ति छोड़कर विषय-रस का आनन्द खोजते हैं। वृन्द कहते हैं –

हरि रस परिहरि विषय रस, संग्रह करत अयान।
जैसे कोउ करत है, छांड़ि सुधा बिस पान॥

कवि वृन्द की दृष्टि में हरिनाम का ऐसा प्रभाव है कि एक बार जपने से व्यक्ति के करोड़ों पाप ठीक उसी प्रकार धुल जाते हैं जैसे आग की एक चिंगारी से ही घास का ढेर जल जाता है –

जपत एक हरिनाम तैं, पातक कोटि बिलाय।
एक ही कनिका आगि तैं, घास ढेर जरि जाय॥

वृन्द वैसे लोगों को धिक्कारते हैं जो प्रभु से प्रीति छोड़कर दूसरों से प्रेम करता है। स्वयं को प्रभुचरणों में समर्पित करते हुए वे कहते हैं कि भगवान् के हाथ में ही बाजा है, वह चाहे जैसा बजावे –

जो चाहौ सोई करौ, मेरो कछु न कहाव।
जंत्री के कर जंत्र है, भावै सोइ बजाव॥

कविवर वृन्द व्रत, सत्संग, तीर्थ-यात्रा, यज्ञ आदि धार्मिक उपादानों का महत्त्व स्वीकार करते हैं। उनका तर्क है कि ये सारे उपक्रम उच्चतर शक्ति अथवा ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए किए जाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में उन्होंने कहा है कि धर्म, वेद-पुराण आदि नीतिसम्मत बातों को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए। जो लोग ऐसा नहीं करते, वे अज्ञानी हैं –

इस लच्छन तैं जानिये, उर अग्यान निबास।
उंघे कथा पुरान सुनि बिकथा सुनै हुलास॥

4.2.4.6. आध्यात्मिक नीति

आत्मा-परमात्मा विषयक चिन्तन के आलोक में कवि वृन्द की प्रबल धारणा है कि उस परम परमात्मा को सबकी चिन्ता है इसलिए मनुष्य को अपनी चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह ईश्वर तो जीव के प्रति इतना चिन्तातुर है कि शिशु के जन्म से पहले ही माता के स्तन में दूध भर देता है –

प्रभु को चिन्ता सबन की, आपु न करिये ताहि ।
जनम अगाउ भरत है, दूध मातु थन मांहि॥

मन की चिर स्थायी अतृप्ति और चंचलता को इंगित करते हुए वृन्द कवि सचेत करते हैं कि तन तो रूखा-सूखा खाकर भी सन्तुष्ट हो जाता है, लेकिन मन लाखों-करोड़ों पाकर भी प्रसन्न नहीं होता –

रुखे सूखे उदर कौं, भरै होतु संतुष्ट।
ये मन लाख करोर के, पायें तुष्ट न दुष्ट ॥

वृन्द सांसारिक माया-मोह को घटाटोप अन्धकार मानते हैं। जिस प्रकार सूर्य के उदित होने पर अन्धकार स्वयमेव नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान का उदय होने पर सांसाख्कि माया-मोहरूपी अन्धकार भी छँट जाता है –

मोह महा तम रहत है, जौं लौं ग्यान न होत ।
कहा मत-तम रहि सकै, आदित भए उदोत ॥

वृन्द कहते हैं कि व्यक्ति रोज देखता है कि संसार क्षणभंगुर है, लोग लगातार नष्ट हो रहे हैं। फिर भी वह सांसारिक बन्धन में लिप्त रहता है। यह वस्तुतः उस माया का भुलावा है जिसके जाल में मनुष्य फँसा रहता है –

देखत है जग जातु है, तउ ममता सों मेल ।
जानतु हौं या जगत मैं, देखत भूलौ खेल ॥

इस मायने में माया को समझना और उससे बाहर निकल कर आत्मा-परमात्मा को पहचानना ही सच्चा ज्ञान और अध्यात्म है। वृन्द इस संसार को भेड़-चाल कहते हैं। यहाँ हर कोई देखा-देखी बात करता है, वास्तविक तत्त्व पर कोई विचार नहीं करता। सब लोग भेड़ की तरह एक-दूसरे की देखा-देखी पर्वत पर चढ़ जाते हैं और एक-दूसरे की देखा-देखी खाई में उतर जाते हैं –

देखा देखी करत सब, नाहिंन तत्व विचार ।
याकौ यह अनुमान है, भेड़ चाल संसार॥

सांसारिक सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवण-मरण, यश-अपयश, हर्ष-शोक, जय-पराजय दिन और रात की तरह अस्थायी हैं। कवि वृन्द का मानना है कि जिस प्रकार दिन और रात का चक्र निरन्तर चलता रहता है, ठीक उसी प्रकार जीवन में सुख और दुःख आते-जाते रहते हैं –

सुख बीते दुःख होत है, दुःख बीते सुख होत ।
दिवस गए ज्यों निसि उदित, निसि त दिवस उदोत ॥

हर काम का अपना समय होता है। इसलिए व्यक्ति को अपना धैर्य नहीं खोना चाहिए। वृन्द कहते हैं कि अधीर होने से कोई फायदा नहीं है, क्योंकि समय आने पर ही पेड़ पर फल लगता है, चाहे उसे कितना ही पानी से सींचते रहो –

कारज धीरे होत है, काहै होत अधीर।
समय पाव तरुवर फरै, केतिक सींचौ नीर॥

अपनी दुरावस्था को लेकर पछतावा नहीं करना चाहिए, क्योंकि सदैव एक-सी दशा किसी की भी नहीं रहती। सूर्य की भी एक दिन में तीन दशाएँ होती हैं –

एक दसा निबहै नहीं, जनि पछितावहु कोय।
रवि हू की एक दिवस में, तीन अवस्था होय॥

भाग्य, समय तथा होनी की प्रबलता कोई नहीं जान सका है। होनी की प्रबलता में कविवर वृन्द का दृढ़ विश्वास है। इस सन्दर्भ में वे कहते हैं कि जाने वाली वस्तु चली जाती है और होनी होकर रहती है। किसी ने सोचा भी नहीं था कि रावण जैसे महाबलशाली के हाथों से लंका का राज-पाट चला जाएगा और विभीषण उसे प्राप्त कर लेगा –

जानहार सो जाय अरु, होनहार है आय।
रावन तै लंका गई, वसै विभीषन पाय॥

कविवर वृन्द का दृढ़ विश्वास है कि भाग्य का लिखा कभी मिटता नहीं है। जिसका निर्माण हुआ है उसका विनाश भी निश्चित है। भासित उत्तरोत्तर वृद्धि निकट भविष्य में समापन की भी प्रतीक है। चन्द्रमा की कला ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों वह अधिक कलंकी भी होता जाता है। उन्होंने कहा है –

तन तैं अवगुण होत है, लिखे मिट नहिं अंक।
बढ़ति जाति ज्यों ज्यों कला, त्यों त्यों ससि कलंक॥

व्यक्ति को सदैव सकारात्मक सोच रखनी चाहिए। व्यक्ति जिस तरह का भाव रखता है धीरे-धीरे उसकी प्रवृत्ति वैसी ही बनती चली जाती है। कर्म में उत्साहपूर्वक प्रवृत्त होने पर परिणाम भी उत्साहजनक होता है। जिसका जैसा भाव होता है वह वैसा ही फल पाता है –

देव सेव फल देत है, जाको जैसी भाय।
जैसैं मुख करि आरसी, देखौ सोइ दिखाय॥

4.2.4.7. सांस्कृतिक नीति

भारतीय संस्कृति प्रेम की महत्ता प्रतिपादित करती है। इस आलोक में वृन्द का मानना है कि समझदार लोग प्रीति के कारण कभी अलग नहीं होते। यहाँ तक कि अचेतन लोहा भी चुम्बक के पीछे-पीछे लगा रहता है। प्रेम सुख का हेतु है और सज्जनता से ही प्रेम का उद्‌भव हो सकता है। जहाँ सज्जनता है, वहाँ प्रेम है और जहाँ प्रेम है, वहाँ सुख है। प्रेम छोटा या बड़ा नहीं देखता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रेमवश ही दुर्योधन का राजसी भोजन त्याग कर विदुर के यहाँ भोजन किया। कवि वृन्द कहते हैं –

कहा बड़े छोट कहा, जहं हित तंह चित लागि।
हरि भोजन किय बिदुर घर, दुरजोधन कौं त्यागि॥

पाप-पुण्य की अवधारणा में कवि वृन्द की घोर आस्था है। उनके अनुसार प्रारब्ध के प्रताप से परिश्रम के बिना भी सुख मिलता है। लेकिन किस्मत में न हो तो हाड़-तोड़ मेहनत करने के बाद भी दुःख ही मिलता है। पूर्व जन्मों के कर्मफल के प्रति विश्वास प्रकट करते हुए वृन्द कहते हैं –

अनउद्यम सुख पाइए, जो पूरब कृत होय।
दुःख का उद्यम को करत, पावत है नर सोय॥

पूर्व जन्मों में दिया हुआ ही इस जन्म में मिल रहा है और इस जन्म में दिया हुआ ही अगले जन्मों में मिलेगा। जिसने पूर्व जन्मों में कुछ नहीं दिया है, वह इस जन्म में कैसे कुछ पाएगा ! और जो इस जन्म में कुछ नहीं दे रहा है, अगले जन्मों में भी कैसे कुछ पा सकेगा ! वृन्द कहते हैं कि इस दृष्टि से सोचो कि किस सयाने ने धन कमाया है तथा किस मूर्ख ने खो दिया है –

मिलै दियो पूरब जनम, न दिए न मिलै सोइ।
कौन सयाने धन कियो, किन आयन दियो खोई॥

कविवर वृन्द मानना है कि अवस्था से किसी की पूजा नहीं होती, अपितु गुण महत्त्वपूर्ण होता है। युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ में बड़े-बड़े लोगों को छोड़कर भगवान् श्रीकृष्ण को तिलक किया –

पूजनीक गुन तैं पुरुष, बयस न पूजित होय।
यज्ञ तिलक किय कृष्ण को, छांड़ि बड़े सब कोय॥

कविवर वृन्द काम को विषय-रस मानकर उसे विषतुल्य कहते हैं। उन्होंने कहा है कि मूर्ख व्यक्ति प्रभुभक्ति को छोड़कर विषय-रस का इस प्रकार से संग्रह करते हैं जैसे कोई अमृत छोड़कर जहर पीता हो –

हरि रस परिहरि विषय रस, संग्रह करत अयान।
जैसे कोउ करत है, छांड़ि सुधा बिस पान॥

लालच बुरी बला है। व्यक्ति को लालच प्रवृत्ति से बचना चाहिए। लेकिन चूँकि व्यक्ति आशान्वित होकर लोभ कर बैठता है इसलिए कवि वृन्द कहते हैं कि वह लालच तो फिर भी ठीक है जहाँ आशा पूरी होने की गुंजाइश हो। केवल ओस चाटने से कब किसी की प्यास बुझी है। उन्होंने कहा है –

लालच हू ऐसे भलो, जासों पूरे आस।
चाटेहूँ कहुँ ओस के, मिटै काहु की प्यास॥

सन्तोष ही परम सुख है। भारतीय संस्कृति में सन्तोष की महिमा का गुणगान किया गया है। सन्तोष का बखान करते हुए कवि वृन्द कहते हैं कि साँप का पोषण हवा से होता है फिर भी वह दुर्बल नहीं होता। सन्तुष्टि मुख्य है। वह किसी थोड़े में भी हो सकती है जबकि अन्य को अधिक पाकर भी नहीं हो सकती। सच तो यह है कि सन्तोष रखने से सब प्रकार का सुख स्वतः ही मिलता है –

सब सुख है सन्तोष मैं, धरिये मन सन्तोष।
नेक न दुर्बल होत है, सर्प पवन के पोष।

व्यक्ति को अशान्त न होकर सन्तोषी होना चाहिए। जो कुछ भाग्य में है वही मिलेगा ही। व्यक्ति को अपना कर्म करते रहना चाहिए, फल की इच्छा त्याग देनी चाहिए। गरीब आदमी परिश्रम करके सन्तोष धारण करता है और सामान्य साधनों में भी प्रसन्न रहता है। वृन्द कहते हैं –

जिय सन्तोष बिचारिये, होय जु लिख्यौ नसीब।
खल गुर काच कथीर सौं, मानत रली गरीब॥

प्रमुख चारित्रिक गुणों में एक गुण है– सत्यनिष्ठा। भारतीय साहित्यकारों और महापुरुषों ने अपने जीवन में सत्य को अपनाया और हमेशा एक मत से सत्य की वकालत की है। कविवर वृन्द भी सदैव सत्य बोलने का उपदेश करते हैं। सत्य की महिमा अकथनीय है। संसार में लोग सत्यवक्ता पर ही विश्वास करते हैं–

सत्य बचन मुख जो कहत, ताकी चाह सराह।
गाहक आबत दूर तें, सुनि इक सब्दी साह॥

हालाँकि, सत्यवचन की प्रतिष्ठा करते हुए कविवर वृन्द अप्रिय सत्य के पक्षधर नहीं हैं। उनके अनुसार यदि थोड़े झूठ से किसी निरीह या अबला का संकट कट रहा हो तो उसे बोलने में भी कोई हानि नहीं है किन्तु यह झूठ ऐसा हो जिससे किसी की हानि न हो –

झूठ बिना फीकी लगै, अधिक झूठ दुःखभौन।
झूठ तितौ ही बोलियै, ज्यौं आटे में लौन॥

नीति कहती है कि बड़े लोग जो उपदेश करते हैं उसका पालन किया जाय। वे स्वयं क्या करते हैं यह महत्त्वपूर्ण नहीं है –

बड़े कहैं सो कीजिए, करैं सो करिए नाहिं।
हर ज्यों पंचन में फिरैं, और जो बिकत कहाहिं॥

4.2.5. वृन्द का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

नीति शब्द के कई अर्थ हैं। आचार्य विश्वनाथ मिश्र के अनुसार जीवन के विविध क्षेत्रों में चलने के लिए जो सिद्धान्त-नियम उपयोगी होते हैं, उन सबकी संज्ञा 'नीति' हो जाती है। लेकिन मानव-जीवन के अनेक क्षेत्रों के मार्गोपदेशक नियम विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों के व्यावहारिक ज्ञान से बनते हैं। हिन्दी साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में नीतिकार कई प्रकार के हैं। उदाहरण के तौर पर सन्त लोग भी नीति की बातें कहते हैं। साथ ही लोकानुभव को अभिव्यक्त करने के लिए भी नीतिसम्मत बातें कही गई हैं। इस दृष्टि से रीतिकालीन परम्परा में मूल्य-चेतना की प्रतीति बहुआयामी है जहाँ मानव-जीवन के आचरण एवं व्यवहार को श्रेष्ठ व समाजोपयोगी बनाने की चेष्टा लगभग हर नीतिकार ने की है। अस्तु, कविवर वृन्द कोरे नीति के रचयिता नहीं हैं। उन्होंने रसोक्ति और वक्रोक्ति वाली भी कुछ रचनाएँ की है। नीतिपरक रचनाओं के सन्दर्भ में उनका काव्य तत्युगीन गिरिधरदास, बेताल आदि की रचनाओं से सर्वथा पृथक् है। कविवर वृन्द दीनदयाल गिरि के साथ रखे जा सकते हैं। समवेततः कविवर वृन्द के नीतिकाव्य की विशेषता यह है कि उसमें उलझनें प्रायः नहीं के बराबर हैं। मानव के वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक जीवन-क्षेत्रों में उनकी नीति-सम्मत बातें अपने आप में ही साधन और साध्य, नित्य और अनित्य, सनातन और नूतन, सबकुछ समेटे हुए हैं जहाँ सत्य, साहस, पराक्रम, सज्जनता, परोपकार, क्षमा, दया, निष्पक्षता आदि उदात्त मानवीय मूल्यों का महत्त्व, प्रासंगिकता एवं अनुकरण हर जगह व हर परिवेश में असंदिग्ध है।

4.2.6. पाठ सार

हिन्दी साहित्य की सुदीर्घ परम्परा में गोस्वामी तुलसीदास के दोहों के बाद रीतिकालीन कवि वृन्द के नीति सम्बन्धी दोहे सर्वाधिक प्रचलित हैं। लौकिक जीवन के सूक्ष्म व्यापारों का सुन्दर एवं प्रभावी चित्रण उनके नीतिकाव्य में सहज ही अनुभूत है। आचरण एवं व्यवहार में उनकी रचनाओं की उपादेयता इस मायने में है कि उनसे चरित्र-निर्माण का सम्बल मिलता है। वृन्द का नीतिकाव्य मानव-कल्याण एवं जीवन-मूल्यों की दृष्टि से उदात्त एवं श्रेष्ठ मूल्यों के अनुपालन की सीख देता है। युगीन मानसिकता के अनुरूप वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक मूल्यों में अपेक्षित व अनिवार्य परिवर्तनों को भी उन्होंने दृढ़तापूर्वक उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया है। इस प्रकार सत्य और शाश्वत मानवीय जीवन-मूल्यों के अभिप्रेरक और लोकमंगल के प्रबल आकांक्षी रीतिकालीन कवि वृन्द रचनात्मक मायने में मानवता के पुजारी हैं।

4.2.7. कठिन शब्दावली

अचल	:	पर्वत
ससि	:	चन्द्रमा
तिमिर	:	अन्धकार
आरसी	:	दर्पण
आयन	:	मूर्ख
माजार	:	बिल्ली
लौन	:	नमक

4.2.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. शर्मा, डॉ॰ सुधीर, वृन्द : व्यक्तित्व और कृतित्व, स्वराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. चलेर, डॉ॰ जनार्दन राव, वृन्द और उनका साहित्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.
3. नेगी, डॉ॰ संजीव सिंह रीतिकालीन नीतिकाव्य की सामाजिक भूमिका, नवराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. चतुर्वेदी, डॉ॰ रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. शर्मा, डॉ॰ शिवकुमार, हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. डॉ॰ नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

4.2.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. वृन्द का व्यक्तित्व।
2. वृन्द की रचनाएँ।
3. वृन्द की युगीन चेतना एवं मानव जीवन-दर्शन।
4. वृन्द के नीतिकाव्य का सामाजिक पक्ष।
5. वृन्द की आध्यात्मिक नीति।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "वृन्द के नीतिकाव्य में मानव-जीवन के वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों की सुन्दर एवं प्रभावी अभिव्यंजना हुई है।" स्पष्ट कीजिए।
2. "वृन्द अपनी रचनाओं में युगीन मानसिकता के अनुरूप मूल्यों में परिवर्तन को भी उद्घाटित करते हैं।" रीतिकालीन नीतिकाव्य-परम्परा के आलोक में इस कथन की समीक्षा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'बारहमासा' के रचनाकार हैं –
   (क) बिहारी
   (ख) केशवदास
   (ग) रहीम
   (घ) वृन्द

2. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार वृन्द कहाँ के रहने वाले थे ?
   (क) मेड़ता
   (ख) किशनगढ़
   (ग) जयपुर
   (घ) बीकानेर

3. वृन्द के अन्तिम आश्रयदाता हैं –
   (क) महाराज जसवन्तसिंह
   (ख) नरेश राजसिंह
   (ग) महाराजा प्रतापसिंह
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. वृन्द रचित 'भावपंचाशिका' की विषयवस्तु है –
   (क) शृंगारपरक
   (ख) धार्मिक व आध्यात्मिक
   (ग) नीतिपरक
   (घ) उपर्युक्त सभी

5. "गुनबारौ सम्पत्ति लहै, लहै न गुन बिन कोइ" – उक्त कथन किसका है ?
   (क) दीनदयाल गिरि
   (ख) वृन्द
   (ग) घाघ-भड्डरी
   (घ) बिहारीलाल

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतिकालीन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 3 : घाघ-भड्डरी के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

4.3.0. उद्देश्य कथन
4.3.1. प्रस्तावना
4.3.2. घाघ-भड्डरी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  4.3.2.1. व्यक्तित्व
  4.3.2.2. कृतित्व
4.3.3. घाघ-भड्डरी का युगबोध एवं मानव-दर्शन
4.3.4. घाघ-भड्डरी का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  4.3.4.1. वैयक्तिक नीति
  4.3.4.2. सामाजिक नीति
  4.3.4.3. अर्थ नीति
  4.3.4.4. कृषि व वर्षा ऋतु सम्बन्धी नीति
  4.3.4.5. राज्य नीति
  4.3.4.6. सांस्कृतिक नीति
4.3.5. घाघ-भड्डरी का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
4.3.6. पाठ सार
4.3.7. कठिन शब्दावली
4.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.3.9. बोध प्रश्न

4.3.0. उद्देश्य कथन

प्रस्तुत इकाई रीतिकालीन नीतिकवियों 'घाघ-भड्डरी' के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. घाघ-भड्डरी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से परिचित हो सकेंगे।
ii. घाघ-भड्डरी की युगीन चेतना एवं मानव जीवन-दर्शन को समझ सकेंगे।
iii. घाघ-भड्डरी के नीतिकाव्य में निहित सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन-मूल्यों का अनुशीलन कर सकेंगे।

iv. रीतिकालीन परम्परा की मूल्य-चेतना के आलोक में घाघ-भड्डरी के उल्लेखनीय योगदान की चर्चा कर सकेंगे।

4.3.1. प्रस्तावना

हम एक ऐसे पुरातन देश का हिस्सा हैं जिसमें मूल्य एवं आदर्श प्राचीनकाल से जीवन के अनिवार्य अवयव हैं, और जिन्हें केवल दोबारा कहे जाने और पुनः सुशोभित किए जाने की आवश्यककता है। इस सन्दर्भ में रीतिकालीन नीति कवियों में घाघ-भड्डरी के काव्य की उपादेयता असंदिग्ध है। घाघ-भड्डरी का काव्य भारतीय कृषकों के लिए कितना उपयोगी है, इसका अंदाज़ा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के इस कथन से लगाया जा सकता है – "हिन्दी भाषा जनता के सलाहकार प्रधानतः तीन ही रहे हैं – तुलसीदास, गिरिधर कविराय और घाघ। तुलसी धर्म और अध्यात्म के क्षेत्र में, गिरिधर कविराय व्यवहार और नीति के क्षेत्र में, घाघ खेती-बाड़ी के सम्बन्ध में।" घाघ-भड्डरी की कहावतें कृषक समाज में अत्यन्त लोकप्रिय रही हैं। प्रसिद्ध कवि रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार "घाघ-भड्डरी की नीति सम्बन्धी कहावतें भी बड़ी मजेदार हैं। छोटे-छोटे मन्त्रों में बड़े-बड़े अनुभवों के गूढ़ तत्त्व भर दिए हैं। उनमें किसानों के जीवन के अनेक सुखों और दुःखों के जीते जागते चित्र हैं।"

4.3.2. घाघ-भड्डरी : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

घाघ-भड्डरी रीतिकालीन नीतिकाव्य के उल्लेखनीय कवि हैं। उनके नीतिकाव्य में मानवीय सदाचरण एवं नैतिक जीवन-मूल्यों की कई विशेषताएँ एक साथ उपलब्ध हैं। विचार में बहुत शक्ति होती है। जब अभिव्यक्ति को मानव-कल्याण पर केन्द्रित किया जाता है तो विचार अधिक दुर्जेय हो जाते हैं। सही से व्यक्त तथा साझा किये गए विचार मानवीय समस्याओं को उचित तरीके से उठाते हैं और अनुपालन हेतु सदैव अभिप्रेरित करते हैं। इस दृष्टि से घाघ-भड्डरी के विचार और उनका काव्य जनोपयोगी और प्रासंगिक सिद्ध होता है।

4.3.2.1. व्यक्तित्व

घाघ-भड्डरी के जीवनवृत्त के बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वान घाघ-भड्डरी को अलग-अलग नहीं मानते हैं। जबकि पण्डित रामनरेश त्रिपाठी घाघ को कन्नौज का निवासी मानते हैं और कुछ विद्वानों ने भड्डरी को काशी के आस-पास का तो अन्य विद्वानों ने मारवाड़ का निवासी भी बताया है। घाघ का जन्मकाल वि.सं. 1753 माना गया है। वे कब तक जीवित रहे, इस बारे में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। रामनरेश त्रिपाठी के अनुसार घाघ पहले-पहल हुमायूँ के राजकाल में गंगापार के रहने वाले थे तथा उसके बाद वे हुमायूँ के दरबार में गए। तदोपरान्त अकबर के साथ ही रहने लगे। एक बार अकबर ने उन पर बहुत खुश होकर कहा कि – "अपने नाम का कोई गाँव बसाओ।" इस प्रकार घाघ ने वर्तमान 'चौधरी सराय' नामक गाँव बसाया और उसका नाम 'अकबराबाद सराय घाघ' रखा। अब भी सरकारी कागजातों में उस गाँव का नाम 'सराय घाघ' ही लिखा जाता है। 'सराय घाघ' कन्नौज शहर से एक मील दक्खिन और कन्नौज स्टेशन से तीन फ़र्लांग पश्चिम में है। घाघ जाति के दुबे ब्राह्मण थे। मार्कण्डेय दुबे और धीरधर दुबे घाघ के दो पुत्र माने जाते हैं। दूसरी ओर भड्डरी

के बारे में प्रामाणिक तौर पर कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। एक मान्यता के अनुसार घाघ और भड्डरी वराहमिहिर के पुत्र स्वीकार किए जाते हैं। हालाँकि, भाषा को देखते हुए घाघ या भड्डरी, दोनों में से किसी को भी वराहमिहिर का पुत्र नहीं माना जा सकता। सत्य चाहे जो हो, लेकिन इतना अवश्य है कि घाघ और भड्डरी का व्यक्तित्व आदर्श एवं नैतिक मानवीय मूल्यों से अभिप्रेरित अवश्य रहा होगा। भड्डरी के बारे में रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं कि "वे काशी के आस-पास के रहने वाले थे या मारवाड़ के, यह एक विचारणीय प्रश्न है, क्योंकि भड्डरी की भाषा में मारवाड़ी शब्दों के प्रयोग बहुत मिलते हैं तथा उनकी रचनाओं में युक्तप्रान्त और बिहार की ठेठ बोली के शब्द भी मिलते हैं। इससे अनुमान लगाया जाता है कि या तो भड्डरी और भड्डली नाम के दो व्यक्ति हुए होंगे या एक ही भड्डरी युक्तप्रान्त से मारवाड़ में जा बसे होंगे और उन्होंने यहाँ और वहाँ दोनों प्रान्तों की बोलियों में अपने छन्दों का निर्माण किए होंगे।"

4.3.2.2. कृतित्व

घाघ-भड्डरी की रचनाओं के सन्दर्भ में डॉ॰ भोलानाथ तिवारी मत है – "घाघ की कोई लिखी पुस्तक नहीं मिलती। घाघ के नाम पर जनता में प्रचलित शकुन, खेती तथा आचार-नीति सम्बन्धी बड़ी ही सटीक तथा अभूतपूर्व बातें छन्दबद्ध सरल भाषा और सीधी शैली में कही गई हैं।" उल्लेखनीय है कि पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने जनप्रचलित घाघ-भड्डरी की कहावतों का संकलन व सम्पादन किया है। वे लिखते हैं – "घाघ की जो कहावतें इस पुस्तक में दी गई हैं, वे सभी घाघ की बनायी हुई हैं, इस बात का कोई प्रमाण नहीं है। घाघ ने कोई पुस्तक लिखी थी या वे जुबानी कहावतें कहा करते थे, इसका भी कुछ पता नहीं है। यह भी सम्भव है कि कुछ कहावतें घाघ ने कही हो और कुछ उसके बाद के लोगों ने बनाकर उनके नाम से प्रचलित कर दी हों।" भड्डरी की रचनाओं के बारे में पण्डित रामनरेश त्रिपाठी लिखते हैं – "उनकी एक छोटी-सी पुस्तिका छपी हुई मिलती है जिसका नाम 'शकुन विचार' है। लेकिन वह इतनी अशुद्ध है कि कितने ही स्थानों पर उसको समझना कठिन है। वैसे राजपूताने में भड्डली की एक पुस्तक 'भड्डली पुराण' के नाम से प्रसिद्ध है।"

4.3.3. घाघ-भड्डरी का युगबोध एवं मानव-दर्शन

घाघ-भड्डरी की प्रसिद्धि कृषि, व्यवहार और नीति सम्बन्धी कहावतों की वजह से है। उनकी कहावतें आमजन में खासी प्रचलित एवं लोकप्रिय रही हैं। मानवीय जीवन की व्यावहारिक एवं कृषि जगत् की नीतियों को अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट शब्दों में कहना घाघ-भड्डरी की कहावतों का वैशिष्ट्य है। उनकी कहावतों में ज्ञान, सज्जन, धन, बुद्धि, समाज, नारी, पुत्र, कृषि, ऋतु आदि सभी विषयों पर ज्ञानोक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। बिहारीलाल, वृन्द, दीनदयाल गिरि आदि तत्युगीन नीतिकारों की भाँति घाघ-भड्डरी नीतिकाव्योचित अलंकारों द्वारा अपने छन्दों में प्रभविष्णुता लाने का प्रयास नहीं करते हैं, तथापि वे उनका काव्य-सौन्दर्य न्यून नहीं आँका जा सकता। रीतिकालीन काव्य-परम्परा अपनी प्रकृति में ऐहिक ओर लौकिक है। घाघ-भड्डरी का काव्य भी युगीन चेतना एवं मानव जीवन-दर्शन की व्यापकता में जीवन की यथार्थ एवं कटु अनुभूतियों को समेटने का प्रयास करता है।

4.3.4. घाघ-भड्डरी का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

घाघ-भड्डरी की कहावतों में दृश्यमान और विद्यमान संसार की ज़रूरतों को आधार बनाया गया है। लोक में नीति-शिक्षा की आवश्यकता सबसे अधिक होती है। घाघ-भड्डरी की कहावतें बिहार, मध्यप्रदेश और युक्तप्रान्त से लेकर सारे राजपूताना और पंजाब तक जन-जन का कण्ठहार बनी हुई हैं। उनकी कहावतों में मानव-जीवन के वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक (आदर्श राज्य एवं राजा), कृषि एवं पर्यावरण व सांस्कृतिक मूल्यों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

4.3.4.1. वैयक्तिक नीति

वैयक्तिक नीति के आलोक में कवि घाघ-भड्डरी ने विशेष तौर पर शारीरिक स्वास्थ्य के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। घाघ के अनुसार अपनी भूख से कम खाने वाला व्यक्ति सदैव नीरोगी और सुखी रहता है। वे शरीर को स्वस्थ और नीरोग रखने के लिए सलाह देते हैं –

रहै नीरोगी जो कम खाय। बिगरै काम न जो गम खाय॥

यदि व्यक्ति सुबह चारपायी से उठकर तुरन्त पानी पी लेता है तो वह कभी बीमार नहीं होता है। इस परिप्रेक्ष्य में कवि घाघ अपने अनुभव से नीतिसम्मत सीख देते हैं –

प्रात काल खटिया ते उठि कै पिअइ तुरंतै पानी।
कबहूँ घर में बैद न अइहैं बात घाघ कै जानी॥

अगर कोई व्यक्ति खाना खाने के उपरान्त मूत्र-त्याग का अभ्यास बना ले और तदुपरान्त कुछ देर के लिए बायीं करवट लेट कर विश्राम कर ले तो पूरे गाँव में कभी वैद्य की आवश्यकता नहीं रहती है। इस सन्दर्भ में घाघ-भड्डरी कहते हैं –

खाई कै मूतै सूतै बाउं। काहे क बैद बसावै गाउं॥

जो व्यक्ति कभी-कभार डण्ड-बैठ करता है, ताल में स्नान करता है, ओस में सोता है, उसे देव नहीं मारता, अपितु वह स्वयं ही काल का ग्रास बन जाता है। इस प्रकार कवि घाघ-भड्डरी ताल में नहाने और ओस में सोने वालों को चेतावनी देते हैं –

अन्तरे खोंतरे डंडे करै, तालु नहाय ओस मा परै, दैव न मारै अपुवइ मरै॥

खान-पान के आलोक में कवि घाघ का मानना है कि चैत्र में गुड़, बैसाख में तेल, जेठ में राह, आषाढ़ में बेल, सावन में साग, भादों में दही, क्वार व अश्विन में करेला, कार्तिक में मट्ठा, अगहन व मार्गशीर्ष में जीरा, पौष में धनिया, माघ में मिश्री और फाल्गुन में चने का सेवन नहीं करना चाहिए। उन्होंने कहा है –

चैत गुड़ वैसाखे तेल। जेठ क पंथ असाढ़ क बेल॥
सावन साग न भादों दही। क्वार करेला कातिक मही॥
अगहन जीरा पूसे घना। माघे मिश्री फागुन चना॥

शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति सचेत करते हुए घाघ कहते हैं कि जो व्यक्ति माघ मास बिना ही घी और खिचड़ी खाता है तथा बिना मौसम के पौला पहनता है, वह कौअे के समान होता है। व्यक्ति को ऐसी प्रवृत्ति से बचना चाहिए –

बिना माघ घी खीचड़ खाय। बिन गौने ससुरारी जाय॥
बिना ऋतु के पहिरै पउवा। घाघ कहै ई तीनौ कौआ॥

व्यक्ति को मृदुभाषी होना चाहिए। घाघ-भड्डरी स्वभाव में मृदुलता और विनम्रता को आवश्यक मानते हैं। कर्कशा स्त्री को सबसे बड़ी विपत्ति मानते हुए कवि घाघ कहते हैं –

तिरिया कलही करकस होइ। नियरा बसल दुहट सब कोइ॥

समय सबसे मूल्यवान् है। व्यक्ति को अपना समय व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए। समय की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए घाघ भली-भाँति यह स्वीकार करते हैं कि जो सबसे पहले खेत बोता है तथा जो पहले वार करता है, उन्हें कभी पराजय का भय नहीं होता –

अगसर खेती अगसर मार। कहैं घाघ ते कबहुँ न हार॥

आलस्य मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। व्यक्ति को आलस्य से सावधान रहना चाहिए। कवि घाघ के अनुसार आलस्य और नींद किसान का, खाँसी चोर का, कीचड़ वाली आँखें वेश्या का और दासी साधु का नाश करती है। उन्होंने कहा है –

आलस नींद किसानै नासै, चोरै नासै खांसी।
अंखियां लीबर बेसवै नासै बाबै नासै दासी॥

घाघ-भड्डरी की दृष्टि में ओछापन सर्वथा त्याज्य है। जो व्यक्ति ओछे लोगों के साथ बैठता है, ओछे काम करता है, आठों पहर (दिन-रात) ओछी बातें करता है, ऐसे निकम्मे का नाम भूलकर भी नहीं लेना चाहिए। घाघ कवि सचेत करते हैं –

ओछे बैठक ओछे काम। ओछे बातें आठों जाम॥
घाघ बताये तीनि निकाम। भूलि न लीजौ इनको नाम॥

4.3.4.2. सामाजिक नीति

घाघ-भड्डरी ने समाज के विभिन्न घटकों और उनके अपेक्षित गुणों की ओर भरपूर संकेत किया है। कवि घाघ के अनुसार ठाकुर यदि तेजहीन हो, वैद्य का लड़का रोग न पहचानता हो, बनिया यदि शाह खर्च हो, पण्डित चुप-चुप हो यानी अल्पभाषी हो तथा वैश्या मैली हो, तो इन पाँचों का घर नष्ट हो जाता है –

बनिय क सखरच ठकुर क हीन। बइद क पूत व्याधि न चीन॥
पण्डित चुपचुप बेसवा मइल। कहैं घाघ पांचो घर गइल॥

नारी जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति ही नहीं, अपितु उनकी स्थापना का भी महत्त्वपूर्ण जरिया है। इस आलोक में घाघ-भड्डरी का मानना है कि स्त्री को गृहस्थी के काम-काज में निपुण होना चाहिए। घाघ की दृष्टि में जिस पुरुष को ऐसी स्त्री मिल जाए तो मानो कि उसे धरती पर बैकुण्ठ मिल गया है –

भुइयाँ खेड़े हर ह्वै चार। घर पर गिहथिन गउ दुधार॥
अरहर की दाल जड़हन का भात। गागल निबुआ औ बिउ तात॥
खांड दही जौ घर में होय। बांकै नैन परोसै जोय॥
कहैं घाघ तब सबही झूठा। उहां छोड़ि इहवैं बैकूंठा॥

कवि घाघ ने विचारवती नारी की महत्ता स्वीकार की है। नारी के स्वतन्त्र चिन्तन की नीतिपरक सीख दी है। वे कहते हैं –

निहपछ राजा मन को हाथ। साधु परोसी नीमन साथ॥
हुक्मी पूत धिया सतवार। तिरिया भाई रखे विचार॥
कहैं घाघ हम कहत बिचार। बड़े भाग से दे करतार॥

स्त्री के बिना पुरुष अधूरा है। उसकी गृहस्थी की गाड़ी स्त्री से ही चलती है। इस परिप्रेक्ष्य में घाघ कवि ने कहा है –

बिन बैलन खेती करैं बिन भयन के रार।
बिन मेहरारु घर करे चौदह साख लवार॥

लेकिन, सामाजिक नीति एवं लोक व्यवहार के आलोक में घाघ-भड्डरी यह भी स्वीकार करते हैं कि जिस घर अथवा परिवार में मारने वाला बैल और चटकीली-मटकीली औरत रहती हो, उसमें सदैव उलाहने आते रहते हैं। इसलिए ऐसी स्थिति के प्रति सदैव सचेत रहने की सीख कवि घाघ ने दी है –

बैल मरकना चमकुल जोय। वा घर ओरहन नित उठि होय॥

4.3.4.3. अर्थ नीति

प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी स्वार्थ-सिद्धि में लीन है। दुःख में कोई किसी का साथी नहीं है। आज सब लोग अन्न और वस्त्र के लिए झगड़ रहे हैं, ऐसे में इससे बड़ा और कोई संकट नहीं हो सकता है। इस आलोक में कवि घाघ अर्थ यानी धन की महत्ता स्वीकार करते हुए कहते हैं –

आपन-आपन सब कोई होई। दुःख मां नाहिं संघाति कोई॥
अन बहतर खातिर झगड़ंत। कहै घाघ ई विपत्ति क अन्त॥

घाघ-भड्डरी की दृष्टि में धनवान् होना अपार सुख है। इस सन्दर्भ में कवि घाघ कहते हैं कि स्त्री वाला, वंश वाला, समझदार भाई वाला, अच्छे स्वभाव वाली सतवंती नारी वाला तथा धन और पुत्र से युक्त और विचारयुक्त मन वाला होना ही परम सुख है –

जोइगर बसंगर बुझगर भाय। तिरिया सतवंति नीक सुभाय॥
धन पुत हो मन होइ बिचार। कहैं घाघ ई सुक्ख अपार॥

अपने अर्थ विषयक चिन्तन में कवि घाघ-भड्डरी महत्त्वपूर्ण सीख देते हुए कहते हैं कि उधार लेने और उधार लेकर ऋण देने वाले का मुँह काला होता है। कवि घाघ के अनुसार स्वयं उधार लेकर कर्ज देने वाले का, छप्पर के घर में ताला लगाने वाले का, साले के साथ बहन को भेजने वाले का मुँह काला होता है। इस प्रकार ऋण लेकर ऋण देने की प्रवृत्ति मूर्खतापूर्ण है। वे कहते हैं –

उधार काढ़ि व्यौहार चलावै, छप्पर डारै तारो।
सारे के संग बहिनी पठवै, तीनउ का मुँह कारो॥

पराये हाथ में व्यापार देने वाला, सन्देशा देकर खेती कराने वाला, बिना जाँच-पड़ताल बेटी का विवाह करने वाला तथा दूसरे के द्वार पर धरोहर गाड़ने वाला, ये चारों तो छाती पीटकर पछताते हैं। इसलिए व्यापार को कभी भी दूसरे के भरोसे न करने की चेतावनी देते हुए घाघ कवि कहते हैं –

परहथ बनिज संदेसे खेती। बिन घर देखे ब्याहै बेटी॥
द्वार पराये गाड़ै थाती। ये चारों मिलि पीटैं छाती॥

धनाभाव जीवन का सबसे बड़ा संकट है। इससे बड़कर कोई और दूसरी विपत्ति नहीं हो सकती है। इस आलोक में कवि घाघ सीख प्रदान करते हैं –

एक तो बसो सड़क पर गाँव। दूजे बड़े बड़ेन में नाँव॥
तीजे पर दरबि से हीन। घग्घा हमको बिपता तीन॥

भारतीय आर्थिक चिन्तन परम्परा में मनीषियों ने आवश्यकता से अधिक धन-संचयन की प्रवृत्ति को विनाशकारी माना है। इसलिए घाघ-भड्डरी धन-संचय के फेर में न पड़ने और पाप से धन अर्जित न करने की चेतावनी देते हैं। जिस प्रकार चींटी अन्न का संचय करती है लेकिन उसे तीतर खा जाता है, ठीक उसी प्रकार पापी का धन प्रत्यक्ष एवं परोक्ष ढंग से दूसरे के पास ही चला जाता है, उसके पास नहीं टिकता –

कीड़ी संचै तीतर खाय। पापी का धन पर ले जाय॥

घाघ-भड्डरी नीच व्यक्ति से लेन-देन करना उचित नहीं मानते हैं। ऐसे व्यक्ति को निकम्मा मानते हुए घाघ ने कहा है –

नीचन से ब्यौहार बिसाहा, हंसि के मांगत दम्मा।
आलस नींद निगोड़ी घेरे, घग्घा तीति निकम्मा॥

4.3.4.4. कृषि व वर्षा ऋतु सम्बन्धी नीति

भारत एक कृषिप्रधान देश है। भारतीय परिवेश में कृषि एवं वर्षा ऋतु सम्बन्धी घाघभड्डरी की कहावतें बेहद उपयोगी हैं। घाघ-भड्डरी की कहावतों में भारतीय कृषि दर्शन सहज ही अनुभूत है। कवि घाघ कहते हैं कि जो स्वयं अपने हाथ से हल चलाता है उसकी खेती उत्तम; जो हलवाहे के साथ रहता है उसकी मध्यम; और जिसने पूछा कि हलवाहा कहाँ है, उसका तो बीज बोना ही बेकार है –

उत्तम खेती जो हर गहा। मध्यम खेती जो संग रहा॥
जो पूछेसि हरवाहा कहाँ। बीज बूड़िगे तिनके तहाँ॥

घाघ-भड्डरी सीख देते हैं कि जिस खेत में पानी न पहुँचता हो, उसे तब तक नहीं जोतना चाहिए, जब तक वहाँ कुआँ न खुदवा लिया जाय। कवि घाघ ने कहा है –

खेत बेपनिया जोतो तब। ऊपर कुंआ खोदाओ जब॥

खेती अधिक करने से दूसरों को लाभ पहुँचता है तथा कम करने से अपने को। इस सन्दर्भ में घाघ कहते हैं –

बहुत करे सो और को। थोड़ी करै सो आप को॥

इसलिए जो अधिक परिश्रमपूर्वक थोड़ी खेती करता है, उस किसान को कभी किसी चीज की कमी नहीं रहती। कवि घाघ कहते हैं –

खेती तो थोड़ी करे, मिहनत करे सिवाय।

राम चहें वही मनुष को टोटा कभी न आय ॥

आषाढ़ मास में जो किसान मेहमानी खाता-फिरता है, उसकी खेती कमजोर होती है । इस सन्दर्भ में घाघ कहते हैं –

असाढ़ मास जो गंवहीं कीन। ताकी खेती होवै हीन ॥

कवि घाघ के अनुसार गेहूँ कई बाँह करने से, धान बिदाहने से और ईख गोड़ने से अधिक पैदा होती है –

गेहूँ बाहा धान गाहा । उख गोड़ाई से है आहा ॥

जो किसान खेत में खाद नहीं डालता, उसके घर में दरिद्र घुसा रहता है । घाघ कवि कहते हैं –

खेते पांसा जो न किसाना। उसके घरे दरिद्र समाना ॥

नीतिकवि घाघ की प्रबल धारणा है कि खेत को जितना ही गहरा जोता जाता है, बीज पड़ने पर वह उतना ही अच्छा फल देता है –

जेतना गहिरा जोतै खेत । बीज परे फल अच्छा देत ॥

गोबर, पाखाना और नीम की खली डालने से खेती में दाना पैदा होता है । कवि घाघ कहते हैं –

गोबर मैला पानी सड़ै । तब खेती में दाना पड़ै ॥

भारतीय कृषि प्रणाली में गोबर की महत्ता स्थापित करते हुए घाघ कवि कहते हैं कि जिस किसान के खेत में गोबर नहीं पड़ा, उसे कमजोर समझना चाहिए –

जेकरे खेत पड़ा नहिं गोबर। वहि किसान को जान्यो दूबर ॥

ऋतु वर्णन के आलोक में घाघ-भड्डरी की कहावतें प्रायः वर्षा-विषयक हैं । कवि भड्डरी के अनुसार यदि आकाश का रंग लाल हो तो यह अधिक वर्षा होने का संकेत है –

आभा राता । मेह माता ॥

यदि जेठ मास के उतरते ही मेढक टर्राने लगें तो समझना चाहिए कि बहुत अधिक वर्षा होगी । भड्डरी कहते हैं –

उतरे जेठ जो बोलै दादर । कहै भड्डरी बरसै बादर ॥

यदि प्रातःकाल मेघ भागे जा रहे हों और शाम को ठंडी हवा चले तो समझना चाहिए कि अकाल पड़ेगा यानी वर्षा नहीं होगी। कवि भड्डरी कहते हैं –

परभाते मेह डम्बरा, सांजे सीला बाव।
डंक कहै हे भड्डली, काला तणा सुभाव॥

लेकिन यदि प्रातःकाल इन्द्रधनुष हो ओर संध्या को सूर्य की किरणें लाल दिखाई पड़ें तो समझना चाहिए कि नदियों में बाढ़ आएगी यानी खूब वर्षा होगी। भड्डरी कहते हैं –

उगन्तेरो माछलो, अथंव तेरी मोग।
डंक कहै हे भड्डली, नहियां चढ़सी गोग॥

कवि भड्डरी होली के दिन प्रवाहित होने वाली हवा के लक्षणों पर विचार करते हुए कहते हैं कि उससे शुभ-अशुभ फलों का सार संकेतित होता है। उनके अनुसार यदि पश्चिम की हवा बहे तो बहुत अच्छा है क्योंकि उससे पैदावार अच्छी होगी और वृष्टि होगी। पूरब की हवा बहती है तो कुछ वृष्टि होगी और कुछ सूखा पड़ेगा। दक्षिण की हवा बहती हो तो प्राणियों का वध और नाश होगा। कृषि में सनई और घास की पैदावार अधिक होगी। उत्तर की हवा बहती हो तो निश्चयतः पृथ्वी पर पानी पड़ेगा। लेकिन यदि चारों ओर का झकोरा चलता हो तो दुःख पड़ेगा और जीवों को भय होगा –

होली झर को करो बिचार। सुभ अरु असुभ कहा फल सार॥
पच्छिम बायु बहै अति सुन्दर। समयौ निपजै सजल बसुन्धर॥
पूरब दिशि की बहै जो बाई। कछु भीजै कछु कोरो जाई॥
दक्खिन बाय बहे बध नास। समया निपजे सनई घास॥
उत्तर बाय बहे दड़बड़िया। पिरथी अचूक पानी पड़िया॥
जोर झकोरै चारो बाय। दुखया परघा जीव डराय॥
जोर झलो आकाशै जाय। तौ पृथ्वी संग्राम कराय॥

4.3.4.5. राज्य नीति

घाघ-भड्डरी के अनुसार राजा के निकटस्थ सलाहकारों की सोच में राजा से प्रकृतिगत, स्वभावगत, आयुगत बहुत अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए क्योंकि देर-सवेर उनमें टकराव अवश्यम्भावी है। कवि घाघ ने यह विचार प्रकट किया है कि यदि राजा लड़का हो और मंत्री बूढ़ा हो तो देर-सवेर मामला बिगड़ते देर नहीं लगती है –

लरिका ठाकुर बुढ़ दिवान। ममिलां बिगरै सांझ बिहीन॥

नीच स्वभाव का सलाहकार कष्टदायक होता है। नीच स्वभाव का मंत्री चूँकि हमेशा खतरनाक सिद्ध होता है, इसलिए राज्य नीति के आलोक में राजा को अपने ऐसे मंत्रियों से सदैव सचेत रहना चाहिए। नीच प्रकृति का मंत्री राजा का, काई तालाब का, फूट मान-मर्यादा का तथा बिवाई पैर का नाश कर देती है। घाघ कहते हैं –

ओछो मंत्री राजै नासै, ताल बिनासै काई।
सान साहिबी फूट बिनासै, घग्घा पैर बिवाई॥

राजा को दयालु होना चाहिए। उसे निर्दयी नहीं होना चाहिए। घाघ कहते हैं कि जहाँ नौकर चोर तथा राजा निर्दयी हो, वहाँ धैर्य रखने का कोई मतलब नहीं है, उसका कोई फायदा नहीं है –

चाकर चोर राजा बेपीर। कहैं घाघ का धारी धीर॥

राजा को हमेशा प्रजा के हितों का ध्यान रखना चाहिए। उसे प्रजावत्सल होना चाहिए। दुष्ट राजा या राज्य का होना जीवन का सबसे बड़ा दुःख है। ऐसे में घाघ कहते हैं कि भेद देने वाला सेवक, सुन्दर नारी, जीर्ण वस्त्र और बुरा राज या राजा, ये चार सबसे बड़े दुःख हैं –

भेदिहा सेवक सुंदरि नारि। जीरन पट कुराज दुःख चारि॥

4.3.4.6. सांस्कृतिक नीति

भारतीय संस्कृति में धर्म और कर्म की महिमा का गुणगान सर्वत्र मिलता है। इस आलोक में घाघ कवि की नीति कहती है कि पुत्र पिता के धर्म से बढ़ता है लेकिन खेती अपने ही कर्म से होती है –

बाढ़ै पूत पिता के धर्मा। खेती उपजै अपने कर्मा॥

आपसी कलह त्याज्य है। इससे व्यक्ति, परिवार व समाज में अशान्ति फैलती है तथा सुख-समृद्धि नष्ट होती है। इसलिए कवि घाघ सचेत करते हैं कि जिस घर में रात-दिन की लड़ाई, आभूषण की भूख, सूखती हुई ईख, कमजोर खेती और निर्बुद्धि भाई हों, उससे बड़ा दुःख और कोई दूसरा नहीं हो सकता –

घर की खुनुस औ जर की भूख। छोट दमाद बराहे उखस॥
पातर खेती भुकवा भाइ। घाघ कहैं दुख कहाँ समाय॥

संयमित वाणी नीतिसम्मत है। कवि घाघ यह सीख देते हैं कि जिस प्रकार बहुत वर्षा अच्छी नहीं होती है और न ही बहुत धूप अच्छी मानी जाती है, ठीक उसी प्रकार न बहुत बोलना अच्छा है और न ही चुप रहना –

ना अति बरखा ना अति धूप। ना अति बकता ना अति चूप॥

शत्रु की कृपा की अपेक्षा मित्र की डाँट-डपट नीतिसम्मत है। इस आलोक में कवि भड्डरी सलाह देते हैं कि जब कड़ाके की गर्मी पड़ती है तथा पसीना नहीं सूखता, तब केवल वर्षा की ही आशा होती है –

दुश्मन की किरपा बुरी, भली मित्र की त्रास।
आड़ंग कर गरमी करै, जद बरसन की आस॥

जिस प्रकार प्रातःकाल बादल गरजने से वर्षा होती है, ठीक उसी प्रकार सत्पुरुष का वचन कभी निष्फल नहीं जाता। इस सन्दर्भ में कवि भड्डरी की धारणा है –

सवारो गाजियो, नै सापुरस रो बोलियो एल्यो नहीं जाय॥

4.3.5. घाघ-भड्डरी का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

हिन्दी साहित्य की रीतिकालीन काव्य-परम्परा में नैतिक आचरण एवं मानवीय जीवन-मूल्यों की स्थापना का प्रयास बहुआयामी है। रीतिकालीन नीतिकवियों में घाघ-भड्डरी व्यक्ति व समाज को समझ के उस नैतिक बिन्दु पर लाने का अभूतपूर्व प्रयास करते हैं जहाँ सम्पूर्ण परिवेश में मानव-हित ही सर्वोपरि है। वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक सदाचरण एवं व्यवहारों के अनुक्रम में उनका काव्य-चिन्तन रहस्यवादी नहीं है तथा उसे धार्मिक व आध्यात्मिक भी नहीं माना जा सकता है।

4.3.6. पाठ सार

समवेततः घाघ-भड्डरी की कहावतें उनकी अपनी रहनी है। विचार, सदाचार, स्वास्थ्य, सत्य, विश्वास, सन्तोष, विकारहीनता, मानवीय एकता आदि नैतिक मानवीय-मूल्यों से सम्बन्धित उनकी कहावतों में उनकी अपना अनुभव नाना रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। कहना न होगा कि इन कहावतों में लोक का अनन्तकालीन अनुभव भी समाहित है। घाघ-भड्डरी का नीतिकाव्य शारीरिक, मानसिक व प्राकृतिक संस्कार का बृहत्तर समायोग है। उनके नीतिकाव्य में सहज एवं सरल जीवन जीने की अभिप्रेरणा सर्वत्र परिलक्षित होती है। उनका नैतिक चिन्तन पोथी-पुराण-कुरान के अनुरूप आचरण करने के स्थान पर सहज आचरण एवं व्यवहार की ओर उन्मुख करता है।

4.3.7. कठिन शब्दावली

लीबर	:	कीचड़
सखरच	:	शाहखर्च
परहथ	:	पराये हाथ
दरबि	:	धन
दादर	:	मेढक
झर	:	हवा

बेपनिया	:	जलरहित
बहुरिया	:	अनुभवरहित बहू
आहा	:	अच्छा
बेपीर	:	निर्दयी

4.3.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. त्रिपाठी, रामनरेश, घाघ और भड्डरी, हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद.
2. नेगी, डॉ॰ संजीव सिंह, रीतिकालीन नीतिकाव्य की सामाजिक भूमिका, नवराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. राजपाल, डॉ॰ हुकुमचंद, हिन्दी साहित्य का इतिहास, डीसेंट पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
4. चतुर्वेदी, डॉ॰ रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
5. शर्मा, डॉ॰ शिवकुमार, हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. डॉ॰ नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

4.3.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. घाघ-भड्डरी : लोकनीतिकाव्य के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर।
2. घाघ-भड्डरी की वैयक्तिक व सामाजिक नीति।
3. घाघ-भड्डरी की मानवीय चेतना।
4. घाघ-भड्डरी की अर्थनीति।
5. घाघ-भड्डरी की लौकिक चेतना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "घाघ-भड्डरी की कहावतें स्वानुभूत हैं।" रीतिकालीन नीतिकाव्य के आलोक में इस कथन का परीक्षण कीजिए।
2. "घाघ-भड्डरी की कहावतें भारतीय कृषकों के अनेक सुखों और दुःखों के जीते-जागते चित्र हैं।" विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'शकुन विचार' के रचयिता हैं –
   (क) बिहारीलाल
   (ख) वृन्द

(ग) गिरिधर कविराय
(घ) भड्डरी

2. कवि घाघ के अनुसार किस गृहस्थ की गृहस्थी नहीं चल सकती है ?
(क) जिसकी स्त्री बहुरिया हो
(ख) जिसकी स्त्री सुन्दर हो
(ग) जिसकी स्त्री अनुभवी हो
(घ) जिसकी स्त्री पढ़ी-लिखी हो

3. 'भड्डली-पुराण' के रचनाकार हैं –
(क) घाघ
(ख) भड्डरी
(ग) घाघ-भड्डरी
(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. घाघ कवि के अनुसार सुबह उठकर सबसे पहले क्या करना चाहिए ?
(क) योग करना चाहिए
(ख) भोजन करना चाहिए
(ग) पानी पीना चाहिए
(घ) उपर्युक्त सभी

5. भड्डरी के अनुसार किस दशा में वर्षा बहुत होती है ?
(क) आकाश लाल हो
(ख) आकाश पीला हो
(ग) आकाश नीला हो
(घ) आकाश काला हो

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतिकालीन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 4 : गिरिधर कविराय के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

4.4.0. उद्देश्य कथन
4.4.1. प्रस्तावना
4.4.2. गिरिधर कविराय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  4.4.2.1. व्यक्तित्व
  4.4.2.2. कृतित्व
4.4.3. गिरिधर कविराय का युगबोध एवं मानव-दर्शन
4.4.4. गिरिधर कविराय का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  4.4.4.1. वैयक्तिक नीति
  4.4.4.2. सामाजिक नीति
  4.4.4.3. अर्थ नीति
  4.4.4.4. राज्य नीति
  4.4.4.5. धार्मिक नीति
  4.4.4.6. आध्यात्मिक नीति
  4.4.4.7. सांस्कृतिक नीति
4.4.5. गिरिधर कविराय का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
4.4.6. पाठ सार
4.4.7. कठिन शब्दावली
4.4.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.4.9. बोध प्रश्न

4.4.0. उद्देश्य कथन

हिन्दी के प्रख्यात कवि गिरिधर कविराय ने सीधी-सरल भाषा में दैनिक जीवन की बातों से सम्बद्ध कुण्डलियाँ कही हैं। इनके द्वारा रचित कुण्डलियाँ प्राय: नीतिपरक हैं जिनमें परम्परा के अतिरिक्त अनुभव का पुट भी विद्यमान है। प्रस्तुत इकाई गिरिधर कविराय के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना पर आधारित है। इस पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. गिरिधर कविराय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जान सकेंगे।
ii. गिरिधर कविराय के युगबोध एवं मानव-दर्शन से परिचित हो सकेंगे।

iii. गिरिधर कविराय के काव्य में अभिव्यक्त नीति के विभिन्न आयामों का निरूपण कर सकेंगे।

iv. रीतिकालीन परम्परा की मूल्य-चेतना के आलोक में गिरिधर कविराय के अवदानों का अनुशीलन कर सकेंगे।

4.4.1. प्रस्तावना

साहित्य समाज का दर्पण है इसलिए साहित्यकार चाहे कितना ही व्यक्तिवादी क्यों न हो, उसकी रचना में समाज की झलक किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रतिबिम्बित होती है। रीतिकालीन कवियों के सन्दर्भ में भी यही बात देखी जा सकती है। इसी कारण रीतिकालीन कवियों पर यह आरोप लगाया जाता है कि उनका काव्य केवल दरबारी या वर्ग विशेष से ही सम्बद्ध है जिसमें आम जनजीवन का निदर्शन प्राप्त नहीं होता। किन्तु यह आरोप समस्त रीतिकालीन कवियों पर लागू नहीं होता। क्योंकि तत्युगीन रचनात्मक संसार में कवियों का एक ऐसा वर्ग भी था जिनका लक्ष्य मानव-कल्याण और लोकहित था। गिरिधर कविराय ऐसे ही कवियों में शुमार किए जाते हैं।

4.4.2. गिरिधर कविराय : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

गिरिधर कविराय का व्यक्तित्व एवं कृतित्व भारतीय जनचेतना का वास्तविक एवं सच्चा प्रतिफलन है। जिस प्रकार भारतीय जनमानस में अनुराग-विराग, प्रवृत्ति-निवृत्ति की भावनाएँ युगपद में पाई जाती हैं उसी प्रकार गिरिधर कविराय के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में मानव-कल्याण के निहितार्थ समेकित दृष्टिकोण का सहज एवं सर्वांग परिचय मिलता है। रीतिकालीन काव्य-परम्परा में जहाँ एक ओर दरबारी कवियों को होड़ मची थी, वहीं तत्युगीन राजदरबारी कवियों की भीड़ के बीच गिरिधर कविराय जैसे कालजयी रचनाकार समाज का मार्ग प्रशस्त करने को कटिबद्ध नज़र आते हैं।

4.4.2.1. व्यक्तित्व

रीतिकाल के प्रमुख नीतिकवि गिरिधर कविराय के समय और जीवन-चरित्र के बारे में कुछ भी प्रामाणिक रूप से कह पाना कठिन है। उनके नाम के विषय में भी विद्वान सहमत नहीं हैं। 'शिवसिंह सरोज' में उन्हें गिरिधर कविराइ, 'मिश्रबन्धु विनोद' में गिरिधर कविराय, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में 'गिरिधर कविराज' कहा गया है। वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण की भूमिका में उनका नाम 'हरिदास' और उपनाम 'गिरिधर' कहा गया है। तथापि चूँकि डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त द्वारा सम्पादित 'गिरिधर कविराय ग्रन्थावली' से कवि के जीवनवृत्त की प्रामाणिक जानकारी मिलती है अतः कवि का नाम गिरिधर कविराय मानना समीचीन प्रतीत होता है। नाम के साथ कविराय होने की वजह से यह अनुमान लगाया जाता है कि वे जाति के भाट थे। इस सन्दर्भ में डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त का कहना है कि "नाम के अन्त में कविराय लगा हुआ है। अवध क्षेत्र में भाटों के आदरार्थ कविराय या कविराज कहा जाता है। इसलिए शुक्ल जी ने इन्हें भाट समझा है।"

गिरिधर कविराय का जन्मकाल भी निर्विवाद नहीं है। डॉ॰ रामस्वरूप ने 'शिवसिंह सरोज' के आधार पर उनका जन्म संवत् 1770 स्वीकार किया किया है। इनके निवास क्षेत्र के विषय में डॉ॰ भोलानाथ तिवारी का मानना है कि गिरिधर रचित प्राप्त कुण्डलियों में अवधी के रूप अधिक मिलने से यह ज्ञात होता है कि वे अवध प्रदेश के रहने वाले थे।

गिरिधर कविराय के परिवार के बारे में भी कई तरह के कथन मिलते हैं। कुछ विद्वानों की राय में वे विवाहित थे तथा उनकी पत्नी का नाम साँई था। वे सन्तानहीन थे। डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त कहते हैं कि "किसी कारण वे विरक्त होकर उदासीन साधु बन गए थे। साँई शब्द से प्रारम्भ होने वाली कुण्डलियों में भी गिरिधर कविराय की छाप है और मिश्र बन्धुओं का यह मत माना जाना चाहिए कि साँई वाली वे सभी कुण्डलियाँ भी गिरिधर कविराय द्वारा ही रचित हैं।" प्राप्त पाण्डुलिपियों में गिरिधर कविराय की कुण्डलियों के क्रमांक अंग्रेजी लिपि में दिए हैं। जैसे – कुण्डलिया 124। स्थान-स्थान पर अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। यदि ये पाण्डुलिपियाँ स्वयं गिरिधर द्वारा ही लिखित हैं तो इससे यह सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि वे अंगेजों के समय विद्यमान थे और खासे पढ़े-लिखे भी थे। डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त ने कविवर गिरिधर के मृत्युकाल को समीचीन मानते हुए वि.सं. 1820 तक उनके जीवित रहने की सम्भावना व्यक्त की है।

4.4.2.2. कृतित्व

गिरिधर कविराय की लोकप्रसिद्धि का कारण उनकी कुण्डलियाँ हैं। ऐसी मान्यता है कि वे स्वयं नहीं लिखते थे तथा उनकी अधिकांश कुण्डलियाँ मौखिक रूप में ही जन-प्रचलित थीं। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी लिखते हैं कि "यदि किंवदन्ती सत्य है तो गिरिधर की कुल लगभग साढ़े चार सौ नीति की कुण्डलियाँ मिलती हैं। उत्तरी भारत की जनता में इनका बहुत प्रचार है।" डॉ॰ रामस्वरूप शास्त्री के अनुसार गिरिधर की रचनाएँ 'कुण्डलियाँ' शीर्षक से प्रकाशित हो चुकी हैं। उनकी कुल पद्य संख्या पौने पाँच सौ के लगभग है जिनमें से साढ़े चार सौ के लगभग तो कुण्डलियाँ हैं और शेष पद्य दोहा, सोरठा, कवित्त तथा छप्पय छन्दों में निबद्ध हैं। गिरिधर के रचना-संसार को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भाग में नीति की प्रधानता है। द्वितीय भाग में अध्यात्म की विवेचना है। तृतीय भाग परिशिष्ट सदृश है जहाँ केवल अट्ठारह पद्य (आठ दोहे, तीन कवित्त और सात छप्पय) हैं। डॉ॰ किशोरीलाल गुप्त के अनुसार गिरिधर कविराय की रचनाओं में अध्यात्म सम्बन्धी 'प्रत्यक्षानुभव शतक', 'सप्तभयनिवारण मन्त्र' तथा प्रेमाख्यानक काव्य 'नलदमयन्ती' उल्लेखनीय हैं।

4.4.3. गिरिधर कविराय का युगबोध एवं मानव-दर्शन

गिरिधर कविराय की युगीन चेतना तत्युगीन कवियों से पृथक् नहीं है। उनके युगबोध में मानव-जीवन विकास का समग्र चिन्तन झलकता है। उन्होंने तत्युगीन समाज के भीतर तक प्रवेश कर वास्तविक अर्थों में उसे देखा, समझा, परखा और अनुभव किया है। तत्युगीन अव्यवस्थाओं से वे भी कभी अछूते नहीं रहे। मानव-कल्याण व लोक-चेतना का भाव ही उनकी रचनाओं का मुख्य प्रतिपाद्य है। उनका युगबोध व मानव-दर्शन

अन्ततः लोकमंगल का आग्रही है जिसके लिए उन्होंने अनवरत साहित्य-साधना की तथा मानव-समाज व संस्कृति को समेकित ढंग से संजोए रखने का प्रयास किया। उनकी यह प्रबल धारणा रही है कि समय चाहे कितना ही बुरा क्यों न हो लेकिन समाज सज्जन व नेक व्यक्तियों से सर्वथा शून्य कभी नहीं होता। मानव-जीवन सम्बन्धी बहुत-सी नीतियाँ अनेक उदाहरणों सहित उनकी रचनाओं में सहज ही उपलब्ध होती हैं। वे राजनीति, समाज, परिवार, धर्म, अध्यात्म व संस्कृति के विविध पक्षों पर एक जागरूक, संवेदनशील और ईमानदार साहित्यकार की हैसियत से विचार करते हैं।

4.4.4. गिरिधर कविराय का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

गिरिधर कविराय भारतीय जनमानस के साथ निरन्तर स्पन्दित होते रहने वाले नीतिकवि हैं। आज के इस घोर भौतिकवादी व व्यक्तिवादी युग में गिरिधर कविराय का नीतिकाव्य प्रासंगिक है। अपनी रचनाओं में जहाँ एक ओर वे जनमानस को लौकिक व्यावहारिकता का पाठ पढ़ाते हैं तो वहीं दूसरी ओर धर्म व अध्यात्म से अभिप्रेरित होकर आत्मोन्नति का मणिकांचन संयोजन करते हैं। उनका नीतिकाव्य मानव-जीवन हेतु न केवल मर्यादित व नैतिक वैविध्य प्रदान करता है अपितु कवि के दृष्टिकोण और मानवता से उनके व्यापक सरोकार का भी प्रमाण देता है। उनकी वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक नीति का स्वरूप व प्रतिपाद्य मूलतः मानसी है।

4.4.4.1. वैयक्तिक नीति

सामाजिक उपादेयता की दृष्टि से देखा जाए चाहे वैयक्तिक उत्थान की दृष्टि से, व्यक्ति का नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान होना ही उचित है। नैतिक व्यक्तियों का समूह ही नैतिक समाज का निर्माण करता है। नैतिकता क्या है और एक व्यक्ति अपने निज जीवन के स्तर पर इसे कैसे अपने में धारण कर सकता है। इसका मार्गदर्शन करने का दायित्व सहृदय साहित्यकार पर होता है। गिरिधर कविराय ऐसे ही सम्वेदनशील और परोपकारी कवि हैं। मानव-जीवन की सामान्य से सामान्य और महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण क्रिया में भी वे अपनी सूक्ष्मचिन्तन चातुरी का प्रयोग कर नैतिकता की राह सुझाते हैं। भौतिक सुख के साधन अनित्य हैं, उनके उपभोग से मिलने वाला सुख क्षणिक है। शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक है क्योंकि स्वस्थ शरीर से ही जीवन के समस्त क्रियाकलाप सम्भव हैं। इसी तरह धनोपार्जन भी आवश्यक है क्योंकि इसी से मित्र-परिजन का सामीप्य-लाभ मिलता है। लेकिन इन दोनों से अधिक आवश्यक है – अपने मन को स्वच्छ रखना। विवेकवान् मनुष्य तन और धन से अधिक महत्त्व मन की मलिनता को दूर करने के सतत अभ्यास को देता है –

तन दुरुस्त से होत है, विषयजन्य सुख भोग,
धन दुरुस्त से फिरत हैं, आगे पीछे लोग।
आगे पीछे लोग, जो मन की होय दुरुस्ती,
भोगै ब्रह्मानन्द, अविद्या करै न सुस्ती।
कह गिरधर कविराय, विवेकी जो है हरिजन
मन को करै दुरुस्त, दुरुस्त न चाहै धन तन॥

नीरोगी काया ही सबसे बड़ा सुख है, अतः कवि गिरिधर खान-पान के सम्बन्ध में व्यक्ति को सचेत करते हैं। उनके अनुसार यदि व्यक्ति रोग को हमेशा-हमेशा के लिए दूर रखना चाहता है तो उसे कम मात्रा में भोजन ग्रहण करना चाहिए। रोगी काया के समान वैयक्तिक जीवन में दूसरी कोई और बड़ी सजा नहीं हो सकती है।

गिरिधर कविराय ने चिन्ता को व्यक्ति-शरीर के लिए विनाशकारी माना है तथा उसे अग्नि से भी भयानक दग्धकारी घोषित किया है जिसका धुआँ तक नहीं उठता लेकिन भीतर ही भीतर वह सबकुछ जलाकर राख कर देती है –

चिन्ता ज्वाला सरीर की, दाह लगे न बुझाय
प्रकट धुआँ नहिं देखिए, उर अन्तर धुंधुवाय।
उर अन्तर धुंधुवाय जरै जस कांच की भट्टी
रक्त मांस जरि जाई, रहै पांजरि की ठट्टी।
कह गिरधर कविराय, सुनो रे मेरे मिंता
ते तन कैसे जियै, जाहि व्यापि है चिन्ता॥

कोई भी व्यसन स्वस्थ से स्वस्थ शरीर को नष्ट कर डालता है। नशा मनुष्य के व्यवहार को चिड़चिड़ा और असहज बना देता है। व्यसनी व्यक्ति की सोचने-समझने की शक्ति और विवेक नष्ट हो जाता है। वह अपना भला-बुरा विचार नहीं पाता। व्यसनी व्यक्ति इतना अशक्त और संज्ञाशून्य हो जाता है कि वह क्या अनैतिक कर्म कर रहा है, उसे इसका भी भान नहीं रहता। ज़्यादातर हत्या, बलात्कार जैसे अनाचार और सड़क दुर्घटनाएँ नशा करने वाले व्यक्तियों द्वारा ही किये गए होते हैं। कवि गिरिधर चेतावनी देते हैं कि व्यक्ति को नशेड़ियों से मित्रता कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि उसमें विवेक नहीं होता तथा नशे के सिवाय उन्हें और कुछ नहीं सूझता–

पोसत पीवे वारुणी खात अफीम मजून
गटके गांजा चरस जो सो बैराग ते सून।
सो बैराग ते सून, अन्यथा है अभिसंधी
अहोपोह से रहित, बुद्धि तिनकी भइ अंधी।
कह गिरिधर कविराय, न हूजे तिनका दोसत
भंग तमाखू खात, वारुणी पियत जो पोसत॥

वैयक्तिक नीति के आलोक में गिरिधर कविराय इन्द्रियनिग्रह को सर्वश्रेष्ठ तप स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अन्य समस्त विधि-विधान व्यर्थ हैं। लोग तप करने के लिए नर्मदा तट पर जाते हैं; मरने के लिए गंगा-तट खोजते हैं; विष्णु-शिव आदि देवों का पूजन-भजन करते हैं; वशिष्ठ, पाराशर, व्यास जैसे गुरुओं की तलाश करते हैं; कुरुक्षेत्र जाकर दान करते हैं, संन्यास ग्रहण कर मोक्ष-प्राप्ति का उद्यम करते हैं। लेकिन वास्तव में इन सबकी आवश्यकता नहीं है। कविराय कहते हैं कि वह ईश्वर तो स्वयं प्राणी के हृदय में ही अवस्थित है। व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को वश में कर ले तो इससे बढ़कर कोई अन्य दूसरा तप नहीं है –

तप करवे को नर्मदा, मरवे को सुरधनी
भजन करन को हरीहर, भाखैं ऋषिवर मुनी।
भाखैं ऋषिवर मुनी, बसिस्ठ परासर व्यास
दान करैं कुरुक्षेत्र, साधन ज्ञान संन्यास।
कह गिरधर कविराय, शिवोहम् शिवोहम् जप
करण-ग्राम को रोक, न या सम है कोई तप॥

संकल्पशील व्यक्ति सबकुछ प्राप्त कर लेता है। इसलिए गिरिधर कविराय व्यक्ति को संकल्पधर्मी होने की सलाह देते हैं। दृढ़निश्चयवान् व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। संकल्पशील व्यक्ति के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है –

बांधी कस कर कमर जिन जिस कारज के हेत
आलस तजि तत्पर भयो सोइ सिद्ध कर लेत।
सोइ सिद्ध कर लेत, बेर ना लगै उसी छिन
ज्यों टिटिभिन ने अंड सिंधु से, कियो जब प्रन।
कह गिरिधर कविराय चित्त वृत्ति जिसकी फांधी
तिसको सब कुछ सुलभ, फेंट जब दृढ़ कर बांधी॥

अकर्मण्य व्यक्ति तो गलत-सही कुछ भी नहीं करता। कार्य में प्रवृत्त होने वाले से ही गलती होती है। लेकिन उन गलतियों को लेकर हताश हो जाना कर्मण्य व्यक्ति को शोभा नहीं देता। अपनी गलतियों से सबक लेकर और भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न होने देने का संकल्प लेकर पुनः कार्य में जुट जाना ही उत्तम मनुष्य का लक्षण है –

बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेइ।
जो बनि आवै सहज में, ताही में चित देइ।
ताही में चित देइ, बात जोई बनि आवै।
दुर्जन हँसे न कोय चित्त में खता न पावै॥
कह गिरिधर कविराय यहै करु मन परतीती।
आगे की सुध लेइ समझु बीती सो बीती॥

गुण के गाहक हज़ारों हैं, बिना गुण के कोई नहीं पूछता। कौवा और कोयल दोनों का रंग एक-सा है, पर कोयला का बोल जहाँ सबको सुहाता है, वहीं कौवे का काँव-काँव कान को अप्रिय लगता है –

गुन के गाहक सहस नर, बिन गुन लहै न कोय।
जैसे कागा-कोकिला, शब्द सुनै सब कोय॥
शब्द सुनै सब कोय, कोकिला सबै सुहावन।
दोऊ को इक रंग, काग सब भये अपावन॥

कह गिरिधर कविराय, सुनौ हो ठाकुर मन के।
बिन गुण लहै न कोय, सहस नर गाहक गुन के॥

गुणवान् व्यक्ति की विद्वता और परिश्रम का महत्त्व एक विद्वान् ही जान सकता है। मूर्ख और अकर्मण्य व्यक्ति उसकी विद्वता और परिश्रम का मूल्यांकन नहीं कर सकते। हीरे की कद्र जौहरी ही कर सकता है, गँवार लोगों के लिए तो उसमें और सामान्य कंकड़ में कोई भेद नहीं होता। आशय यह है कि मूर्खों द्वारा उपहास या उपेक्षा करने पर गुणी व्यक्ति को खेद नहीं करना चाहिए–

हीरा अपनी खानि को, बार-बार पछिताय
गुन कीमत जानै नहीं, तहाँ बिकानो आय।
तहाँ बिकानो आय, छेद करि कटि में बांध्यो
बिन हरदी बिन लौन मांस ज्यों फूहर रांध्यो।
कह गिरिधर कविराय, कहाँ लगि धरिये धीरा
गुन कीमत घटि गई, यहै कहि रोयो हीरा॥

लोभ व्यक्ति का सबसे बड़ा दुर्गुण है। लोभ पाप का मूल है। यह लोभ ही मोह-माया में आसक्ति का बीज है। यदि व्यक्ति ईमानदारीपूर्वक इसका परित्याग कर देता है तो वह स्वतः ही सब तरह से सुखी हो जाता है। फिर उसे किसी ताप का भय नहीं रह जाता। इसलिए कविराय गिरिधर लोभ का त्याग करने की सलाह देते हुए सबके साथ भलाई करने की सीख देते हैं। वे बुरे व्यक्ति के साथ भी भला करने को कहते हैं। कविराय का मानना है कि कोई विरला ही परम विवेकी होता है जो सबके साथ भलाई का व्यवहार करता है –

नेकी नेका साथ को, खैर खैरियत वीर
बदी करै संग बंदो के, संग शरीयत धीर।
संग शरीयत धीर, बुरै संग करै भलाई
इंसानों की रीत, किसी बिरले को आई।
कह गिरधर कविराय, पुरुष जो परम विवेकी
जौन तीन परकार, करै सबके संग नेकी॥

गिरिधर कविराय वैयक्तिक जीवन में सुख, शान्ति व मान-सम्मान के प्रबल आकांक्षी हैं। व्यक्ति यदि जीवन में सच्चे सुख का आकांक्षी है तो उसे काम-वासना का परित्याग करना होगा। गिरिधर कविराय कहते हैं कि कामना के वशीभूत होकर ही व्यक्ति अनेक प्रकार का प्रलाप करता है। वे काम-वासना को असाध्य बीमारी की संज्ञा देते हैं –

कच्ची जैसी लोड़ है, ऐसे और न पाप
जिसके अन्तर कामना, करै अनेक प्रलाप।
करै अनेक प्रलाप, ग्रस्यो जो चाह-चमारी
अहंता ममता त्वंता लगी असाध बीमारी।

कह गिरधर कविराय, वस्तु जब पावै सच्ची
फेर न मन में रहै, वासना लौकिक कच्ची ॥

व्यक्ति को कोई भी निर्णय पूरी तरह से सोच-विचारकर करना चाहिए। गिरिधर कवि कहते हैं कि जो मनुष्य पहले से बिना विचार किये कोई काम कर बैठता है, उसे बाद में पछताना पड़ता है। अपना काम बिगाड़ लेता है और दुनिया उस पर हँसती है। चित्त बेचैन रहता है, खाना-पीना सुहाता नहीं, और राग-रंग में लगाने पर भी मन नहीं लगता। बिना विचारे किये काम का दुःख मन में सदा सालता रहता है –

बिना विचारे जो करै, सो पाछै पछताय।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय।
जग में होत हँसाय, चित्त में चैन न आवै।
खान-पान सनमान, राग रंग मनहि न भावै॥
कह गिरिधर कविराय, दुःख कछु टरत न टारे।
खटकत है जिस माहिं, कियो जो बिना विचारे॥

क्षुद्र मनुष्य कार्य प्रारम्भ करने से पहले ही बढ़ा-चढ़ा कर उसका बखान करने लगते हैं। कार्य में कभी प्रवृत्त नहीं होते बल्कि सदैव यह प्रकट करते रहते हैं कि उन्हें उस कार्य की बड़ी फिक्र है। इस फिक्र का जिक्र होता रहता है किन्तु कार्य पूर्ण तो क्या ! कभी प्रारम्भ ही नहीं हो पाता। राजा दिलीप के बारे में प्रसिद्ध है कि किसी महनीय कार्य के समापन के अवसर पर लोगों को आश्चर्य होता था कि राजा दिलीप ने यह कार्य प्रारम्भ कब किया था। गिरधर कविराय कहते हैं कि विवेकी व्यक्ति वही है जो अपनी योजना को गोपनीय बनाए रखकर कार्य सम्पन्न होने तक कर्त्तव्य-कर्म में अनवरत रत रहे। जब तक कार्य पूरा न हो जाय उसकी चर्चा तक न करे। विरोधी भले ही हँसी उड़ाएँ किन्तु सदैव शान्त चित्त बना रहे। कार्य के लिए किये गए त्याग और कठोर परिश्रम का बखान करना व्यर्थ है। कार्य का परिणाम स्वयमेव साधक के त्याग और परिश्रम का बखान कर देगा –

साईं, अपने चित्त की भूलि न कहिए कोय।
तब लग मन में राखिए जब लग काज न होय॥
जब लग काज न होय, भूल कबहूँ नहिं कहिये।
दुर्जन हँसै न कोय, आप सियरे है रहिये॥
कह गिरिधर कविराय, बात चतुरन के ताईं।
करतूती कहि देति आप कहिये नहिं साईं॥

4.4.4.2. सामाजिक नीति

सामाजिक नीति के अन्तर्गत समाज के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित नैतिक जीवन-मूल्यों का निदर्शन किया जाता है। गिरिधर कविराय ने भारतीय सामाजिक संरचना एवं पारिवारिक जीवनपद्धति के परम्परागत रूप एवं सम्बन्धित मूल्यों को अपनी रचनाओं में बहुत प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त किया है। सामान्यतया यह सीख दी जाती

है कि व्यक्ति को सबसे हिल-मिल कर रहना चाहिए। वाणी की मधुरता और सद्व्यवहार व्यक्ति का जीवन आसान और सुखमय बनाता है। गिरिधर कविराय इनमें भी कुछ विशेष लोगों से किसी भी स्थिति में सम्बन्ध न बिगाड़ने का संकेत करते हैं। वे कहते हैं कि अपना भला चाहने वाले व्यक्ति को गुरु, विद्वान्, कवि, संगी-साथी, पुत्र, पत्नी, द्वारपाल, यज्ञ कराने वाला पुरोहित, राज-मन्त्री, ब्राह्मण, पड़ोसी, वैद्य और रसोई बनाने वाला – इन तेरह जनों से, कभी भी वैर नहीं बाँधना चाहिए –

साई, वैर न कीजिये, गुरु, पंडित, कवि, यार।
बेटा, वनिता, पँवरिया, यज्ञ-करावनहार॥
यज्ञ-करावनहार, राजमंत्री जो होई।
विप्र, परोसी, वैद्य, आपकी तपै रसोई॥

सामाजिक नीति के परिप्रेक्ष्य में पारिवारिक जीवन-मूल्यों के निहितार्थ गिरिधर कविराय ने माता-पिता, सन्तान, सुपुत्र-कुपुत्र आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण नीतिपरक बातों का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि कैसा विकट समय आया है कि स्त्री के वश में आकर बेटा बाप से लड़ने लगा है और अलग होने की माँग रखता है; घर, पैसा, सामान, प्रत्येक वस्तु पर अपना अधिकार जमाता है, माता-पिता का खूब अपमान करता है; कितने दुःख की बात है कि कल तक जो बेटा बाप की उँगली पकड़कर चलना सीख रहा था, आज उसी से झगड़ता है –

बेटा भिरगो बाप सों, करि तिरियन को नेहु
लटापटी होने लगी, मोहि जुदा करि देहु।
मोहि जुदा करि देहु घरी मां, माया मेरी
लैहौं घर अरु बार, करौं मैं फजिहत तेरी।
कह गिरधर कविराय, सुनो गदहा के लेटा
समय परयो है आय, बाप से झगरत बेटा॥

गिरिधर कविराय ने अपनी कुण्डलियों में कुपुत्र और सुपुत्र के अभिलक्षण स्पष्ट किये हैं। उनके अनुसार सुपुत्र वही है जो पिण्ड-दान करके पितरों का तर्पण करे, बाप के मरने के बाद उसका कर्ज उतारे, कोई दुर्जन यदि पिता की भूमि का हरण करे तो वह तलवार से उस शत्रु का मुकाबला करे। यदि कोई पुत्र ऐसा नहीं करता है तो उसका क्या लाभ ! कविराय कहते हैं कि ऐसे पुत्र से तो कन्या ही अच्छी है –

गया पिंड जो देइ, पितर को अपने तारे
करज बाप को देइ, लटे परवार संभारे।
हरी भूमि गहि लेई, दुवन सिर खंड चलावे
पर उपकारी पुरुष जगत में शोभा पावे।
कह गिरधर कविराय (भू) तल बैरी सब दलमलै
इतना काम जो ना करे, तो पुत्र खेह, कन्या भलै।

पुत्र-पिता के बीच अनबन होने से परिवार व समाज का निश्चयतः नुकसान होता है। इस नीतिपरक कथन की सम्पुष्टि के लिए गिरिधर हिरण्यकश्यप और कंस का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं केवल इसी कारण हिरण्यकश्यप व कंस को अन्ततः अपने-अपने राज्यों से हाथ धोना पड़ा। दुश्मनों की बन आई और जग-हँसाई भी हुई –

साईं, बेटा बाप के, बिगरे भयो अकाज।
हिरनाकस्यप, कंस को, गयउ दुहुँन को राज॥
गयउ दुहुँन को राज, बाप बेटा में बिगरी।
दुश्मन दावागीर हँसे बहुमण्डल नगरी॥
कह गिरिधर कविराय, जुगन याही चलि आई।
पिता-पुत्र के वैर नफा कहु कौने पाई॥

पारिवारिक नीति कहती है कि अपने भाई, बन्धु-बान्धव को कभी त्रास नहीं देना चाहिए। हमेशा उसे ससम्मान अपने साथ रखना चाहिए। लंकापति रावण का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए गिरिधर कविराय सचेत करते हैं कि रावण ने अपने भाई विभीषण का अपमान किया और उसे घर-राज्य से निष्काषित कर दिया परिणामस्वरूप विभीषण रावण के शत्रु-पक्ष से जाकर मिल गया और रावण की मृत्यु का कारण बना –

साईं, अपने भ्रात को, कबहूँ न दीजै त्रास।
पलक दूर नहिं कीजिए, सदा राखिए पास॥
सदा राखिए पास, त्रास कबहूँ नहिं दीजै।
त्रास दियो लंकेश, ताहि की गति सुन लीजै॥
कह गिरिधर कविराय, राम सो मिलिगो जाई।
पाय विभीषण राज्य, लंकापति बाज्यो साईं॥

नारी नर से हीन नहीं है। वह बराबर सम्मान की अधिकारिणी है। सच तो यह है कि अनेक प्रसंगों में नारी नर से बढ़कर है। वह समाज की महत्त्वपूर्ण व अभिन्न धुरी है। पुरुषों को नारी का सम्मान करना चाहिए। सन्नारी के प्रति सभी साहित्यकारों ने श्रद्धा और सम्मान प्रकट किया है। लेकिन नारी के भोग्या और काम्या रूप की सर्वत्र निन्दा की गई है। दुष्ट, कुलटा और कुलक्षिणी नारी को गिरिधर कविराय पुरुष को भ्रान्त करने वाली और रसातल की ओर धकेल देने वाली करार देते हैं तथा इस भाँति की वासनान्ध नारी से बचने की सलाह देते हुए गिरिधर कविराय सावधान करते हैं –

नारी श्रेणी नरक की, है प्रसिद्ध, नहिं लुकी
यथा सम्मान, परकीया, तथा जान ले स्वी की।
तथा जान ले स्वी की, तीन कौ एकै रूपम
अस्थि मांस नख चर्म रोम, मल-मूत्रहिं कूपम।
कह गिरधर कविराय, पुरुष इन कियो अजारी
ऐसा दुष्ट न और, जगत में जैसी नारी॥

नारी का उच्छृंखल स्वरूप पूरे कुटुम्ब के सर्वनाशकारी सिद्ध होता है। कौरव-पाण्डवों के युद्ध और विनाश का मूल कारण द्रौपदी का अमर्यादित आचरण ही था। अपने प्रिय पुत्र राम के विछोह में राजा दशरथ की मृत्यु, रानियों का वैधव्य, राम का वन-गमन, सीता का कष्टमय जीवन, लक्ष्मण-ऊर्मिला का वियोग, भरत का त्यागपूर्ण जीवन आदि स्थितियों का मूल कारण कैकेयी का हठ ही था। गिरिधर कविराय ने कहा है –

नारी अतिबल होत है, अपनो कुलहिं बिनास
कौरव पांडव बंस को कियो द्रौपदी नास।
कियो द्रौपदी नास, कैकेयी दसरथ मारेउ
राम लषण से पुत्र, तेउ बनवास सिधारेउ।
कह गिरधर कविराय, सदा नर रहै दुखारी
सौ घर सत्यानास, जहाँ है अतिबल नारी॥

भारतीय समाज में 'गुरु' पद का अपना महत्त्व है। मध्यकालीन काव्य में गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धाभाव और कृतज्ञता प्रकट की गई है। गुरु-मार्गदर्शन के अभाव में सत्य को जानना-पहचानना असम्भव है। गुरु के सान्निध्य से कठिन से कठिन बात भी सरलता से समझ में आ जाती है। गुरु के उपदेश से अविद्या का नाश हो जाता है –

कारीगर के कसे बिन, सूधो होय न काठ
वैयाकरणी ते बिना, शुद्ध न होवे पाठ।
शुद्ध न होवे पाठ, बात जो अतिशय पीनी
कहु तत्वज्ञ गुरु बिना वस्तु क्यौंपावै झीनी।
कह गिरधर कविराय, अविद्या जावे मारी
महावाक्य गुरु द्वार, वाण जब लागे कारी॥

संसार में प्रायः यह देखा जाता है कि कुशल नेतृत्व के अभाव में कपटी लोग सदाचारी व्यक्ति पर शासन करते हैं। व्यवस्था-दोष के कारण कर्मठ व्यक्ति के परिश्रम का लाभ अकर्मण्य लोग हड़प कर जाते हैं। कई बार तो स्थिति इतनी भयावह होती है कि दुष्ट लोग अपने दोष षड्यंत्रपूर्वक सरल व्यक्ति के मत्थे मढ़ देते हैं। गिरिधर कविराय आत्मसम्मान के प्रबल पक्षधर हैं इसीलिए ईमानदार व्यक्ति को कुमाणों के देश से जल्द से जल्द प्रस्थान करने को प्रेरित करते हैं –

हंसा ह्यां रहिये नहीं, सरवर गये सुखाय
काल्हि हमारी पीठ पै, बगुला धरिहै पांय।
बगुला धरिहै पांय, इहां आदर नहि ह्वैहै
जगत हंसाई होय बहुरि मन में पछितैहै।
कह गिरिधर कविराय, दिनै-दिन बाढ़ै संसा
या हू से घटि जाय तबै का करिहै हंसा॥

4.4.4.3. अर्थ नीति

अर्थ का अपना महत्त्व है। धनाभाव में जीवनयापन कठिन है। अर्थ-व्यवहार के सम्बन्ध में समाज में प्रायः दो प्रकार के व्यक्ति देखे जाते हैं। एक तो वे जो धन-संचय को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान बैठे हैं और किसी भी सूरत में धन का लोभ नहीं छोड़ पाते। दूसरे वे जो धन को भौतिक साधन जुटाने, सुख-सुविधाओं का विस्तार करने, शारीरिक सौष्ठव-सौन्दर्य बढ़ाने, जिह्वा-स्वाद की तृप्ति करने, रुतबा-प्रदर्शन करने का माध्यम समझ बैठे हैं। ये लोग ऋण लेकर भी धन-व्यय करने में संकोच नहीं करते। सच तो यह है कि उक्त दोनों ही प्रवृत्तियाँ अनुचित हैं। न तो धन-संग्रह में जीवन नष्ट करना उचित है और न ही धन-अपव्यय। धन जीवनयापन का एक माध्यम मात्र है उससे अधिक कुछ भी नहीं। न तो इस पर अभिमान किया जाए न इसकी उपेक्षा की जाए। गिरिधर कविराय कहते हैं कि स्वार्थी दुनिया धन से ही प्रभावित होती है। धन होने से मित्र भी साथ रहता है। निःस्वार्थ प्रीति करने वाला तो कोई बिरला ही देखा गया –

साईं, सब संसार में, मतलब का व्यवहार।
जब लगि पैसा गाँठ में, तब लगि ताको यार॥
तब लगि ताको यार, यार संगही संग डोलै।
पैसा रहा न पास, यार मुख से नहिं बोलै॥
कह गिरिधर कविराय, जगत का येही लेखा।
करत बेगरजी प्रीति मित्र कोई बिरला देखा॥

निर्धन गृहस्थ से कोई भी व्यक्ति सम्बन्ध नहीं रखता, कोई उसे महत्त्व नहीं देता। जहाँ-तहाँ उसका अनादर होता है। पुत्र, पिता, भाई, मित्र, परिचित सब उसकी उपेक्षा करते हैं। गिरिधर कहते हैं कि यह दुनिया की प्रवृत्ति है कि वह उसी गृहस्थ को महत्त्व और सम्मान देती है जिसके पास धन होता है।

अर्थोपयोग से सम्बन्धित अनेक नीतिपरक वचन गिरिधर कविराय-कृत कुण्डलियों में अभिव्यक्त हुए हैं। वे धन को अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी धनाढ्य व्यक्ति को अभिमान न करने की सलाह देते हैं। धन-दौलत सबकुछ अन्ततः यहीं छूट जाता है –

दौलत पाय न कीजिए, सपनेऊँ अभिमान
चंचल जल दिन चारि को, ठाउं न रहत निदान।
ठाउं न रहत निदान, जियत जगत में यश लीजै
मीठे वचन सुनाय विनय सबही की कीजै।
कह गिरधर कविराय अरे यह सब घट तौलत
पाहुन निसि दिन चारि, रहत सबहीं के दौलत॥

गिरिधर कविराय की अर्थ कूटनीति यह भी सिखाती है कि यदि दुष्ट को परास्त कर उसका धन और धरती छीन ली गई है तो अब उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। यदि उसके साथ रहना मजबूरी है, तो अपने

द्वारा परास्त किए गए व्यक्ति को कभी उसे समर्थ न होने दिया जाय। कभी भूलकर भी उसका विश्वास न किया जाय। भले ही वह मित्रता की सौ-सौ सौगन्ध खाए, पर उसकी एक भी बात नहीं माननी चाहिए। परास्त शत्रु अपनी पराजय की पीड़ा कभी विस्मरित नहीं करता, अवसर मिलते ही भयानक दाँव चलता है अतः दुष्ट का साहचर्य न करने में ही भलाई है –

जाको धन-धरती हरी, ताहि न लीजै संग।
जो संग राखै ही बनै, तो करि राखु अपंग॥
तो करि राखु अपंग, भूलि परतीति न कीजै।
सौ सौगन्दें खाय, चित्त में एक न दीजै॥
कह गिरिधर कविराय, कबहुँ विश्वास न वाको।
रिपु-समान परिहरिय, हरि धन-धरती जाको॥

व्यक्ति समाज में रहता है इसलिए सामाजिक व्यवहार निभाना उसका दायित्व है। संकट और अभाव की परिस्थिति में एक-दूसरे का सहयोग करना मानवीयता है। लेकिन समाज में भले और ईमानदार लोग हैं तो कपटी और परजीवी लोग भी हैं। गिरिधर कविराय मक्कार लोगों से व्यवहार में सावधानी बरतने की सलाह देते हैं। चालाक व्यक्ति ऋण लेते समय बहुत मीठी बातें बनाता है किन्तु उधार चुकाने के समय साफ मुकर जाता है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह गाली-गलौज पर उतर आता है तथा तगादा करते ही मारने को दौड़ता है। दोषी होने पर भी हमेशा रूठा हुआ सा व्यवहार करता है। और तो और, जब बहुत दिन बीत जाते हैं, तो वही ऋणी उधार देने वाले व्यक्ति को झूठा साबित करने लगता है –

झूठा मीठे वचन कहि, ऋण उधार ले जाय।
लेत परम सुख ऊपजै, लैके दियो न जाय॥
लैके दियो न जाय, ऊँच अरु नीच बतावै।
ऋण उधार की रीति, माँगतै मारन धावै॥
कह गिरिधर कविराय जानि रहै मन में रूठा।
बहुत दिना हो जाय, कहै तेरो कागज झूठा॥

कहा गया है कि धन और पद-प्राप्ति के लिए अपना घर-द्वार छोड़कर परदेश में रहना विवेकपूर्ण नहीं है। किन्तु व्यक्ति अपनी महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति में परदेश का रुख करता ही है। अर्थ-पिपासा कभी तृप्त नहीं होती फलतः जीवन धन जुटाने में ही व्यतीत हो जाता है। धन कमाने के लिए परदेश में बैठा व्यक्ति स्वयं अपना जीवन तो एकाकी होकर बिताता ही है साथ ही दूर स्वदेश में रह रहे अपने परिजनों का जीवन भी विकट बना देता है। पुत्र के अभाव में वृद्ध माता-पिता, भाई के अभाव में बहिनें, पति के अभाव में युवा पत्नी, पिता के अभाव में अबोध शिशु का जीवन प्रतीक्षा करते-करते ही बीत जाता है। परदेश में रहकर धन कमाने की अन्धी लालसा व्यक्ति, परिवार और समाज के लिए घातक है। गिरिधर की नायिका कहती है कि मेरे पति सोने का व्यापार परदेश करने क्या गये, मेरा सारा घर ही सूना हो गया। न सोना मिला और न प्रियतम ही लौटकर आये। राह जोहते-जोहते मेरे

केश सफेद हो गए। मेरे जीवन का रंग-रूप चला गया। बिना प्रियतम के सूनी सेज पर मुझे सुख और चैन कभी नहीं मिला। जीवन रसहीन हो गया। स्वामी ! अब शीघ्र ही घर लौट आओ। सोना लादकर क्या करोगे –

सोना लावन पिव गये, सूना करि गये देश।
सोना मिला न पिव मिले, रूपा हो गये केश॥
रूपा हो गये केश, रोय रंग रूप गँवावा।
सेजन को विश्राम पिया बिन कबहुँ न पावा॥
कह गिरिधर कविराय, लोन बिन सबै अलोना।
बहुरि पिया घर आव, कहा करिहौ लै सोना॥

मनुष्यता के घनघोर पतनकाल में भी कृतघ्नता मानव-मूल्य नहीं हो सकती। दुर्जनों के कई प्रकार हैं जैसे – कामी, क्रोधी, लोभी, अहंकारी, कृपण, कपटी, ठग, चोर, लुटेरा, क्रूर, निर्दयी, हत्यारा, कर्त्तव्यविमुख, मिथ्याभाषी, धूर्त, विश्वासघाती, निन्दक आदि। लेकिन इन सबसे अधिक दुष्ट 'कृतघ्न' व्यक्ति होता है जो किये हुए उपकार को नहीं मानता। कृतघ्न व्यक्ति बड़ा धूर्त होता है जो मीठी-मनोहारी बातें बनाकर सामने वाले का विश्वास जीत लेता है। वस्तुतः कृतघ्नता एक तरह का भीतरी आघात होता है जो उपकार करने वाले व्यक्ति की प्रवृत्ति तक को आन्दोलित कर देता है। यह एक दुष्ट द्वारा किया गया ऐसा कृत्य होता है जो अन्य ज़रूरतमंदों की आशाओं को भी धूमिल कर देता है। समाज का अंश होकर समाज में ही रहने वाला कृतघ्न व्यक्ति दीमक की तरह धीरे-धीरे मानवीय मूल्यों और नैतिकता का ह्रास कर पारस्परिक विश्वास और प्रेमभाव को खोखला कर देता है। आशय यह है कि अन्य प्रकार के दुर्जनों से व्यक्ति सावधान रह सकता है किन्तु उन दुष्टों से सतर्क रहने की उसे विशेष आवश्यकता है जो सज्जन के वेश में उपस्थित होते हैं और मार्मिक चोट दे जाते हैं। गिरिधर कविराय सचेत करते हुए कहते हैं –

कृतघन कबहुँ न मानहीं, कोटि करै जो कोय।
सर्वस आगै राखिए, तऊ न अपनो होय॥
तऊ न अपनो होय, भले की भली न मानै।
काम काढ़ि चुप रहै फेरि तिहिं नहिं पहिचानै॥
कह गिरिधर कविराय, रहत नितहीं निर्भय मन।
मित्र शत्रु सब एक दाम के लालच कृतघन॥

वृक्षों पर फल आने से वे नीचे झुकते हैं (नम्र बनते हैं); पानी में भरे बादल आकाश में नीचे की ओर आते हैं; अच्छे लोग समृद्धि से गर्विष्ठ नहीं बनते प्रत्युत मुक्त हृदय से दीन-दुखियों की सहायतार्थ मुक्ताहार लुटाते हैं, परोपकारियों का यही स्वभाव होता है। गिरिधर कविराय उपदेश करते हैं कि धन-उपार्जन हेतु परिश्रम करना अनुचित नहीं है, उसका परिग्रह अनुचित है। विवेकसम्मत और नीतिसम्मत यही है कि समृद्ध लोगों को अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक धन रखकर शेष धन परमार्थ में व्यय कर देना चाहिए। शेखावाटी क्षेत्र में आज जीर्ण-शीर्ण अवस्था और खण्डहर में तब्दील हो चुके प्राचीन विशाल चिकित्सालय, शिक्षण संस्थान,

बावड़ियाँ, कुएँ, धर्मशालाएँ आदि तत्कालीन सेठ-साहूकारों की उदारहृदयता और परोपकारी वृत्ति का परिचय देते हैं जिनका निर्माण उन्होंने ज़रूरतमंदों के निःशुल्क उपयोगार्थ करवाया था –

पानी बाढ़ो नाव में, घर में बाढ़ो दाम।
दोनों हाथ उलीचिए, यही सयानो काम॥
यही सयानो काम, राम को सुमिरन कीजै।
परस्वारथ के काज शीस आगे धर दीजै॥
कह गिरिधर कविराय, बड़ेन की याही बानी।
चलिए चाल सुचाल, राखिए अपनो पानी॥

4.4.4.4. राज्य नीति

कुशल नेतृत्व वही है जो सबको साथ लेकर चले, सबका ख्याल करे, सबसे उनकी योग्यता और क्षमतानुरूप काम ले और श्रेष्ठ काम करने वाले को प्रोत्साहित करे जबकि अनुचित कर्म करने वाले को दण्डित करे। एक श्रेष्ठ राजा अपने राज्य की सुरक्षा के प्रति जितना सतर्क होता है उतना ही अपने कर्त्तव्यों के प्रति भी जागरूक रहता है। राज्यनीति के परिप्रेक्ष्य में गिरिधर कविराय राज्य की सुरक्षा व राजा के कर्त्तव्यों का संकेत करते हैं। राजा के दायित्वों का उल्लेख करने के साथ ही वे सुदृढ़ शासन-व्यवस्था का उपाय भी बतलाते हैं –

गढ़पतियन को धर्म है, करै दोउन को ध्यान
जिमीदोज रैनी करे, मन का राखौ जान।
मन का राखौ जान, किले पर तोप चढ़ाओ
कोस-कोस को गिरद, काटि मैदान कराओ।
कह गिरिधर कविराय, राजराजन के ताई
अस गढ़पति जो होइ, ताहि को जग नसाई॥

एक सच्चा साहित्यकार एक सच्चे मित्र के समान होता है जो जीवन जीने की कला भी सिखाता है। गिरिधर कविराय भी एक सहृदय साहित्यकार हैं जो राजा के दरबार में जाने के कायदे-कानून से भी अवगत कराते हैं। राजा के दरबार में उपस्थित होने में भी एक अनुशासन की अपेक्षा की जाती है। उसका उल्लंघन दण्डनीय अपराध माना जाता है। राज्य नीति कहती है कि राज-दरबार में समय विचारकर जाना चाहिए। अपने लिए निर्धारित स्थान पर ही बैठना चाहिए, स्थान निर्धारित न हो तो जब तक बैठने का निर्देश न किया जाए खड़े ही रहना चाहिए। बिना अनुमति के नहीं बोलना चाहिए। हँसी-खुशी का प्रसंग आने पर भी ठहाका मारकर नहीं हँसना चाहिए। जिस कार्य को लक्ष्य कर दरबार में आना हुआ है, अपनी बारी आने पर तथा अनुमति मिलने पर ही उसके सम्बन्ध में अपना पक्ष रखना चाहिए। जल्दबाजी करने से राजा के नाराज होने की सम्भावना बनी रहती है –

राजा के दरबार में, जैसो समया पाय।
साईं, तहाँ न बैठिए, जँह कोउ देय उठाय॥

जँह कोउ देय उठाय, बोल अनबोले रहिये।
हँसिये ना हहरोय, बात पूछे तो कहिये।
कह गिरिधर कविराय, समय सो कीजै काजा।
अति आतुर नहिं होय, बहुरि अनखैहै राजा॥

4.4.4.5. धार्मिक नीति

रीतिकाल के आते-आते धर्म की विकृत अवस्था ने मनुष्य को मनुष्य न रहने देकर मात्र एक धर्म या दूसरे धर्म अथवा एक पंथ अथवा दूसरे पंथ का प्रतीक बना दिया था। गिरिधर कविराय के किसी पंथ अथवा धर्म विशेष में दीक्षित होने का प्रमाण नहीं मिलता है और न ही वे किसी धर्म अथवा पंथ विशेष के प्रति आग्रही हैं। अन्तःबाह्य साक्ष्यों के आधार पर गिरिधर को उदासीन साधु माना गया है। गिरिधर मनुष्यत्व के समर्थक हैं और उनके लिए मानव धर्म ही सबसे बड़ा एवं उचित धर्म है। इसी से वे वर्णाश्रमी और मजहबी व्यक्तियों के घोर निन्दक हैं। उनके अनुसार कट्टर धार्मिक-महजबी व्यक्ति समाज के शत्रु होते हैं। ऐसे व्यक्तियों से बचकर रहना ही श्रेयस्कर है –

जो संग आश्रम बरन के, ना जा तिनके कोल
जाए तो मत बैठ तहं, बैठे तो मत बोल।
बैठे तो मत बोल, बोले तो छोर विषेरो
वह पूछै कछु व्यवहार थोर में करो निनेरो।
कह गिरिधर कविराय, कहै मत तिनके लग जो
ना जा तिनके कोल, बरन आश्रम के संग जो॥

मजहबी लोग साम्प्रदायिक विष फैलाकर सामाजिक वातावरण को विषैला कर देते हैं फलस्वरूप लोग परस्पर एक दूसरे को गैर और शत्रु महसूस करने लगते हैं। पारस्परिक वैमनस्य से सामाजिक शान्ति और सौहार्द नष्ट हो जाता है तथा हिंसा-प्रतिहिंसा की आशंका बनी रहती है। गिरिधर कविराय कहते हैं ऐसे कट्टर धार्मिक-मज़हबी लोगों से दूर रहने में ही भलाई है क्योंकि जिस प्रकार पागल कुत्ते का काटा हुआ व्यक्ति पागल हो जाता है उसी प्रकार साम्प्रदायिक व्यक्ति के साथ रहने वाला व्यक्ति उससे प्रभावित हो कट्टर धार्मिक-मज़हबी हो जाता है। इन श्वानवत् लोगों का स्थान शूकर से भी निम्न है। गिरिधर कविराय सचेत करते हुए कहते हैं –

कूकर पागल कटै जिस, वह पागल है जात
त्यों नर मजबी संग ते, नर मजबी हो जात।
नर मजबी हो जात, बात हिरदै धरि लीजै
प्राण जाय तो जाय, न मजबी का संग कीजै।
कह गिरधर कविराय, अधम है सबसे सूकर
ताते भी सो अधम मजब का जो जो कूकर॥

सभी भक्तों और सन्तों ने ईश्वर की एकता का प्रतिपादन एकमत से किया है। लोगों ने अपनी सुविधा और श्रद्धा अनुसार उस ईशवर के विभिन्न नाम रख लिए हैं किन्तु मूलतः वह एक ही है और समस्त सृष्टि में समभाव से रम रहा है। धार्मिक आडम्बर के घोर विरोधी गिरिधर कविराय अपने नीतिकाव्य के माध्यम से हिन्दू-मुसलमान दोनों को समझाने का प्रयत्न करते हैं कि खुदा का 'नूर' और भगवान् की 'ज्योति' एक ही है। उसे देखने का नज़रिया भिन्न हो सकता है। हिन्दू-मुसलमान दोनों अन्ततः एक ही गंतव्य के राही हैं –

हिन्दू अस्ति भाँति प्रेम, तुरुक हस्ति इल्म सरुर
बहु बर हक ब्रह्मरूप, बहु स्वप्रकाश खुद नूर
बहु स्वप्रकाश खुद नूर, कहत है जाके ताईं
लाजवान अवाक्य, अरूप बेगून अलाई।

गिरिधर कविराय धार्मिक ढोंग-पाखण्ड की निन्दा करते हैं। अपने अनेक छन्दों में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में ढोंगी-पाखण्डियों के प्रति आक्रोशभाव व्यक्त किया है। वे ऐसे लोगों को निकृष्ट और गर्दभवत् मानते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार केदारखण्ड जैसे पवित्र स्थल में रहकर भी बिल्ली अहिंसक नहीं बन पाती, कुत्ता चारों धाम की पूजा करने पर भी पवित्र नहीं बन पाता, ठीक उसी प्रकार व्रत-उपवासों की महत्ता भी तभी होती है जब हृदय स्वच्छ हो अन्यथा अपवित्र जूते के समान उस व्यक्ति का हृदय हजार बार गंगा में धोने के उपरान्त भी स्वच्छ नहीं हो सकता, अपवित्र ही रहेगा –

जूतो लेकर गंग में धोवे हजार बार
शुद्ध न होवे किसी विधि, करे अनेक अचार।
करे अनेक अचार, खूह खण बने अचारी
केदार खण्ड में बसे अहिंसक नहिं मार्जारी।
कह गिरधर कविराय, चतुर धाम फिरे पूजत कूतो
त्यों देह न होवे बिमल, चर्म को जैसे जूतो॥

माला फेरने, पोथी पढ़ने, पाँच-सात साखी कह देने और आठ-दस पद गा देने से मुख्य लक्ष्य नहीं सधता। ये सब तो पेट-भराई के साधन हैं। गिरिधर कविराय कहते हैं कि बिना अपने मूल स्वरूप को पहचाने जप-तप करना, माला फेरना और पोथी पढ़ना व्यर्थ है। सच तो यह है कि अपने वास्तविक स्वरूप को जानने के बाद कि "मैं उसी ब्रह्म का अंश हूँ और वह ब्रह्म मेरे हृदय में ही स्थित है" धार्मिक पाखण्डों, विधि-विधानों की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती –

माला मन सों कहत है, सुनो देव जग भूप
मुझ फेरे क्या होत है, तू न लखै निज रूप।
तू न लखै निज रूप, तो करनी है सब पोथी
केवल है बकवाद, खोलकर पढ़ जो पोथी।
कह गिरिधर कविराय, होत मुंख तिनका काला
जो प्रत्येक ब्रह्मभिन्न, ज्ञान बिन फेरत माला॥

उल्लेखनीय है कि गिरिधर कविराय ने धार्मिक नीति में बारम्बार ऊँच-नीच, जाति-पाँति, छुआ-छूत, भेद-भाव एवं बाह्याडम्बरों का विरोध किया है। उनकी प्रबल अवधारणा है कि सारे सांसारिक विधि-विधान झूठे और छल-प्रपंच से भरे हैं, सत्य तो केवल वह परमेश्वर है –

ना कोउ ऊँच, ना कोउ नीच, ना कोउ मूर्ख, ना कोउ स्याना।
ना कोउ वर्ण, न कोउ आश्रम, नहिं धर्म अचार न कर्म विधाना।
ना कछु थावर, ना कछु जंगम, ना पंचभूत, न कारण नाना।
है परमेश्वर एक निरन्तर, नहिं जिहि में वृत्ति ज्ञान-अज्ञाना॥

4.4.4.6. आध्यात्मिक नीति

धर्म एक पद्धति है जबकि अध्यात्म चिन्तन से सम्बद्ध है। बिना चिन्तन के पद्धतियाँ निरर्थक हैं, बिना चिन्तन के प्राप्त-ज्ञान भी ओढ़ा हुआ-सा प्रतीत होता है, बिना चिन्तन के भक्ति-उपासना भी आडम्बर बन जाती है। वस्तुतः चिन्तन ही भक्ति-उपासना, ज्ञान और धर्म को अपेक्षित गहराई प्रदान करता है। केवल विवेकशील लोग यह अनुभव कर सकते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक है। इसलिए गिरिधर कविराय चिन्तन की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि –

गिरिधर सो जो गिरधर प्रयत्न सून्य बिन खेद
गिरि कारण सूक्ष्म स्थूल तनु, गिरिधर प्रत्येक वेद।
गिरिधर प्रत्येक वेद, जो है नित की प्रापत
बिना स्तोत्र ध्वनि सुने, बाक दिन शब्द अलापत।
कह गिरिधर कविराय, जास में नहीं मित्र अर
सबको आपन आप, आत्मा सों तू गिरिधर॥

चिन्तन और अध्यात्म के माध्यम से सत्य और मिथ्या का भेद स्पष्ट हो पाता है। अन्यथा विवेक के अभाव में मनुष्य यत्र-तत्र भटकता फिरता है और अपना जीवन निरर्थक करता है। कविराय गिरिधर कहते हैं कि जिस प्रकार धुएँ की घनघटा देखकर बेचारा चातक भूल कर बैठता है तथा समझता है कि वह जल से भरा काला बादल है। वह दौड़कर उसी ओर जाता है और अन्त में धोखा खाकर जल पीने की बजाय अपनी आँखों में धुआँ भरकर वापस लौट आता है। ठीक यही स्थिति मानव की है। हृदयस्थ ब्रह्म की थाह लिए बिना वह केवल कल्पना और भ्रम की दौड़ लगाता रहता है –

भूले चातक आइकै, घटा धुवाँ को देखि
यह जानी जस जलद है, बादर श्याम बिसेखि।
बादर श्याम बिसेखि, देखि सो ताको धायो
एक दिन संकट परे कौन काके घर आयो।
कह गिरिधर कविराय, धुवाँ लखि यह फल पायो
जो जल को तू गयो सोइ नयनन जल आयो॥

सच्चा मित्र वह है जो सुख-दुःख, सम्पत्ति-विपत्ति, लाभ-हानि, यश-अपयश, जय-पराजय, स्वास्थ्य-अस्वस्थता में सदैव एक समान व्यवहार करे। प्रश्न यह है कि सच्चे मित्र की प्राप्ति कैसे हो ! उसकी तलाश कहाँ की जाए ! गिरिधर कविराय सीख देते हैं कि ये सारे सांसारिक मित्र तो केवल सुख, सम्पत्ति, लाभ, यश, जय और स्वास्थ्य में साथ निभाने वाले हैं। दुःख, विपत्ति, हानि, अपयश, पराजय और अस्वस्थता की स्थिति में तो ये निकट ही नहीं आएँगे। यारी लगानी है तो उस परमात्मा से लगाओ जो किसी भी स्थिति में क्षण भर भी साथ नहीं छोड़ता। नमक में जिस प्रकार लवणता समायी हुई है, उसी प्रकार वह परमात्मा जीव के साथ अभिन्न रूप में स्थित है। उसी से प्रेम सार्थक है –

यारी ता संग कीजिये, गहै हाथ सों हाथ।
दुख-सुख संपति-विपति में, छिन भर तजै न साथ॥
छिन भर तजै न साथ, महत दृष्टांत बखानो।
ज्यों अकास संग पोल, और इक सुनौ पखानो॥
कह गिरिधर कविराय निमक में ज्यों रस खारी।
या प्रकार जो व्याप्त ताहिं संग लइये यारी॥

लोग प्रायः अपनी भूल का दोष ईश्वर की इच्छा पर डाल देते हैं। कहते हैं – 'हम तो अच्छा सोच रहे थे लेकिन विधाता की जो इच्छा थी वही हुआ।' यानी 'जीवन में जो कुछ भी अवांछित और अप्रिय हो रहा है वह सब ईश्वर की इच्छा है' – ऐसा मानकर सन्तोष धारण कर लेते हैं। वास्तव में बजाय दोषारोपण के उन्हें असफलता, हानि, अप्रिय परिणति, दुर्घटना आदि के मूल कारणों की तलाश करनी चाहिए। उन लापरवाहियों और भूलों की पड़ताल करनी चाहिए जो स्वयं उनके द्वारा जाने-अनजाने की गई हैं। विवेकहीन लोग कर्म के प्रति सावधान होने की बजाय अपने भाग्य को कोसते रहते हैं और विधाता को दोष देते रहते हैं। यह ठीक वैसा ही है कि जैसे कोई व्यक्ति छलनी में भैंस को दूहे और दूध के बह जाने की स्थिति में सारा दोष ईश्वर और अपने भाग्य को देने लगे –

भैंस दुहै मधि छालनी, ईश्वर दोष धरै
जैसे हम संग करी विधि बैरी हूँ न करै।
बैरी हूँ न करै, पड़ोसिन को दे गारी
जादू कियो अपार होइ रंडा मुँह कारी।
कह गिरिधर कविराय, अवश की चाहै ऐस
जा में छिद्र हजार तासु में दोहै भैंस॥

मनुष्य का भाग्य उसके द्वारा किये गए कर्मों से ही निर्मित होता है। कर्म तीन प्रकार के होते हैं – 'संचित', 'प्रारब्ध' और 'क्रियमाण'। संचित का अर्थ है – सम्पूर्ण, कुलयोग। अर्थात् मात्र इस जीवन के ही नहीं अपितु वे अन्यान्य कर्म जो जीव द्वारा पिछले असंख्य जन्मों में किये गए हैं। समस्त पूर्वजन्मों के ये कर्म एकत्रित होकर जीव के खाते में जमा होते हैं। चूँकि 'संचित' अनेक पूर्वजन्मों का बहुत बड़ा संग्रह है अतः मनुष्य अपने सभी संचित कर्म इस सीमित जीवन में नहीं भोग सकता। इसलिए उसे 'संचित' में से वर्तमान जीवन जीने लायक जो अंश

मुहैया कराया जाता है वह अंश 'प्रारब्ध' है। इसी अंश के सहारे वर्तमान जीवन का परिवेश और स्थितियाँ निर्मित होती हैं। इस तरह 'प्रारब्ध' 'संचित' का एक भाग है। इस भाग को जीव के 'संचित' के खाते में से घटा दिया जाता है। इस प्रकार वर्तमान जीवन में जीव केवल अपना 'प्रारब्ध' भोगता है जो असंख्य जन्मों में उसके द्वारा किये गए कुल कर्मों का एक भाग है। तीसरा कर्म है – 'क्रियमाण'। 'क्रियमाण' वह कर्म है जो मनुष्य वर्तमान जीवन में प्रतिक्षण करता रहता है। ये 'क्रियमाण' कर्म ही एकत्रित होकर 'संचित' कर्मों का निर्माण करते हैं। यानी प्रत्येक जन्म में 'संचित' में से 'प्रारब्ध' का यह घटना और 'क्रियमाण' का जुड़ना सतत चलता रहता है। जब तक 'संचित' कर्मों का कोष शून्य नहीं हो जाता तब तक उन्हें भुगतने के लिए जीव जन्म-मरण का दुःख भोगने को विवश है। आवागमन के चक्र से मुक्ति के लिए 'क्रियमाण' कर्मों पर रोक लगाना ही एकमात्र उपाय है। यह इतना आसान नहीं है तथापि अभ्यास और सक्रियतापूर्वक इनसे बचा जा सकता है। वस्तुतः कर्म के प्रति आसक्ति ही 'क्रियमाण' कर्मों का निर्माण करती है। यदि कोई भी कर्म अनासक्त भाव और पूर्णरूपेण चैतन्य होकर किया जाय तो वह 'क्रियमाण' होकर 'संचित' के खाते में जमा नहीं होता। उदाहरणार्थ यदि कोई हमारा अपमान करे और हम क्रोधित हो जाएँ, प्रतिक्रिया करें तो हमारा यह क्रोधित होना, प्रतिक्रिया करना 'क्रियमाण' होकर 'संचित' में जमा हो जाएगा किन्तु यदि अपमानित होने की स्थिति में भी हम क्रोधित न हों और कोई प्रतिक्रिया न करें बल्कि शान्त भाव रखें, निर्लिप्त रहें तो हमारे नये कर्म उद्घाटित नहीं होंगे प्रत्युत 'संचित' कर्मों का क्षरण होगा। 'संचित' कर्मों का क्षरण ऐसे होगा कि हमारा जो अपमान किया गया वह हमारा 'प्रारब्ध' ही तो था जिसका भुगतान आज हो गया। कर्म का सम्पूर्ण दर्शन यही है कि हम चैतन्य रहें, प्रतिक्रिया ना करें, निर्लिप्त रहें और साथ ही अपने अन्तर्मन में शान्त रहें तो धीरे-धीरे अपने 'संचित' को नष्ट कर सकते हैं। यही प्रक्रिया विभिन्न घटनाओं में व्यवहार में लाई जानी चाहिए। इस प्रकार चैतन्य रहते हुए निरन्तर 'संचित' को नष्ट करने से अन्ततः वह शून्य हो जायेगा। 'संचित' के शून्य होने पर जीव को इस जन्म-मरण के चक्र में पड़ने की विवशता नहीं रहेगी। गिरिधर कविराय कहते हैं कि कार्य में देरी हो रही है तो यह प्रारब्ध का भुगतान है। प्रारब्ध भोगे बिना तो मृत्यु भी नहीं आ सकती। विगत जन्मों में जो कुछ आसक्ति के साथ लिया-दिया है वह सब तो दुःख-सुख के साथ भोगना ही पड़ेगा। इसमें दुःख मनाने की क्या बात है –

कीयो चाहै काम को, परै तास में देर
पुना विपर्यय होइ सो, यहि अदृष्ट को फेर।
यहि अदृष्ट को फेर, कर्म ग्रह टरे न टार्‌यो
बिन भोगे प्रारब्ध, और विध मरे न मार्‌यो।
कह गिरधर कविराय, जु पूरब दीयो लीयो
सो सो भोगत पुरुष, दुखसुख अपना कीयो॥

भारतीय समाज में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, चार्वाक्, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि विभिन्न मतावलम्बी अपने-अपने दर्शन और सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार करते रहे हैं। भिन्न मतों के वैभिन्न्य से समाज शान्त व सात्विक होने की बजाय दिग्भ्रमित हो रहा है। ऐसे में गिरिधर कविराय वादशून्य अद्वैतबोधरूपी

मुगदल से सभी मतों का खण्डन करते हुए एकत्व यानी 'ईश्वर एक है तथा जीव उसका अंश है' की स्थापना पर बल देते हैं।

4.4.4.7. सांस्कृतिक नीति

भारतीय संस्कृति में पारस्परिक साहचर्य और प्रेम की महत्ता है। इस आलोक में गिरिधर कवि कहते हैं कि प्रीति सदैव बड़ों से ही जोड़ी जानी चाहिए क्योंकि समय आने पर वे पार लगा देंगे। कायर, मूर्ख और कुपूत से प्रीति व्यक्ति व समाज के लिए मझधार में डूबने का कारण बनता है। ऐसे लोगों की प्रीति का कोई महत्त्व नहीं होता वहाँ केवल पछतावा हाथ लगता है तथा दुनिया में बदनामी होती है। कविराय सीख देते हैं कि जो दिल का बड़ा हो उससे तन, मन और धन देकर भी प्रीति करनी चाहिए –

प्रीति कीजिये बड़ेन सों, समया लावै पार।
कायर कूर कपूत हैं, बोरि देत मझधार॥
बोरि देत मंझधार, प्रीति की कवन बड़ाई।
पछिताने फिरि देहिं जगत में अपयश पाई॥
कह गिरिधर कविराय, प्रीति साँची सिखि लीजै।
व्यवहारी जो होय तऊ तन-मन-धन दीजै॥

सम्बन्ध उससे बनाने चाहिए जो सम्बन्धों की गहराई को समझे। व्यवहार और आचरण में हल्के व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाना अपने समय, धन और भाव को नष्ट करना है। ऐसे व्यक्ति मित्रता और सम्बन्धों का लाभ लेना तो भली-भाँति जानते हैं किन्तु सामने वाले का विपरीत समय आते ही उससे आँख चुराने लगते हैं। चील के घोंसले में चाहे मांस मिल भी जाए पर इन अवसरवादी लोगों से ज़रूरत के वक़्त तिनके जैसा काम भी कराना मुश्किल है। मित्रता धीर-गम्भीर व्यक्ति से करनी चाहिए जो न केवल अपनी सक्षमता और सम्पन्नता के समय में सहायक बने अपितु स्वयं के विकट दौर से गुजरते समय भी शरणागतवत्सल का भाव बनाए रखे। जैसे दशरथपुत्र श्रीरामचन्द्र अयोध्या के राजकुमार होते समय भी दीन-हीन अबला अहल्या के उद्धारक बने और वनवासी होते समय भी सुग्रीव और विभीषण जैसे शरणागतों के सहायक बने। गिरिधर कविराय कहते हैं कि कमजोर पेड़ की छाँह तले बैठने से अच्छा है धूप में लेटे रहना और किसी तरह कष्ट में समय काट लेना, क्योंकि वह किसी-न-किसी दिन तेज हवा चलने पर टूट कर गिर जाएगा। छाया तो बड़े की ही अच्छी, पत्ते झड़ जाने पर भी वह पेड़ तो रहेगा ही –

रहिये लटपटि काटि दिन, बरु घामे में सोय।
छाँह न बाकी बैठिये, जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय, एक दिन धोखा देहै।
जा दिन बहै बयारि, टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरिधर कविराय, छाँह मोटे की गहिये।
पाता सब झरि जाहिं, तऊ छाँहे में रहिये॥

भारतीय संस्कृति में सदाचरण और नैतिक मूल्यों को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। चारों युग इस बात की साक्षी देते हैं कि वचनबद्धता भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पुत्र प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है लेकिन अपना वचन पूरा करने के लिए राजा दशरथ ने अपने प्रिय पुत्र का भी परित्याग कर दिया । कवि गिरिधर कहते हैं कि यही तो बड़ों की बड़ाई है। चाहे सर्वस्व चला जाय पर अपने वचन का पालन अवश्य किया जाना चाहिए –

पुत्र प्राण ते अधिक है, चारेहु युग परमान
सो दसरथ नृप परिहरे वचन न दीन्हों जान।
वचन न दीन्हों जान, बड़े की बूझि बड़ाई
बात रहै सो काज, और बरु सरबस जाई।
कह गिरिधर कविराय, भये नृप दशरथ ऐसे
पुत्र प्रान परिहरे, वचन परिहरे न ऐसे॥

प्रत्येक देश की अपने संस्कृति होती है। वहाँ का अपना पहनावा, चाल-चलन, रहन-सहन, खान-पान, तीज-त्योहार, मान-मर्यादा, नृत्य-गीत और लोकोत्सव होते हैं। कोई भी संस्कृति अचानक विकसित नहीं हो जाती अनेक सदियों से संचित लोकानुभव और सामाजिक आवश्यकताएँअपेक्षाएँ उसका निर्माण करती हैं। भारतीय ग्रामीण परिवेश में व्यक्ति का हमेशा अपने साथ लाठी रखना उसकी एक सहज आदत बन चुकी है। क्षेत्रीय परिवेश और आर्थिक स्थिति के अनुरूप लाठी के स्वरूप में भले ही वैभिन्य देखने को मिले किन्तु सोतेजागते लाठी साथ रखने की प्रवृत्ति प्रायः हर जाति, वर्ग और समुदाय के व्यक्तियों में देखने में आती है। यहाँ लाठी केवल एक वस्तु ही नहीं रह गई है अपितु वह व्यक्ति की पहचान और सम्मान का प्रतीक भी बन चुकी है। लाठी के गुणों का बखान करते हुए कवि गिरिधर कहते हैं –

लाठी में गुण बहुत हैं, सदा राखिए संग।
गहिरी नदी नारा जहाँ, तहाँ बचावै अंग॥
तहाँ बचावै अंग, झपटि कुत्ता कँह मारै।
दुश्मन दावागीर होय तिनहूँ को झारै॥
कह गिरिधर कविराय, सुनो हो धर के बाठी।
सब हथयारन छाँड़ि हाथ मँह लीजै लाठी॥

लाठी के समान ही कंबली (वजन में कंबल की अपेक्षा थोड़ा हल्का) का महत्त्व भी अपना महत्त्व है। भारतीय परिवेश में विवाह, उत्सव आदि कार्यक्रमों में कंबली भेंट करना सम्मान प्रदर्शित करने का प्रतीक है। शहरों में आयोजित कार्यक्रमों में धीरे-धीरे इसकी जगह अब शॉल ने ले ली है। बहरहाल, इसमें निहित मूल भावना यही है कि किसी के प्रति सम्मान प्रकट करना हो तो उन्हें ऐसी वस्तु भेंट की जाए जो विभिन्न स्थानों और स्थितियों में बहूपयोगी हो। कंबली तह करके कन्धे पर रखी हो व्यक्ति के सम्मान में इज़ाफ़ा करती है; हल्की-तेज सर्दी में ठंड से बचाती है; बारिश में भीगने से बचाती है; कंटीले, पथरीले और ऊबड़-खाबड़ स्थान पर बिछाकर

बैठने और लेटते समय शरीर को आराम देती है; प्रस्थान करते समय ज़रूरत भर का सामान कंबली पर रखकर उसकी गठरी बाँधकर साथ ले जाया जा सकता है। बहुत कम दाम खर्च कर खरीदी जा सकने वाली कंबली के गुण अनेक हैं। गिरिधर कविराय कहते हैं कि मनुष्य को कंबली हरदम अपने साथ रखनी चाहिए जो सभी तरह से बड़ी उपयोगी है –

कमरी थोरे दाम की, आवै बहुतै काम।
खासा मलमल बाफता, उनकर राखै मान॥
उनकर राखै मान, बुन्द जँह आड़े आवै।
बकुचा बाँधे मोट राम को झारि बिछावै॥
कह गिरिधर कविराय, मिलति है थोरे दमरी।
सब दिन राखै साथ बड़ी मर्यादा कमरी॥

भारतीय परम्परा में अतिथि को देवता माना गया है। मान्यता है कि अतिथि में अग्नितत्त्व विद्यमान होता है इसीलिए आने के साथ ही उन्हें शीतल जल और गुड़ अर्पित किया जाता है। यह भारतीय संस्कार ही है कि जजमान स्वयं चाहे भूखा रह जाए या कम खाकर गुज़ारा कर ले किन्तु घर आए अतिथि का अपनी सामर्थ्य से बढ़कर सत्कार करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। किसी के घर आया अतिथि महज़ उस घर का ही अतिथि ही नहीं होता प्रत्युत वह समूचे गाँव का मेहमान हो जाता है। घर-परिवार, गाँव के लोगों का भले ही पारस्परिक मन-मुटाव हो किन्तु घर आए अतिथि के साथ व्यवहार करते समय वे इसकी भनक भी नहीं लगने देते। भारतीय ग्रामीण परिवेश में इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि किसी की पुत्री के विवाह में गाँव में आये बारातियों के रात्रि-विश्राम के लिए गाँव भर के प्रत्येक घर से एक-एक चारपाई मय बिछावन-ओढावन मेहमानों के ठहरने के स्थान पर पहुँचा दी जाती हैं। भारतीय इतिहास और साहित्य में अतिथि सत्कार के कृष्ण-सुदामा मिलन के प्रसंग जैसे सहस्राधिक उदाहरण वर्णित हैं। गिरिधर कविराय अतिथि-सत्कार के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं –

साईं समय न चूकिए, यथाशक्ति सनमान।
का जानैं को आइहै, तेरी पौरि प्रमान॥
तेरी पौरि प्रमान, समय असमय तकि आवै।
ताको तू मन खोलि अंक भरि हृदय लगावै॥
कह गिरिधर कविराय, सबै या में सधि जाई।
शीतल जल फलफूल समय जनि चूको साईं॥

इस प्रकार गिरिधर कविराय दैनिक जीवन से सामान्य-महत्त्वपूर्ण उदाहरणों को अपने काव्य के माध्यम से उद्धृत कर भारतीय दार्शनिक, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक महत्ता को प्रतिपादित करते हैं एवं भारतीय संस्कृति में व्यवहृत मानवीय जीवन-मूल्यों और नैतिकता को प्रतिष्ठापित करते हैं।

4.4.5. गिरिधर कविराय का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

रीतिकालीन नीतिकवि गिरिधर कविराय की तत्युगीन चेतना और मानव-दर्शन व्यावहारिक हैं। उनके काव्य में शास्त्रीयता और पाण्डित्य-प्रदर्शन की बजाय लोकहित; सिद्धान्त-निरूपण की अपेक्षा सहज मानवीय जीवन-शैली; चमत्कार-प्रदर्शन के स्थान पर सहज प्रेमभाव का निरूपण; बाह्याडम्बर-समर्थन की बजाय सहज भक्तिभाव का मण्डन एवं दरबारी परम्परा के अनुगमन के स्थान पर मूल्याधारित सरल-निर्भय जीवन का अनुशीलन हिलोरे ले रहा है। यही कारण है कि गिरिधर कविराय का काव्य सदियों से जन-जन का कण्ठहार बन लोकमानस के साथ स्पन्दित हो रहा है। गिरिधर कविराय महज़ एक रचनाकार नहीं हैं अपितु वे नैतिक जीवन-मूल्यों की एक भरी-पूरी संस्था हैं जिसने सदियों से सन्तप्त, दुखी, निर्बल, पीड़ित, शोषित, उपेक्षित मानव समाज को असीम आत्मविश्वास एवं मानवीय एकता का अमर-सन्देश देकर सहज जीवन की कुंजी उसके हाथ में सौंप दी है।

4.4.6. पाठ सार

गिरिधर कविराय के नीतिकाव्य का प्रयोजन जन सामान्य को व्यावहारिक ज्ञान और जीवन-दृष्टि प्रदान करना है। उनकी सूक्तियाँ मनुष्य के आचरण और व्यवहार को मर्यादित, नीतिपरक एवं मूल्यवान् बनाती हैं। उनके रचनात्मक अवदान की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए मिश्रबन्धुओं ने लिखा है – "एक दो त्रुटियों के होते हुए भी गिरिधर कविराय की रचना इतनी यथार्थ है कि संसार ने इनकी कविता को बहुत अधिकता व निकटता से ग्रहण से किया है। विश्व ऐसा गुणग्राही है कि बहुतेरे कवियों ने अपनी रचना को बहुत कुछ छिपाया और उनके ग्रन्थ मुद्रित भी नहीं हुए, फिर भी उन भले और छिपे हुए ग्रन्थों के भी उत्कृष्ट पदों को उसने ग्रहण कर ही लिया। गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर और किसी कवि की रचना को गिरिधर राय की कविता के समान कहावतों में आदर पाने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ होगा। इस लोकप्रियता की एक वजह यह भी है कि गिरिधर ने सिवा नीति तथा अन्योक्ति के और किसी विषय पर काव्य नहीं किया है।" अथक साहित्य-साधना के अनवरत विस्तार में गिरिधर कविराय की नीतिपरक रचनाएँ मानवीय दैनिक जीवन सम्बन्धी सीधी, सरल व सार्थक नीति प्रतिष्ठापित करती हैं।

4.4.7. कठिन शब्दावली

रिपु	:	शत्रु
अलोना	:	अलवण, बिना नमक का
कटि	:	कमर
मार्जारी	:	बिल्ली
वितरेक	:	छोड़कर, सिवाय
प्रारब्ध	:	भाग्य
घाम	:	धूप
बकुचा	:	छोटी गठरी

4.4.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. गुप्त, डॉ॰ किशोरीलाल (सम्पादक), गिरिधर कविराय ग्रन्थावली, मधु प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ, हिन्दी नीतिकाव्यधारा, किताब महल, इलाहाबाद.
3. अरोड़ा, डॉ॰ शकुन्तला, रीतिकालीन शृंगार कवियों की नैतिक दृष्टि, सन्मार्ग प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. नेगी, डॉ॰ संजीव सिंह रीतिकालीन नीतिकाव्य की सामाजिक भूमिका, नवराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. चतुर्वेदी, डॉ॰ रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
6. शर्मा, डॉ॰ शिवकुमार, हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. डॉ॰ नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

4.4.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. गिरिधर कविराय का जीवनवृत्त।
2. गिरिधर कविराय की युगीन चेतना।
3. गिरिधर कविराय के नीतिकाव्य में पारिवारिक जीवन-मूल्य।
4. गिरिधर का आत्मा-परमात्मा विषयक चिन्तन।
5. गिरिधर कविराय की धार्मिक चेतना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "गिरिधर कविराय ने अपने नीतिकाव्य में भिन्न-भिन्न वृत्तियों वाले व्यक्तियों का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक पकड़ के साथ विश्लेषण किया है।" वैयक्तिक नीति के सन्दर्भ में उक्त कथन की पुष्टि कीजिए।
2. "गिरिधर कविराय के नीतिकाव्य की लोकधर्मिता यथासमय स्वीकृति और निषेध का निर्देश देकर मानव समाज की उँगली पकड़कर निरन्तर उसे राह दिखाती रही है।" उक्त कथन की सोदाहरण विवेचना कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'प्रत्यकानुभव शतक' के रचयिता हैं –
   (क) वृन्द
   (ख) घाघ-भड्डरी
   (ग) रहीम
   (घ) गिरिधर कविराय

2. गिरिधर कविराय के अनुसार कैसे लोग समाज को विषैला कर देते हैं ?
   (क) सामाजिक
   (ख) राजनैतिक
   (ग) साम्प्रदायिक
   (घ) उपर्युक्त सभी

3. 'नल-दमयन्ती' के रचयिता हैं –
   (क) गिरिधर कविराय
   (ख) वृन्द
   (ग) घाघ-भड्डरी
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. गिरिधर कविराय की दृष्टि में किसके मार्गदर्शन के बिना सत्य को जानना व पहचानना बेहद कठिन है ?
   (क) मित्र
   (ख) पत्नी
   (ग) गुरु
   (घ) बन्धु

5. गिरिधर कविराय के अनुसार क्या करना सर्वश्रेष्ठ तप के समान है ?
   (क) उपदेश देना
   (ख) दान देना
   (ग) इन्द्रिय-निग्रह
   (घ) परोपकार करना

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 4 : रीतिकालीन कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 5 : दीनदयाल गिरि के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

4.5.0. उद्देश्य कथन
4.5.1. प्रस्तावना
4.5.2. दीनदयाल गिरि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  4.5.2.1. व्यक्तित्व
  4.5.2.2. कृतित्व
4.5.3. दीनदयाल गिरि का युगबोध एवं मानव-दर्शन
4.5.4. दीनदयाल गिरि का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  4.5.4.1. वैयक्तिक नीति
  4.5.4.2. सामाजिक नीति
  4.5.4.3. अर्थ नीति
  4.5.4.4. राज्य नीति
  4.5.4.5. धार्मिक नीति
  4.5.4.6. आध्यात्मिक नीति
  4.5.4.7. सांस्कृतिक नीति
4.5.5. दीनदयाल गिरि का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना
4.5.6. पाठ सार
4.5.7. कठिन शब्दावली
4.5.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
4.5.9. बोध प्रश्न

4.5.0. उद्देश्य कथन

रीतिकालीन नीति-विषयक काव्य के रचयिताओं में बिहारीलाल, वृन्द, घाघ-भड्डरी, गिरिधर कविराय, दीनदयाल गिरि, जमाल, रामसहाय दास, सम्मन, बेताल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं । काव्योत्कृष्टता एवं लोकप्रियता की दृष्टि से इनमें से किसी को एक-दूसरे से कमतर नहीं आँका जा सकता तथापि गिरिधर के बाद दीनदयाल गिरि की सूक्तियाँ लोक जनमानस में अधिक प्रचलित हैं। गिरिधर कविराय की भाँति दीनदयाल गिरि ने भी कुण्डलिया छन्द के माध्यम से मानवीय जीवन-आदर्शों एवं नैतिक जीवन-मूल्यों का बहुपक्षीय विवेचन किया है । प्रस्तुत इकाई दीनदयाल गिरि के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना पर आधारित है । प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. दीनदयाल गिरि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को जान सकेंगे।
ii. उनकी युगीन चेतना एवं मानवीय जीवन-दर्शन से अवगत हो सकेंगे।
iii. दीनदयाल गिरि के काव्य में अभिव्यक्त नीति के विविध आयामों का निरूपण कर सकेंगे।
iv. रीतिकालीन परम्परा की मूल्य-चेतना के अन्तर्गत दीनदयाल गिरि के रचनात्मक अवदान का अनुशीलन कर सकेंगे।

4.5.1. प्रस्तावना

युगीन परिवर्तन के साथ नैतिक आदर्श एवं जीवन-मूल्यों में भी थोड़ा-बहुत परिवर्तनीय होना स्वाभाविक है लेकिन यह भी सत्य है कि सभ्यता के चरम आदर्शों के रूप में स्वीकृत होने के कारण नैतिकता सार्वभौमिक, सर्वकालिक, निरपेक्ष और नित्य है। वस्तुतः नीति, आदर्श, मानवीय जीवन-मूल्य अमूर्त्त अवधारणाएँ हैं। ये ऐसे शाश्वत मापदण्ड, प्रतिमान, दृष्टिकोण, लक्ष्य या उद्देश्य हैं जिनमें एक व्यक्ति या सम्पूर्ण समाज के व्यवहार को निर्देशित व समेकित करने की अद्‌भुत क्षमता होती है। रीतिकालीन कवि दीनदयाल गिरि मानवीय जीवन-मूल्यों के प्रबल पैरोकार हैं। वे कई रूपों में उनके हिमायती, सृजनकर्त्ता और उपयोगकर्त्ता भी हैं। उनके काव्य में उल्लिखित सत्य, सज्जनता, साहस, पराक्रम, परिश्रम, दया, प्रेम, परोपकार, निष्पक्षता, करुणा आदि उदात्त जीवन-मूल्यों का महत्त्व, प्रासंगिकता व अनुकरणीयता प्रत्येक परिवेश में असंदिग्ध और निर्विवाद है। दीनदयाल गिरि का काव्य नैतिक जीवन-मूल्यों की स्थापना के आलोक में मानव-कल्याण के उत्स तक पहुँचने का सार्थक प्रयास है।

4.5.2. दीनदयाल गिरि : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

नीति-काव्यधारा में प्रतिभावान् दीनदयाल गिरि का योगदान विशिष्ट, रचनात्मक एवं गुणात्मक है। लौकिक विषयों पर उनकी अन्योक्तियाँ नीतिकाव्य में मूर्धन्य स्थान रखती हैं। सामाजिक-कल्याण तथा सांसारिक व्यावहारिकता के दृष्टिकोण से दीनदयाल गिरि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में कोई फाँक नहीं है। आमजन के हितार्थ कविवर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व सदाचरण एवं चरित्र-निर्माण का पुख्ता मार्ग प्रस्तुत करता है।

4.5.2.1. व्यक्तित्व

दीनदयाल गिरि मथुरा जिले के बरसाना गाँव के महात्मा थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार इनका जन्म वर्ष 1802 ई. में काशी के गायघाट नामक मुहल्ले में हुआ। बचपन में लगभग साढ़े छह वर्ष की आयु में ही उनकी माता का देहान्त हो गया। उसके लगभग छह महीने पश्चात् पक्षाघात रोग की वजह से उनके पिता की भी मृत्यु हो गई। इनके नाम के विषय में कोई मतभेद नहीं है। प्रायः उनकी सभी रचनाओं में उनके अपने नाम का उल्लेख मिलता है। गोस्वामी कुशागिरी उनके गुरु स्वीकार किए जाते हैं। दीनदयाल गिरी के गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। बीस वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया था। डॉ॰ भोलानाथ तिवारी के अनुसार उनकी मृत्यु वर्ष 1858 ई. में हुई।

4.5.2.2. कृतित्व

कविवर दीनदयाल गिरि की समस्त रचनाओं को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है – शृंगारविषयक और नीतिविषयक । डॉ॰ रामस्वरूप शास्त्री, डॉ॰ भोलानाथ तिवारी, डॉ॰ रामदास आदि विद्वानों के अनुसार 'दृष्टान्ततरंगिणी', 'विश्वनाथनवरत्न', 'अनुरागबाग', 'वैराग्यनिदेश', 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' तथा 'अन्योक्तिमाला' उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं । 'दृष्टान्ततरंगिणी' दीनदयाल गिरि की प्रारम्भिक रचना है जहाँ नीति के सारगर्भित उपदेश मिलते हैं । दूसरी रचना 'विश्वनाथनवरत्न' है । इसका रचनाकाल सं. 1879 वि. माना जाता है । इसमें भगवान् शंकर के प्रति कवि की भावाभिव्यक्ति है। 'अनुरागबाग' एक शृंगारप्रधान रचना है जिसकी रचना गिरि जी ने सं. 1888 वि. में की है। इसमें सुन्दर कवित्तों में उन्होंने राधा-कृष्ण के शृंगार का सुन्दर एवं मर्यादितवर्णन किया है । यहाँ राधाकृष्ण विषयक मधुर भाव के चित्र हैं किन्तु कहीं भी अश्लीलता नहीं आने पाई है । 'वैराग्यनिदेश' में कवि ने मनोहारी रूप में ऋतुओं के वर्णन के साथ ज्ञान और वैराग्य से सम्बद्ध विविध प्रकार के आध्यात्मिक चित्र अंकित किए हैं। दीनदयाल गिरि की सर्वाधिक प्रसिद्धि उनकी महत्त्वपूर्ण रचना 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' की वजह से है । यह एक नीतिप्रधान प्रौढ़ रचना है । इसमें मानव और प्रकृति के विविध क्षेत्रों से सम्बन्ध रखने वाली उत्कृष्ट कोटि की अन्योक्तियाँ हैं । डॉ॰ रामदास का मानना है कि हिन्दी में यह कल्पद्रुम सबसे बड़ी अन्योक्तिमय रचना है । दीनदयाल गिरि की समस्त अन्योक्तियाँ प्राय: नीतिविषयक ही हैं । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त काशी नागरीप्रचारिणीसभा ने दीनदयाल गिरि के चार अन्य ग्रन्थों 'चकोरपंचक', 'काशी पंचरत्न', 'दीपकपंचक' और 'अन्तर्लापिका' का भी उल्लेख किया है । सभी ग्रन्थों में गिरि जी की भाषा और भाव पूर्णतया परिमार्जित है ।

4.5.3. दीनदयाल गिरि का युगबोध एवं मानव-दर्शन

वैश्वीकरण ने दुनिया को छोटा कर दिया है । विश्व सिकुड़कर एक गाँव हो गया है । सामाजिक दृष्टि से इसके लाभ भी हैं किन्तु इसका विपरीत परिणाम यह हुआ है कि मानवीय जीवन-आदर्श एवं नैतिक मूल्यगड्ड-मड्ड होने लगे हैं । एक राष्ट्र में जिन जीवन-आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों को स्वीकार किया जाता है ज़रूरी नहीं कि वे सब ज्यों के त्यों अन्य राष्ट्रों में भी स्वीकार्य हों । वस्तुत: किसी राष्ट्र विशेष के जीवन-आदर्शों एवं नैतिक मूल्यों को अन्य राष्ट्रों पर थोपना भी किसी राष्ट्र विशेष के सन्दर्भ में अन्तत: आत्मघाती प्रयास होगा । तथापि कुछ शाश्वत एवं नित्य स्थायी जीवन-मूल्यों की निरन्तरता प्रत्येक राष्ट्र और प्रत्येक युग में एकमत से स्वीकार की जाती रही है । उन्हीं को जीवित बनाए रखना सहृदय साहित्यकार का लक्ष्य होता है । मानव की आधुनिकता और भौतिक चकाचौंध से प्रभावित भोगवादी प्रवृत्ति नयी नहीं है । अतीत भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहा है । मानवीय मूल्यों एवं नैतिक आदर्शों की सिकुड़न की अनुभूति से रीतिकालीन रचनाकार कभी अलग नहीं रहे । तत्युगीन परिवेश में भी कवियों का एक वर्ग शृंगार और दरबारी संस्कृति से सर्वथा विलग रहकर मानवीय मूल्यों की रक्षा हेतु निरन्तर साधनारत रहा । दीनदयाल गिरि ऐसे ही रीतिकालीन रचनाकार हैं जो जनमानस को सुन्दर, हितकर और मांगलिक बनाने के निमित्त साहित्य का विधान करते हैं । उनकी रचनाएँ तन्त्र-समूहों को जोड़कर समाज में एकसूत्रता कायम करने का अद्‌भुत प्रयास करती हैं । रीतिकालीन परम्परा में बहुत हद तक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक संक्रमण का सर्वाधिक पीड़ादायक पक्ष अजनबियत और परायापन है

जिसकी बाढ़ समाज को चाक-चाक कर बिखरा देती है। इसलिए युगीन चेतना के आलोक में दीनदयाल गिरि जैसे कवि का मानव जीवन-दर्शन जनसामान्य को प्रत्यक्ष वा परोक्ष ढंग से कहीं-न-कहीं अजनबियत और परायेपन की प्रतीति कराता है। वे अपनी रचनाओं में ज्ञान, गरिमा, त्याग, करुणा, सहिष्णुता, शील, मर्यादा, शान्ति, सभ्यता एवं संस्कृति के समन्वयन की बात करते हैं। उनकी युगीन चेतना एवं मानवजीवन-दर्शन की परिधि इतनी विस्तृत और व्यापक है कि उसमें ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन, सामान्य-विशिष्ट सभी पक्ष सहज ही समाहित हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में मनुष्य का जीवन तभी सफल और उदात्त है जब वहाँ शौर्य, धैर्य, सत्य, बल, मर्यादा, विवेक, परोपकार, क्षमा, समता, उत्सर्ग और ज्ञान मानवीय सदाचरण तथा व्यवहार के निकष होते हैं।

4.5.4. दीनदयाल गिरि का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

कवि दीनदयाल गिरि के काव्य में नैतिक जीवन-मूल्यों का अनुशीलन करने पर अनेक महत्त्वपूर्ण एवं जीवनोपयोगी तथ्य सामने आते हैं। अपने काव्य में वे वैयक्तिक जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना हेतु सतत प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। वे सज्जनों की प्रशंसा और दुर्जनों की निन्दा करते हैं, कृतघ्नता को बड़ा पाप मानते हैं। सामाजिक-सांस्कृतिक नीति के निहितार्थ उन्होंने पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन-मूल्यों की उपयोगिता को उद्घाटित किया है। अपनी धार्मिक-नैतिक चेतना में वे ईश्वर के प्रति असीम आस्था प्रकट करते हुए धार्मिक आडम्बरों का निषेध करते हैं। सांसारिक माया-मोह के जाल से दूर रहते हुए मोक्ष-प्राप्ति ही कवि दीनदयाल गिरि की आध्यात्मिक नीति का सार है।

4.5.4.1. वैयक्तिक नीति

वैयक्तिक नीति के आलोक में कवि दीनदयाल गिरि व्यक्ति के चारित्रिक जीवन-मूल्यों पर विशेष बल देते हैं। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ चारित्रिक मूल्य एवं नैतिक आदर्श ही किसी व्यक्ति को सज्जन बनाते हैं। नीति-प्रतिपादन में वे सज्जनता के गुण को अपना अभीष्ट स्वीकार करते हुए उसे सभी के लिए अनुकरणीय बताते हैं और दुर्जनता को त्याज्य सिद्ध करते हैं।

सज्जन व्यक्ति के गुण की तुलना वे शरद ऋतु के सुखकारी स्वरूप से करते हैं। शरद ऋतु को सम्बोधित करते हुए वे कहते हैं – हे शरद ऋतु ! तुम्हारे गुण सज्जनों की तरह हैं। तुम्हारे आगमन के साथ ही चन्द्रमा, शुक्र और बृहस्पति ग्रहों से अम्बर सुशोभित हो रहा है। जीवों के मन में प्रसन्नता का आधिक्य है क्योंकि उनके कष्टों को तुमने पीस कर चूर-चूर कर डाला है। चहुँओर पवित्र कमल खिले हुए दिखाई देते हैं। इसलिए हे शरद ! तुम तो संसार के लिए सुखदायी हो। कहाँ तक तुम्हारी प्रशंसा करें, हंस भी तुम्हारी छवि पर मोहित होकर आनन्दमय हैं –

पाई छवि द्विजराज कबि गुरुवर अंबर सोह।
दरे दरद हे सरद हिय करे मोद संदोह।
करे मोद संदोह धरे गुन सज्जन केरे।
कुवलय खरे विकास भरे भासैं चहुँ फेरे।

बरनै दीनदयाल जगत के तुम सुखदायी।
करिये कहा प्रसंस हंस बिलसैं छबि पाई ॥

इसी अनुक्रम में दुष्ट व्यक्तियों की तुलना हेमन्त ऋतु से करते हुए वे कहते हैं – हेमन्त के आते ही दुनिया काँपने लगती है। चकवा पक्षी, कमल आदि सरल पक्षी दुखी हो जाते हैं। दग्धशीला अग्नि संसार को प्रिय लगने लगती है। चन्द्रमा सुख की जगह दुःखदायी प्रतीत होने लगता है। सबके मित्र सूर्य का प्रभाव घट जाता है। बेचारे दाँत तो काँप ही उठते हैं। जबकि कामीजन हेमन्त के आने से प्रसन्न होते हैं –

आवत ही हेमंत तक कंपन लगो जहान।
कोक कोकनद भे दुखी अहित भये जगप्रान।
अहित भये जगप्रान संग जबहीं तुव पाए।
दुखद भए द्विजराज मित्र निज तेज घटाए।
बरनै दीनदयाल दीन द्विज पाँति कंपावत।
कामिन को भो मोद एक ही तो जग आवत ॥

कृतघ्नता व्यक्ति का सबसे बड़ा अवगुण है। यह भयानक पाप है जिसकी जितनी भी निन्दा की जाय, कम है। वायु को माध्यम बनाकर कवि दीनदयाल अपकार और कृतघ्नता की निन्दा करते हुए चेतावनी देते हैं। वे कहते हैं – हे वायु ! तू जिन वृक्षों का सुवास लेकर सर्वत्र सुगन्ध बिखेरता है और यश पाता है, उन्हीं को तोड़कर, उखाड़कर और पछाड़कर प्रभंजन के नाम से कुख्यात हो चुका है। तू जिन वृक्षों की ठण्डी छाँह में रहता है दावाग्नि लगने पर उन्हीं को आग में झोंक देता है। तेरी इन्हीं कुचेष्टाओं के फलस्वरूप धारा अब तो वृक्षहीन मरुभूमि रह गई है। अपकार के परिणामों की ओर संकेत करते हुए वायु के माध्यम से दीनदयाल गिरि चेतावनी देते हैं कि अरे दुष्ट ! अब तुम्हें भी इसी मरुभूमि में रहना पड़ेगा। यही तेरे अपकार का फल है –

जिन तरु को परिमल परसि लियो सुजस सब ठाम।
तिन भंजन करि आपनो कियो प्रभंजन नाम।
कियो प्रभंजन नाम बड़ो कृतघ्न बरजोरी।
जब जब लगी दवागि दियो तब झोंकि झकोरी।
बरनै दीनदयाल सेउ अब खल थल मरु को।
लै सुख सीतल छाँह तासु तोय्यो जिन तरु को ॥

भूतल का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कवि दीनदयाल व्यक्ति को सहनशील बनने की सीख देते हैं। वे कहते हैं – हे भूतल ! संसार में तुम्हारा बड़ा सुयश है। तुम्हारे जैसा सहनशील कौन होगा जो सबका भार सहता है। बड़े-बड़े पर्वतों का भार तुम इतने धीरज के साथ सहते हो। यहाँ तक कि अथाह समुद्र को भी तुमने किरीट की तरह धारण कर रखा है। तुम्हारा यश उज्ज्वल है। सब तुम्हें दबाते हैं परन्तु हे नाथ ! तुम सभी के अपराध क्षमा कर उन्हें आश्रय प्रदान करते हो –

भूतल तो महिमा बड़ी फैल रही संसार।
छमासील को कहि सकै सहत सकल के भार।
सहत सकल के भार धराधर धीर धरे हो।
पारावार अपार धार सिर क्रीट करे हो।
बरनै दीनदयाल जगो जग है जस उजल।
सबकी छमत गुनाह नाह तुम सबके भूतल॥

भौतिक सुखों की प्राप्ति होने के उपरान्त मनुष्य हृदय में पद और यश की आकांक्षा जन्म लेती है। कविवर दीनदयाल व्यक्ति में यश की चाह को मानवीय प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं लेकिन साथ ही मनुष्य को सतत अपने कर्म में निरत रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं –

सुनिये मीत गुलाब अलि क्यों मन रहि है रोकि।
रहित न धीरज रसिक चित, कुसमित कली बिलोकि।
कुसमित कली बिलोकि, चहूँ दिसि भरत भाँवरी।
ताहि न कंटक बेधि करौ मत बिकल बावरी।
बरनै दीनदयाल पालि हित अपनो गुनिये।
रस पराग जुत रागे सुगंधहि दै जस सुनिये॥

कवि दीनदयाल पुष्प के माध्यम से व्यक्ति को निरन्तर सजग रहने की सीख देते हैं। चोर, डाकू, कपटी घाट लगाए बैठे हैं जो मौका पाते ही दिन-दहाड़े ही सबकुछ लूट लेते हैं। इनसे सावधान रहना होगा। वे कहते हैं –

दीने ही चोरत अहौ इन सम चोर न और।
तिहारे सुजस जें दूसरो न वारो कछु ठौर।
सजग रहो या ठौर और राखिये रखवारे।
ना तो परिमल लूटि लेहिंगे सबै तिहारे।
बरनै दीनदयाल रहो हो मित्र अधीने।
भली करत रैन कपाट रहत हो दीने॥

इस प्रकार वैयक्तिक नीति में कविवर दीनदयाल व्यक्ति के सदाचरण एवं व्यवहार के परिमार्जन पर विशेष बल देते हैं क्योंकि परोपकार, त्याग, सज्जनता आदि मानवीय गुण ही मनुष्य के व्यक्तित्व को श्रेष्ठ एवं उदात्त बनाते हैं।

4.5.4.2. सामाजिक नीति

सामाजिक नीति एवं दर्शन में सामाजिक-संरचना की उल्लेखनीय भूमिका होती है । वर्ण-व्यवस्था परम्परागत भारतीय समाज का मूल आधार है । रीतिकालीन नीतिकवियों में दीनदयाल गिरि ने भारतीय वर्ण-व्यवस्था के परम्परागत रूप और सम्बन्धित नैतिक मूल्यों को अपने काव्य में प्रभावी ढंग से व्यक्त किया है ।

अपनी महत्त्वपूर्ण कृति 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' की तीसरी शाखा में सर्वत्र उन्होंने किसी-न-किसी जाति विशेष का प्रभावी व नीतिसम्मत वर्णन किया है। उदाहरण के तौर पर ब्राह्मण को सम्बोधित करते हुए दीनदयाल गिरि कहते हैं कि हे पाण्डे ! इस बात को भली-भाँति से समझ लो कि इस गाँव में कोई अच्छी बुद्धि वाला नहीं है। यह तो गँवारों का गाँव है। यहाँ तो सब पशुओं के संग बसने वाले और वैसा ही व्यवहार करने वाले लोग निवास करते हैं। तुम इनको इतिहास, कथा-पुराण, ज्ञान की बातें सुनाने की मत सोचो। बरतन में छाछ भरकर शीघ्र अपना मूल रास्ता पकड़ो –

हे पांडे यह बात को को समुझे या ठाँव।
इवै न कोउ हैं सुधी यह ग्वारन को गाँव।
यह ग्वारन को गाँव गाँव नहिं सूधे बोलैं।
बसै पसुन के संग अंग ऐंड़े करि डोलैं।
बरनै दीनदयाल छाँछ भरि लीजै भांड़े।
कहा कहो इतिहास सुनै को इत हे पांडे॥

गुरु व्यक्ति व समाज का निर्माता होता है। भक्त कवियों की भाँति दीनदयाल गिरि गुरु-महिमा को व्यापक ढंग से उद्घाटित करते हैं। उनके अनुसार गुरु ही ज्ञान का एकमात्र आधार और प्रणेता होता है। सूर्यरूपी गुरु के आने से ही शिष्यों का अन्धकाररूपी अज्ञान छँट सकता है। कविवर सलाह देते हैं कि जो इन्द्रियों को अपने वश में कर चुका हो, ऐसे व्यक्ति को अपना गुरु चुनना चाहिए –

कासों हनिये कोप को कापै पैये ज्ञान।
गुरु मौन सैनहिं कह्यौ छिति छवै के धरि कान।
छिति छवै के धरि कान दसन रवि फेरि लखाए।
देखि केस की ओर सुनैन कपाट लगाए।
बरनै दीनदयाल सिख्य गुरु की करुना सों।
समुझि लई सब सैन, बैन तिन कह्यौ न कासों॥

परिवार समाज की पहली इकाई है और नारी परिवार की धुरी होती है। दीनदयाल गिरि तत्युगीन परिवेश के अनुरूप नारी की स्थिति पुरुष के साथ होने में ही स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि यदि पुरुष है तो नारी का अस्तित्व है, अन्यथा नहीं। तभी तो वे पति के मरने के साथ ही नारी के भी सती होने की बात को नीतिसम्मत मानते हैं –

पति की संगति ही सती लै सुगती इहि आगि।
धरे सिंधोरा कर परे अब दै डगमग त्यागि।
अब दै डगमग त्यागि भागि जनि चेति चिता कों।
जरे मरे सिधि पाउ कलंक न लाउ पिता कों।
बरनै दीनदयाल बात यह नीकि मति की।
सुजस लोक, परलोक श्रेय, ले संगति पति की॥

किसी रचनाकार की कृतियों में समाज के विविध आयामों से जुड़े मूल्य एवं आदर्श ही उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता को दर्शाते हैं। सामाजिक कल्याण तथा सांसारिक व्यावहारिकता के ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से कविवर दीनदयाल का नीतिकाव्य परमोत्तम और लोकहितकारी सिद्ध हुआ है। किसी क्रूर के सम्बन्ध में चन्द्रमा को सम्बोधित करते हुए दीनदयाल गिरि ने सामाजिक सदाचरण बरतने की सीख प्रदान की है –

केतौ सोम कला करौ, करौ सुधा कौ दान।
नहीं चंद्रमणि जो द्रवै यह तेलिया परवान॥
यह तेलिया परवान बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटीं याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चन्द ! तुम ही चित चेतौ।
कूर न कोमल होहिं कला जो कीजै केतौ॥

4.5.4.3. अर्थ नीति

लक्ष्मी स्वभावतः चंचला है, यह आने के साथ ही अपने जाने का मार्ग खोज लेती है। इसीलिए दीनदयाल गिरि धन पर अभिमान न करने की नीतिसम्मत सीख देते हैं। इस सन्दर्भ में वे बादल और बिजली का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए कहते हैं – हे बादल ! बिजली के कुसंग से तुम भी बिगड़ गए हो। लेकिन संभल जाओ। यह तो स्वभाव से चंचल है। यह सदा तुम्हारे साथ नहीं रहेगी। इसके साथ रहकर तुम अपयश न कमाओ। बादल और बिजली के माध्यम से वे आर्थिक सन्दर्भों में मार्गदर्शन करते हैं –

चपला संगति ते भयो घन तव चपल सुभाव।
ता छिन तें बरखन लगे अमरित को तजि ग्राव।
अमरित को तजि ग्राव हनत को तुम्है निवारै।
अहो कुसंग प्रचंड काहि जग में न बिगौरे।
बरनै दीनदयाल रहैगि न है यह सचला।
ताबस आजस न लेहु, देहु चित, है चल चपला॥

मितव्ययता व्यक्ति का सद्गुण है। धन कमाने से ज्यादा ज़रूरी है उसे बचाना। इसलिए बचत को भी एक प्रकार की कमाई कहा गया है। कवि दीनदयाल धन को वृथा न खोने की सीख देते हैं। धन ऐसी अनमोल वस्तु है जिसे लूटने के लिए लुटेरे सर्वत्र तैयार हैं –

वारे को तू बनिक है सौदा लै इति हाट।
चौमुख बनो बाज़ार है बहु दुकान को ठाट।
बहु दुकान को ठाट कोउ साँची कोउ झूठी।
आछी भाँति विचार वस्त्र लै बड़ी अनूठी।
बरनै दीनदयाल खोउ धन वृथा न प्यारे।
घर आवेगो काम इते सब लूटन वारे॥

कविवर दीनदयाल धन को अनमोल कहकर उसकी रक्षा करने की सीख देते हैं परन्तु धनवान् होने पर ज़रूरतमंद लोगों की सहायता करने का उपदेश भी उन्होंने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है। वे धनवानों को लक्ष्य कर मेघ को कहते हैं – हे मेघ ! ज़रूरतमंद चातक सारे नदी व सरोवर को छोड़कर एक बूँद की आशा में तुम्हारे पास आया है। यह बूँद देकर उसे जीवन दान दे दो। लेकिन तुम तो उसका निरादर कर रहे हो। हे मेघ ! चातक की उम्मीद को पूरा कर संसार में यश कमाओ –

आयो चातक बूँद लगि सब सर सरित बिसारि।
चहियत जीवनदान, तिहि निरदै पाहन मारि।
निरदै पाहन मारि पंख बिन ताहि न कीजै।
याहि रावरी आस प्यास हरि जग जस लीजै।
बरनै दीनदयाल दुसह दुःख आतप तायो।
तृषावंत हित पूर दूर ते चातक आयो॥

फल आने पर वृक्ष नीचे की ओर झुकते हैं, नये जल से भरे श्यामवर्णी मेघ भी नीचे की ओर झुकते हैं और समृद्ध होने पर सज्जन विनम्र होते हैं। जो लोग धन का अभिमान कर उद्धत हगो जाते हैं उन्हें लक्ष्य कर समुद्र का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुए दीनदयाल गिरि कहते हैं – हे समुद्र ! तुझे धिक्कार है। तू गरजता तो बहुत है, ऐंठता भी बहुत है लेकिन वास्तव में तू किसी काम का नहीं है। कुएँ की खोज में भटकते प्यासे प्राणियों को अपना ज्वार-भाटा का खेल दिखाकर तू वैभव दिखाना चाहता है। परन्तु तू तो किसी को चुल्लू भर पानी देने लायक भी नहीं है। हवा के झोंकों से लहराकर, गरज-तर्जन कर तू चंचल मौजी के रूप में विख्यात तो हो गया हैलेकिन इन सबका कोई अर्थ नहीं है क्योंकि तू किसी की ज़रा सी भी सहायता नहीं कर सकता है –

गरजै बातन तें कहा धिक नीरधि, गंभीर।
बिकल बिलोकैं कूप-पथ तृषावंत तो तीर।
तृषावंत तो तीर फिरैं तोहि लाज न आवै।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै।
बरनै दीनदयाल सिंधु तोकों को बरजै।
तरल तरंगी ख्यात बृथा बातन तें गरजै॥

अभावग्रस्त व्यक्ति जब अचानक कोई बड़ी उपलब्धि हासिल कर लेते हैं तो उनकी चाल-ढाल, रहन-सहन, खान-पान, आचरण-व्यवहार, बात करने के अंदाज़ में दर्प नज़र आने लगता है। कविवर दीनदयाल ऐसे मदमस्त लोगों को नद और समुद्र का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सावधान करते हैं – हे नद ! समुद्र में मिलकर बड़ा हो जाने का अभिमान मत कर। तू विनम्र होकर चल, क्योंकि तू यह भूल रहा है कि बड़ा हो जाने यानी समुद्र में मिल जाने के उपरान्त तेरा जल खारा हो जाएगा। बड़वानल की ज्वाला भी तुझे झुलसाएगी। तेरा अपना अस्तित्व, नाम-रूप सब मिट जाएगा। तेरे जल को कोई छुएगा भी नहीं। हे नद ! ब्याज तो छोड़, कहीं तू अपना मूल भी न खो बैठे। कविवर दीनदयाल कहते हैं –

सिंधु बड़ाई भूलि जनि नद, नमि के चलि चाल।
सहिबो परिहै खार ह्वै बड़वानल की ज्वाल।
बड़नावल की ज्वाल नाम रूपहु मिटि जैहै।
ह्वै ह्वै अधिक अपीव जीव कोउ नीर न छवैहै।
बरनै दीनदयाल ब्याज की कहा चलाई।
जैहै मूल नसाय पाय नद सिंधु बड़ाई॥

विवेकवान् मनुष्य कोई भी कार्य बहुत सोच-विचारकर प्रारम्भ करते हैं जबकि मूर्ख व्यक्ति बिना सोचे-समझे व्यर्थ परिश्रम करते हैं। जो कार्य उपादेय नहीं है और जिससे कोई भी परिणाम प्राप्त होना असम्भव है उसमें श्रम करना व्यर्थ है। कविवर दीनदयाल अर्थ के संयमित और विवेकपूर्ण उपयोग का समर्थन करते हुए कहते हैं कि सम्पन्न व्यक्ति अपना धन ऐसे कार्यों में व्यर्थ नहीं करना चाहिए जिनका परिणाम असम्भव हो। उन्हें अपने धन से सद्पात्र की मदद करनी चाहिए। कुपात्र की मदद करना अपने धन को नष्ट करना है –

बरखै पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तौ ऊसर भूमि अंकुर जमिहैं नाहिं॥
अंकुर जमिहैं नाहिं बरख सत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा बृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरखै॥

अभिप्राय यह है कि हे बादल ! तू अपनी मनमर्जी से कहीं भी बरस जाता है। यह तो देख कि यह ऊसर भूमि है। यहाँ बरसने से क्या लाभ होगा। क्या तेरे बरसने से यहाँ अंकुर फूट जाएगा। अरे, तेरा तो श्रम व्यर्थ ही चला जाएगा। तुझे ठौर-कुठौर, उचित-अनुचित का विवेक भी तो करना चाहिए।

4.5.4.4. राज्य नीति

कविवर दीनदयाल गिरि अपने काव्य में राजा के आदर्शों एवं कर्त्तव्यों पर नीति-सम्मत प्रकाश डालते हैं। ऋतुराज बसन्त के माध्यम से वे कल्याणकारी राजाओं के गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं तथा उन गुणों की सहज व्याख्या करते हैं। ऋतुराज बसन्त की भाँति उपकारी और कल्याणकारी राजा जगत् को सुख-शान्ति प्रदान करता है। वह जनजीवन में नवीन आशा का संचार करता है। वह अपनी प्रजा और सेना को प्रसन्न रखता है। राजा की लोकहित बातें प्रजा के समस्त संताप मिटा देती हैं। उदात्त व महान् राजा के हृदय में भगवान् माधव की मनोहारी वाणी जैसे परम सुखदायी व हितकारी वचन विराजते हैं –

हितकारी ऋतुराज तुम साजत जग आराम।
सुमन सहित आसा भरौ दलहि करौ अभिराम।
दलहि करौ अभिराम कामप्रद द्विज गुन गावैं।
लहि सुबास सुखधाम बात पर ताप नसावैं।

बरनै दीनदयाल हिये माधव धुनि प्यारी।
स्रवन सुखद सुखबैन बिमल बिलसै हितकारी॥

दूरदर्शी राज्यनीति के सन्दर्भ में कवि दीनदयाल गिरि राजा को चेतावनी देते हैं कि यशस्वी राजा को छोटी-छोटी बातों पर निन्दा का पात्र नहीं बनना चाहिए तथा निन्दनीय कर्म नहीं करने चाहिए –

गाये सुजस समूह तब कविराजन अवदात।
फैली महिमा रावरी महिमा मंडल में ख्यात।
महिमा मंडल में ख्यात फाग रागन को गावैं।
शिशिर सु आप प्रसाद जगत सबहीं सुख पावैं।
बरनै दीनदयाल कुंद मिस तो जस छाए।
एक विचारे पात तिन्हैं उतपात लगाए॥

वस्तुतः किसी राज्य में समुचित शासन-व्यवस्था ही राज्यनीति का आधार-स्तम्भ होता है और राजकीय दायित्वों के निर्वहन में राज्यनीति ही अभिप्रेरक एवं मार्गदर्शक होती है। इस प्रकार दीनदयाल गिरि राजा अथवा शासक के आदर्शों एवं दायित्वों को ही राजनैतिक मूल्यों का मूल आधार स्वीकार करते हैं।

4.5.4.5. धार्मिक नीति

धर्म की अवधारणा एवं उसका स्वरूप व्यापक है। इसमें जीवन का लगभग प्रत्येक पक्ष जैसे आर्थिक, नैतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक आदि समाहित हो सकता है। लेकिन व्यावहारिक अर्थ में धर्म किसी उदात्त व श्रेष्ठ शक्ति पर विश्वास करके प्रार्थना, आराधना, गुणगान आदि के माध्यम से भावात्मक, दासात्मक, सख्यात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की पद्धति से है। रीतिकालीन कवि दीनदयाल गिरि अपनी उल्लेखनीय कृति 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' के आरम्भ मंगलाचरण द्वारा भगवान् गणेश और श्रीकृष्ण की वन्दना करते हैं –

बंदौ मंगलमय विमल व्रज सेवक सुख देन।
जोकरि-वर-मुख मूक ही गिरा नचाव सुखेन।
गिरा नचाव सुखेन सिद्धिदायक सब लायक।
पसुपतिप्रिय हियबोधकरन निरजर गननायक।
बरनै दीनदयाल दरसि परद्वन्द्व अनंदौं।
लंबोदर मुदकंद देव दामोदर बंदौ॥

धार्मिक मूल्यों की सैद्धान्तिक पीठिका का निरूपण करते हुए कवि दीनदयाल गिरि पूजा-अर्चना, भजन-कीर्तन करते हुए अपने आराध्य में परम आस्था रखने की सीख देते हैं। कवि दीनदयाल की दृष्टि में व्यक्ति का अपने उपास्य के प्रति निष्ठावान् होना उसकी नैतिकता की प्रवृत्ति को विकसित करता है। आराध्य के अनुग्रह से ही सद्बुद्धि बनी रहती है। अपने आराध्य श्रीकृष्ण से जीवन के समस्त संताप दूर करने का निवेदन करते हुए वे कहते हैं –

अभिनव घनस्यामैं ध्याउ आभा सु जामैं।
बिसद बकुल माला सोभती हैं बिसाला।
द्विजगन हरखावैं ध्यान में मोद पावैं।
पथिक नयन दीजै ताप को सांत कीजै॥

4.5.4.6. आध्यात्मिक नीति

कवि दीनदयाल गिरि धर्म को परमात्मा से भावात्मक सम्बन्ध जोड़ने की प्रक्रिया मानते हैं जबकि अध्यात्म आत्मा व परमात्मा से सम्बन्धित रहस्यों को जानने की जिज्ञासा और उसका समाधान है। इस आलोक में जीव को एक चित्रकार मानते हुए वे कहते हैं कि हे जीव ! तू क्यों भूल रहा है कि यह सारा संसार ही तेरा बनाया हुआ है। इस चराचार जगत् में जितने चित्र हैं वे तेरे ही तो बनाए हुए हैं। उन चित्रों में रंग भरने वाले अब तू खुद ही यह सब क्यों भूल रहा है। दीनदयाल गिरि आत्मा-परमात्मा में विभेद का निषेध करते हैं। वे आत्मा को परमात्मा का ही अंश मानते हुए जीव को स्वयं के मूल स्वरूप को पहचानने की सीख देते हैं –

क्यों है भूलत लखि इन्हैं अरे चितेरे चेत।
ए तो अपने ऐन में रचे आपने हेत।
रचे आपने हेत चराचर चित्रहिं तूने।
डरै भ्रमै मति तोहि बिना हैं ये सब सूने।
बरनै दीनदयाल चरित अतिअचरज या है।
रंगे आपने रंग तिनै लखि भूलत क्या है॥

चिन्तनपरक आध्यात्मिक चेतना के आलोक में कविवर दीनदयाल जीव की मुक्ति की बात करते हैं। उनका विश्वास है कि पाँचों विषयों को नियन्त्रण में रखने तथा सदैव समर्पित भाव से भगवान् के सम्मुख रहने से यानी अहर्निश ईश्वर में लीन रहने से जीवात्मा को आवागमन के चक्र से मुक्ति मिल सकती है। वे मन को समझाते हुए कहते हैं कि हे खिलाड़ी ! अब इस बार तू चूकना मत। अब अपना पंजा संभाल ले अर्थात् पाँचों विषय-विकारों पर नियन्त्रण कर ले। इस बार तेरा दाँव अच्छा बन पड़ा है। चौरासी लाख योनियों को भुगतकर बड़े भाग्य से इस बार तूने मानव-जीवन पाया है। इस बार खूब तैयारी कर ले और अपना मुख ऊर्ध्वगामी ही रख। अबकी बार बाजी (ईश्वर) से तेरा ध्यान नहीं हटना चाहिए, नहीं तो तू बाजी हार जाएगा, अवसर खो देगा। मूर्खों की संगति में पड़कर पहले अनेक बार तू बहुत सी बाजियाँ हार चुका है, अपना मनुष्य जीवन व्यर्थ कर चुका है। इस बार तो अपनी जीत (मुक्ति) सुनिश्चित कर ले –

अहे खेलारी चूक मति पंजा बिरवे संभाल।
परो दाव तेरो खरो करि लै सारी लाल।
करि लै सारी लाल निज चाल न छूटै।
सनमुख ही सुख राखि देख जुग कहू न फूटै।
बरनै दीनदयाल जाति बाजी इहि कारी।
हारी मूढ़न संग बार बहु अहे खेलारी॥

भगवदनुग्रह से ही मुक्ति (मोक्ष) सम्भव है। प्रभु-शरण होने पर जीव को क्रोध, द्रोह, मोह, घृणा आदि कुभाव नहीं सताते हैं। प्रभु-शरण परमानन्दप्रदायी है। ईश्वर-तादात्म्य होने पर भक्त को सदा प्रभु का संग रहता है, वियोग तो कभी होता ही नहीं। मनरूपी चकई को सम्बोधित करते हुए कविवर दीनदयाल कहते हैं कि हे चकई ! तू उस सरोवर में चल जहाँ वियोग की रात्रि नहीं है। वह सरोवर हमेशा निर्मलजल से परिपूर्ण रहता है जिसमें परमहंस तैरते रहते हैं। क्रोध और द्वेष का वहाँ कोई काम नहीं है, सर्वत्र केवल ब्रह्मानन्द है। बड़े भाग्य वाले विरले ही उस सरोवर में पहुँच सकते हैं –

चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस संदोह।
सुहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख अम्बोह मोह दुःख होय न ताके।
बरनै दीनदयाल भाग्य बिन जाय न सकई।
प्रिय मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई॥

'मा' यानी नहीं। 'या' यानी जो। माया का शाब्दिक अर्थ है – वास्तव में जो नहीं है। यह जगत्, जीव, प्रकृति, जड़-चेतन, मान-बड़ाई, धन-वैभव, पद-प्रतिष्ठा, सगे-सम्बन्धी, नाते-रिश्तेदार, मित्र-परिचित, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, बहन-पत्नी, आहार-निद्रा, भय-मैथुन सबकुछ माया का छलावा है। जो कुछ भासित हो रहा है वह सब माया है। जो कुछ दृश्यमान् नहीं है वास्तव में वही नित्य और शाश्वत है। जीव को इस माया के आवरण से परे हो उस नित्य, शाश्वत, सर्वव्यापी ईश्वर की ओर उन्मुख होना चाहिए। भक्त कवियों की भाँति कवि दीनदयाल गिरि भी मनुष्य को माया के जाल से सचेत करते हैं। संसार मरुकूप है, माया छलावा है। वे कहते हैं – हे मरुकूप ! तू बड़ा छलावा है। पथिकों के आँसुओं को झूठ-मूठ जल दर्शाकर तू उन्हें भरमा लेता है और वे अन्ततः तुझमें गिर जाते हैं। हे छलिया ! तेरा हृदय बहुत सूना है उसमें अन्धकार का वास है तथा उसमें जल की कोई आशा नहीं है। तुझसे तो रस्सी वाले लोग भी चकरा गए हैं क्योंकि उनके रस्से व्यर्थ हो गए हैं। अरे ! तूने तो सबकी बुद्धि हर ली है –

पथिकन के आंसुवान को जल दरसाय अलीक।
किनकिन की मति नहिं छली तू मरुकूप छलीक।
तू मरुकूप छलीक, सून हिय, तामस बासा।
खाली धुनि सुनि परै नहीं जीवन की आसा।
बरनै दीनदयाल कला न चलै गुनि जन की।
गुन भो वृथा बिसाल सुमति हारी पथिकन की॥

कवि दीनदयाल कमल का उदाहरण देते हुए सीख देते हैं कि कभी-कभी परम विवेकी और निर्मल पुरुष भी माया के प्रभाववश अपना विवेक खो बैठते हैं। मैल के कीड़ों यानी विषयरस से अठखेलियाँ करते हैं, उसी में लीन रहते हैं। लेकिन जब सूर्यरूपी विवेक का उदय होता है तो कमल उस कीचड़ से निकल कर अपना मुँह उसी की ओर कर लेता है। ज्ञानी पुरुष सद्गुरु की कृपा से अन्ततः माया-मोह से बाहर निकल आता है –

सुनो अरविंद हे मलिन्द बिन सजै नहिं
केलि मलकीटन की रावरे वितान में।
जानैं कहा मंद ये सुगंध मकरंद गुन
गावैं दीनदयाल तक माधुरी जहान में।
तउ यह कला लखि भला नहिं कहैं अब
मूँदि लेहुँ मुख गिने जाहुगे मलान में।
हेरि हँसि और फिरि खोलिहो भए तें भोर
कीजिए सुजान बात चली जो जहान में॥

माया-मोह कागज के नकली फूल के समान हैं जिनमें सुगन्धि नहीं होती। माया-मोहयुक्त जगत् की छटा तो क्षण भर की है जिसमें वास्तविक सुख नहीं है। अपने मत की पुष्टि करते हुए दीनदयाल गिरि कहते हैं –

बौरे, लखि कै लालिमा हे भौरे, मति भूल।
है छलमय पल के असद ये कागद के फूल।
ये कागद के फूल सुगंध मरंद न यामै।
मृदु माधुरी पराग नहीं अनुरागत कामै।
बरनै दीनदयाल चेत चित में इहि ठौरे।
लुटि जैहै यह बाग छन-छन की है बौरे॥

कुल मिलाकर आध्यात्मिक नीति के निहितार्थ कविवर दीनदयाल गिरि अपने काव्य में मानव मन की उन अन्तरंग अभिवृत्तियों को मार्मिक ढंग से उद्घाटित करने का प्रयत्न करते हैं जो कि मूलतः मन, आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित हैं।

4.5.4.7. सांस्कृतिक नीति

भारतीय संस्कृति एवं परम्परा में क्षमा को सबसे बड़ा तप माना गया है और सन्तोष को सबसे बड़ा सुख। व्यक्ति को उद्वेलित होने की बजाय सन्तोषी होना चाहिए क्योंकि सन्तोष से ही परम सुख प्राप्त होता है। दुष्टों की धृष्टता को मन में न लेते हुए क्षमाभाव धारण करना चाहिए। इस सन्दर्भ में दीनदयाल गिरि 'क्षमा' की उदात्तता व श्रेष्ठता की अभिव्यंजना बहुत ही सुन्दर एवं प्रभावी ढंग सेकरते हैं। वे कहते हैं कि हे सज्जन पुरुष! दुष्टों की कटु वाणी का कुछ बुरा न मानो। कुत्ते के भौंकने से सिंह का क्या बिगड़ता है। कुत्ता भौंक-भौंक कर खुद-ब-खुद चुप हो जाता है। अतः दूसरे के क्रोधजनित वाणी सुनकर भी उसे क्षमा कर देना चाहिए और अपना मन मैला नहीं करना चाहिए –

बानी कटु सुनि कोप की क्षमा गहो न गलान।
कहा हानि मृगराज की भूकत जौ लखि स्वान॥
भूकत जौ लखि स्वान हारि मानैगो आपै।
बैठि रहो हे बीर धीर तुम बोलत कापै॥

बरनै दीनदयाल बात बुध बिमल बखानी।
कीजै कछू न सोच सठन की सुनि कटु बानी॥

शरणागत की सहायता एवं रक्षा करना भारतीय संस्कृति की महती विशेषता है। कवि दीनदयाल गिरि क्षमा और शरणागतों की रक्षा करने सम्बन्धी सदाचरणों पर बहुत बल देते हैं क्योंकि ऐसे आदर्श व नैतिक जीवन-मूल्य ही व्यक्ति एवं समाज को श्रेष्ठ बनाते हैं। ये मूल्य ही राष्ट्र की संस्कृति को महान् बनाते हैं। कहना सही होगा कि क्षमा और शरणागत की रक्षा सम्बन्धी मूल्यों में सुख-दुःख, पाप-पुण्य, समय की प्रबलता तथा जगत् की कार्य-कारण शृंखला भी सहज ही समाविष्ट हैं। कविवर दीनदयाल शरणागत की रक्षा सम्बन्धी नैतिक मूल्यों की महत्ता स्थापित करते हुए कहते हैं कि चन्द्रमा ने लाख कलंक सहने के बावजूद भी अपनी शरण में आए मैले मृग को नहीं छोड़ा। यहाँ तक कि राहु के ग्रस लेने पर भी मृग को अपनी गोद में लिए रहा। तभी तो चाँदनी के बहाने उसे यश मिलता है। ऐसे शरणागतरक्षक को जो मैला कहते हैं, वे स्वयं मलिन हैं। हे चन्द्रमा ! तुम तो भगवान् के मन सदृश निर्मल, उज्ज्वल और निष्कलंक हो –

मैलो मृग धारे, जगत नाम कलंकी जाग।
तउ कियो न मयंक तुम सरनागत को त्याग।
सरनागत को त्याग कियो नहिं ग्रसे राहुके।
लिये हिये न रहो तजो नहिं कहे काहुके।
बरनै दीनदयाल जोति मिस तो इस फैलो।
हौ हरिका मन सही करैं नर पामर मैलो॥

4.5.5. दीनदयाल गिरि का नीतिकाव्य और रीतिकाव्य-परम्परा की मूल्य-चेतना

रीतिकालीन परम्परा की मूल्य-चेतना में मानवीय जीवन-मूल्यों की दृष्टि से एक ओर जहाँ सनातन और परम्परागत मूल्यों के अनुपालन का निर्देश मिलता है वहीं दूसरी ओर युगीन मानसिकता के अनुरूप नैतिक मूल्यों में परिवर्तन को भी प्रभावी रूप में उद्घाटित किया गया है। दीनदयाल गिरी अपने काव्य में नित्य व निरपेक्ष तथा अनित्य व परिवर्तनीय मूल्यों के बीच समन्वयन की बात करते हैं। उनकी नीतिपरक रचनाओं में अभिव्यक्त वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों की प्रासंगिकता प्रत्येक युग में विद्यमान है। उनके नीतिवचन शाश्वत जीवन-मूल्यों के अनुसरण की अभिप्रेरणा देते हैं। उनका काव्य समय विशेष की आवश्यकता-अनुरूप सोचने-समझने, विश्लेषण करने और व्यावहारिक निर्णय लेने का विवेक प्रदान करता है।

4.5.6. पाठ सार

स्वभाव से सरल, मृदुभाषी, त्यागी और क्षमाशील रीतिकालीन नीतिकाव्यधारा के लोकप्रिय कवि दीनदयाल गिरि के काव्य में मानवीय जीवनादर्श एवं लोक-कल्याण के निहितार्थ वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक मूल्यों का उद्घाटन उल्लेखनीय है। मानवधर्मी होने के नाते

कविवर दीनदयान तथ्य तथा सत्य को परख की कसौटी बनाते हैं। उनके नीतिकाव्य में मानवहित व लोकमंगल का भाव तीव्रतर होता जाता है। कहना गलत न होगा कि उन्होंने अपनी रचनाओं में मानवीय नैतिक-मूल्यों की बड़ी सहज, नैसर्गिक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति की है। कवि की उदार कोमल वृत्ति के अनुरूप ही उनकी काव्यभाषा भी प्रवाहमयी एवं प्रभावी बन पड़ी है। उन्होंने कहीं भी शब्दों एवं भावों को विकृत करने का प्रयत्न नहीं किया है। उनके मार्मिक व नीतिसम्मत उद्‌गार बहुत ही सहज ढंग से अभिव्यक्त हुए हैं।

4.5.7. कठिन शब्दावली

किरीट	:	मस्तक के आभूषण
मृगराज	:	सिंह
स्वान	:	कुत्ता
मयंक	:	चन्द्रमा
अभीष्ट	:	वांछित, मनोरथ
निकष	:	कसौटी
तृषावन्त	:	प्यासा
निषिद्ध	:	मनाही
परिमल	:	सुगन्ध
पयोद	:	बादल
कुठौर	:	कुपात्र
चपला	:	बिजली
अजस	:	अपयश

4.5.8. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. चतुर्वेदी, डॉ॰ रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और सम्वेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.
2. शर्मा, डॉ॰ शिवकुमार, हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. डॉ॰ नगेन्द्र, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. तिवारी, डॉ॰ भोलानाथ, हिन्दी नीतिकाव्य, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा.
5. शास्त्री, डॉ॰ रामस्वरूप, हिन्दी में नीतिकाव्य का विकास, भारती भाषा प्रकाशन, नयी दिल्ली.
6. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग-2), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. नेगी, डॉ॰ संजीव सिंह, रीतिकालीन नीतिकाव्य की सामाजिक भूमिका, नवराज प्रकाशन, नयी दिल्ली.

4.5.9. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. दीनदयाल गिरि का व्यक्तित्व एवं कृतित्व ।
2. दीनदयाल गिरि की वैयक्तिक नीति।
3. आदर्श राजा के गुण एवं दायित्व।
4. दीनदयाल गिरि की अर्थनीति ।
5. दीनदयाल गिरि की आध्यात्मिक चेतना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "कविवर दीनदयाल गिरि अपने नीतिकाव्य में सामाजिक नीति व अर्थनीति की सुन्दर अभिव्यंजना करते हैं।" स्पष्ट कीजिए।
2. रीतिकालीन नीतिकाव्य-परम्परा के आलोक में दीनदयाल गिरि के रचनात्मक अवदान का निरूपण कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'अनुरागबाग' के रचयिता हैं –
   (क) बिहारी
   (ख) केशवदास
   (ग) रहीम
   (घ) दीनदयाल गिरि

2. दीनदयाल गिरि की अन्तिम रचना कौनसी है ?
   (क) विश्वनाथनवरत्न
   (ख) अन्योक्तिकल्पद्रुम
   (ग) चकोर पंचक
   (घ) काशी पंचरत्न

3. दीनदयाल गिरि की नीतिपरक रचना मानी जाती है –
   (क) दृष्टान्ततरंगिणी
   (ख) अन्योक्तिकल्पद्रुम
   (ग) उपर्युक्त दोनों

(घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. कविवर दीनदयाल गिरि किसको वृथा न खोने की सीख देते हैं ?
   (क) धन
   (ख) परोपकार
   (ग) आस्था
   (घ) निष्ठा

5. दीनदयाल गिरि ने आत्मा को माना है –
   (क) चित्रकार
   (ख) कलाकार
   (ग) साहित्यकार
   (घ) उपर्युक्त सभी

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : अन्य कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 1 : रैदास (रविदास) के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

5.1.0. उद्देश्य कथन
5.1.1. प्रस्तावना
5.1.2. रैदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व
  5.1.2.1. व्यक्तित्व
  5.1.2.2. कृतित्व
5.1.3. रैदास का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
5.1.4. रैदास का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  5.1.4.1. वैयक्तिक नीति
  5.1.4.2. सामाजिक नीति
  5.1.4.3. आर्थिक (श्रम) नीति
  5.1.4.4. राज्य नीति
  5.1.4.5. धार्मिक नीति
  5.1.4.6. आध्यात्मिक नीति
  5.1.4.7. सांस्कृतिक नीति
5.1.5. पाठ सार
5.1.6. कठिन शब्दावली
5.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
5.1.8. बोध प्रश्न

5.1.0. उद्देश्य कथन

सामाजिक सद्भाव और लोक-कल्याण के निहितार्थ सन्त और भक्त कवियों ने अपनी सीधी-सरल वाणी के माध्यम से विभिन्न धर्मों तथा मतों के अनुयायियों के मध्य मेल-जोल और भाईचारा बढ़ाने एवं नैतिकता और जीवन-मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए समय-समय पर महत्वपूर्ण प्रयास किया है। ज्ञानमार्गी सन्त रैदास उन महान सन्तों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं के माध्यम से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करने में महत्वपूर्ण योगदान किया है। लोक-वाणी का प्रयोग इनकी काव्यभाषा की महती विशेषता है जिससे जनसामान्य इनके विचारों से गहरे प्रभावित हुआ। प्रस्तुत इकाई रैदास के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. रैदास के व्यक्तित्व व कृतित्व का अनुशीलन कर सकेंगे।
ii. रैदास की युगीन चेतना एवं मानवीय जीवन-दर्शन से अवगत हो सकेंगे।
iii. रैदास के काव्य में निहित नीति के उल्लेखनीय पक्षों का विवेचन कर सकेंगे।

5.1.1. प्रस्तावना

मध्यकाल में सामन्ती बुनावटों में क्रमशः दरारें पड़ने लगीं और नगरीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई। इसी युग में भक्ति-आन्दोलन का उद्‌भव एवं विकास हुआ। भारतीय दर्शन की श्रवण-परम्परा से सम्बद्ध यह आन्दोलन बहुत तेजी के साथ समूचे उत्तरभारत में फैला। सांस्कृतिक सम्मिश्रण से उपजे भक्ति-आन्दोलन में निम्न वर्णों से सम्बन्ध रखने वाले सन्तों ने मानवीय मूल्यों व जनाकांक्षाओं को अपनी वाणी में विशेष स्थान दिया है। कबीर, दादू, रैदास और राजस्थान के रामसनेही सन्त दरियाव ऐसे ही समाह-सुधारक सन्त हैं जिनकी वाणी केवल आत्मकल्याण और नैतिक-मूल्यों की संस्थापनार्थ कही गई है।सन्त रैदास का काव्य मध्यकाल के सामन्तवादी अँधेरे में मानवतावादी चेतना की प्रखर अभिव्यक्ति है। भारतीय जातीय चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली उनकी कविता को अपने वैविध्य, आनुभूतिक गहराई, लोकव्यापी स्वरूप एवं अखिल भारतीय विस्तार के कारण हिन्दी नीतिकाव्य का एक उल्लेखनीय आधार-स्तम्भ माना जा सकता है।

5.1.2. रैदास : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

सन्तकाव्य में सदाचरण को साधक की साधना का एक अनिवार्य अंग बताया गया है। मानसिक और शारीरिक पवित्रता सदाचार के महत्त्वपूर्ण आलम्बन हैं। सन्त रैदास का जीवन भी उनके विचारों का ही प्रतिफलन है। चूँकि विचारों का निर्माण मूलतः क्षणों में घटित होने से होता है इसलिए जीवन भी कहीं-न-कहीं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में आदतों का अनुगामी होता है। कथनी और करनी की अद्वैतता सन्त रैदास के व्यक्तित्व व कृतित्व की मूल पहचान है। उनकी दृष्टि में आचरण और कथन की एकरूपता से ही मानवीय मूल्यों की सहज उपलब्धि हो पाती है।

5.1.2.1. व्यक्तित्व

सन्त कबीर की भाँति रैदास का जीवनवृत्त विवादास्पद माना जाता है। 'रैदास की परचई' में उनके जन्मकाल का उल्लेख नहीं मिलता है। वैसे भक्तमाल व डॉ॰ भंडारकर के अनुसार उनका जन्म सन् 1299 ई. में हुआ था। डॉ॰ भगवतव्रत मिश्र अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं कि रैदास का जन्मकाल सन् 1398 ई. तथा मृत्युकाल सन् 1448 ई. के मध्य होना चाहिए। हालाँकि, यह भी प्रसिद्ध है कि वे मीराबाई के गुरु थे, ऐसी दशा में सन् 1530 ई. से पूर्व उनका देहावसान नहीं माना जा सकता है। 'मीरा स्मृति ग्रन्थ' में उनका निर्वाणकाल वि.सं. 1576 दिया गया है। अस्तु, इस सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता है। आलोच्य सन्दर्भ में निम्नलिखित दोहा रविदासी सम्प्रदाय में सुविख्यात है –

चौदह सौ तैंतीस की माघ सुदी पंदरास।
दुखियों के कल्यान हित प्रगटे स्री रविदास ॥

उनके नाम के विषय में भी मतभेद है। कुछ विद्वान् उनका नाम रैदास तो अन्य विद्वान् रविदास स्वीकार करते हैं। उनकी कृतियों में भी उनके नाम के सम्बन्ध में यह भिन्नता देखने को मिलती है। सन्त रैदास का जन्म बनारस छावनी के पश्चिम की ओर दो मील दूरी पर स्थित मांडूर गाँव में हुआ जिसका पुराना नाम मंडुवाडीह है। 'रैदास रामायण' में लिखा है –

काशी ढिग मांडूर स्थाना, शूद्र वरण करत गुजराना।
मांडूर नगर लीन अवतारा, रविदास शुभ नाम हमारा॥

स्वामी रामानन्द शास्त्री के अुनसार रैदास के पिता का नाम राघव अथवा रघू तथा उनकी माता का नाम करमा देवी तथा पत्नी का नाम लोना था। सन्त रैदास के गुरु के विषय में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। वैसे तो कुछ विद्वानों ने उनकी गणना रामानन्द की शिष्य परम्परा में की है। परन्तु रैदास ने अपनी वाणी में कहीं भी रामानन्द का न तो उल्लेख किया है और न ही ऐसा कोई संकेत दिया है कि रामानन्द उनके गुरु हैं। "हम अपराधी नीच घर जनमें। कुटुम्ब लोक करे हांसी रे ॥" कहकर उन्होंने अपनी वाणी में अपनी जाति व पेशे का जिक्र किया है। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं –

मेरी जाति कुट बाढ़ला ढोर ढुवंता, नितहि बनारसी आसपासा।
जाति ओछी पाती ओछी, ओछा जनम हमारा।
कहि 'रविदास' खलास चमारा। जो हम सहरी सो मीत हमारा ॥

5.1.2.2. कृतित्व

सन्त रैदास के कृतित्व के बारे में कोई ठोस जानकारी उपलब्ध नहीं है। कबीर की तरह वे भी पढ़े-लिखे नहीं थे। उन्होंने अपनी रचनाओं को स्वयं लिपिबद्ध नहीं किया है। अधिकांशतः वे मौखिक रूप में ही प्रचलित रही हैं। उनकी रचनाओं की जो प्रतिलिपियाँ प्राप्त हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। प्राप्त प्रतिलिपियों में अनेक अशुद्धियाँ और पाठान्तर हैं। ध्यातव्य है कि काशी नागरीप्रचारिणीसभा में संगृहीत विभिन्न गुटकों में, 'दादूपंथ' के धर्मग्रन्थ 'सर्बंगी' व 'पंचवानी' में, 'गुरुग्रन्थ साहिब' में भी सन्त रैदास के पद एवं साखियाँ संगृहीत हैं।

5.1.3. रैदास का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

एक रचनाकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए अपने परिवेश से ही विषय का चयन करता है। समसामयिक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक व सांस्कृतिक शक्तियों के अन्तर्विरोध व संघर्ष उसकी रचनाओं में अभिव्यंजित होते हैं। सन्त रैदास जिस कालखण्ड में रचना कर रहे थे, वह समय सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण समय था। उक्त क्षेत्रों में व्यापक स्तर पर परिवर्तन

हो रहे थे और तत्युगीन रचनाकार अपने समय के अन्तर्विरोधों को समझने तथा उनको अभिव्यक्त करने के लिए संघर्ष कर रहे थे। भक्ति आन्दोलन मनुष्य की सत्ता को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करता है। सहृदय सन्त रैदास की युगीन चेतना एवं मानवीय जीवन-दर्शन में वर्गगत एवं जातिगत भेदभावों तथा धर्म के नाम पर किए जाने वाले सामाजिक उत्पीड़न का विरोध स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ है।

तत्युगीन सामाजिक ढाँचे के दायरे में रहते हुए धर्म को नयी तरह से व्याख्यायित कर जनसामान्य के लिए सहज मार्ग प्रशस्त करना रैदास के काव्य की अन्यतम उपलब्धि कही जा सकती है। मानव-धर्म स्थापना का संकल्प उनके काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है जिसमें मिथ्याडम्बरों का विरोध; मूल्याधारित सरल, निर्भय एवं सहज जीवन-शैली का समर्थन; प्रेमाभक्ति का दिग्दर्शन और सत्संग की महत्ता प्रतिपादित हुई है। मानवीय-मूल्यों के प्रतिष्ठापक सन्त रैदास का काव्य अनादिकाल से त्रस्त, दिग्भ्रमित, सन्तप्त, दुखी, निर्बल, पीड़ित, शोषित, उपेक्षित और भटके हुए मानव समाज को जीने की नयी राह सुझाता है। आत्मविश्वास एवं मानवीयता का सन्देश देने के साथ ही रैदास का काव्य व्यक्ति को मानव-जीवन के मूल उद्देश्य ईश्वर-प्राप्ति का स्मरण कराता है एवं उस हृदयस्थ परमात्मा को घट ही में खोजने का उपदेश करता है।

5.1.4. रैदास का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

रैदास के समय में समाज और धर्म दुरावस्था के दौर से गुजर रहा था। जाति, वर्ग, वर्ण तथा धर्म के आधार पर सामाजिक व्यवहार में भेदभाव, छुआछूत, श्रेष्ठ-हीन, उच्च-नीच की प्रवृत्ति का बोलबाला था। रैदास ने लोगों को चैतन्य किया कि कोई भी मनुष्य अपनी जाति, वर्ग, वर्ण तथा धर्म से बड़ा या छोटा नहीं होता प्रत्युत अपने आचरण और व्यवहार से ही वह उच्च अथवा निम्न होता है। रैदास का मानना है कि सभी प्राणियों को उस ईश्वर ने बनाया है इसलिए सभी के अधिकार समान हैं। जाति, वर्ग, वर्ण तथा धर्म मनुष्य द्वारा निर्मित हैं। किसी जाति, वर्ग, वर्ण तथा धर्म में जन्म लेने मात्र से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं समझा जाना चाहिए। संसार में सभी प्राणी समान हैं। इस प्रकार रैदास ने विश्व-बन्धुत्व और सहिष्णुता का उपदेश दिया। रैदास ने धार्मिक पाखण्डों का पुरजोर विरोध किया। उन्होंने गैरज़रूरी धार्मिक संस्कारों और विधि-विधानों की व्यर्थता सिद्ध कर उपासना की प्रकिया को सरल बनाया। उस समय दलितों द्वारा पूजा-उपासना करना निषिद्ध था। रैदास ने इस उपेक्षा का विरोध किया और दलितों को भी पूजा-उपासना का अधिकार दिलाया। उनका मानना है कि अस्पृश्यों को भी समाज में बराबरी का अधिकार मिलना चाहिये क्योंकि उनके शरीर में भी दूसरों की तरह खून का रंग लाल और पवित्र आत्मा होती है। उनकी निडरता और ईश्वर के प्रति सच्ची आस्था से प्रभावित होकर प्रत्येक जाति और धर्म के लोगों पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा और सभी जाति, वर्ग, वर्ण तथा धर्म के लोग रैदास के अनुयायी और भक्त बन गये। किंवदन्ती के अनुसार मुगल बादशाह बाबर और उसका पुत्र हुमायुँ भी रैदास से प्रभावित हो उनके अनुयायी बन गए थे। उनके अनुयायियों में भक्त कवयित्री मीराँबाई प्रसिद्ध हैं। गुरु रैदास के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए वे कहती हैं –

गुरु मिलिया रविदास जी, दीनी ज्ञान की गुटकी।
चोट लगी निजनाम हरि की, म्हारे हिवड़े खटकी॥

रैदास के लिए ईश्वर-अल्लाह, राम-रहीम और रामचन्द्र-कृष्णचन्द्र में कोई भेद नहीं है इसीलिए अपने काव्य में स्थान-स्थान पर रैदास ने परमात्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। रैदास तीर्थाटन आदि बाह्याडम्बरों के विरोधी हैं। उनका मानना है कि "मन चंगा तो कठौती में गंगा।" आशय यह कि आत्मा का पवित्र होना ज़रूरी है न कि शरीर का। अगर किसी की आत्मा और हृदय पवित्र-शुद्ध है तो वह पूरी तरह से पवित्र है फिर चाहे वह घर में नहाये चाहे किसी गंगा में। आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध सन्त रैदास ने लोगों को सिखाया कि अपने शत्रुओं से भी बिना भेद-भेदभाव के प्रेम करना चाहिए। सन्त रैदास दिखावे की प्रवृत्ति के प्रबल विरोधी हैं। वे मनुष्य को छल-छद्मरहित सामान्य जीवन जीने की प्रेरणा देते हैं। अपनी बात पर अटल रहने वाले, निडर और दृढ़निश्चयी व्यक्तित्व के धनी सन्त रैदास लोगों को धन के प्रति विकर्षणता का उपदेश देते हैं। उनका मानना है कि धन कभी स्थायी नहीं होता अतः साधक को धन-संग्रह के फेर में नहीं पड़ना चाहिए। धन के लिये लालची बनने और अनुचित तरीकों के धन कमाने की बजाय आजीविका के लिए कठोर परिश्रम करना ही उचित है।

समकालीन परिवेश में आवश्यकता है रैदास की विचारधारा को समझने; उसके अनुरूप अपना जीवन एवं आचरण ढालने; पारस्परिक एकता, सामंजस्य और भ्रातृत्वभाव जाग्रत् करने; मानवीय मूल्यों की पहचान कर धर्म-कर्ममय जीवन निर्मित करने तथा भजन, कीर्तन, स्मरण, सत्संगति आदि की अखण्ड ज्योति प्रज्वलित करने की। सच तो यह है कि विनम्र, सरल एवं निष्पक्ष व्यक्तित्व वाले सन्त रैदास के काव्य में अभिव्यक्त नीति एवं जीवन-दर्शन को समझने के लिए रैदासमय होना पहली शर्त है।

5.1.4.1. वैयक्तिक नीति

सन्त रैदास व्यक्ति को व्यसनों से दूर रहने की सीख देते हैं। उनके अनुसार यदि शराबखोरी, अफीम, चरस, भांग, मद्यपान आदि व्यसनों से मुक्ति पा लें तो व्यक्तिगत जीवन स्वतः ही सुधर जाएगा। मद्यपान का निषेध करते हुए वे कहते हैं –

सुरसुरी सलल क्रित बारूनी रे, संत जन करत नहीं पानं।
सुरा अपवित्र न त अवर जल रे, सुरसुरी मिलत नहि होइ आनं॥

व्यक्ति को कभी कटु वचन नहीं बोलने चाहिए। अपनी कटु वाणी से कभी किसी को दुखी नहीं करना चाहिए। इसलिए सन्त रैदास व्यक्ति को माधुर्य, नम्रता और समर्पित भाव अपनाने की सलाह देते हैं –

कहि रविदास उदास दास मति, परहरि कोप करहु जीअ दइआ।
रविदास मुरखि समुझइ नहि, उचरे बिना विचार।
हने पराई आतमा, जीभ लीआ तरवार॥
कटुक बचन नहिं बोलिए, सभ घट हरि को बास।
इह गिआन का द्वार है, कहै रविदास विचार॥

मानव-जीवन में सन्त-महिमा और सत्संग का फल अतुलनीय है। रैदास के विचार में यदि कोई व्यक्ति अड़सठ तीर्थों का स्नान करता है, बारह ज्योतिर्लिंगों का पूजन करता है, लोकसेवार्थ कुएँ खुदवाता है, वेद-स्मृतियों आदि का श्रवण करता है, देवी-देवताओं को प्रसन्न करने हेतु नाना विधान करता है, परन्तु सन्त समाज की निन्दा करता है तो वह व्यक्ति महापापी है तथा सीधे नरक में जाता है –

जे ओहु अठसठि तीरथ न्हावै, जे ओहु दुआदस सिला पूजावै।
जे ओहु कूप तटा देवावै, करै निंद सभ बिरथा जावै॥
साध का निंदुक कैसे तरै, सरपर जानहु नरक ही परै॥

जिस व्यक्ति पर सन्तों की कृपा-दृष्टि है वह संसार में खूब डटकर अपना जीवन सफलतापूर्वक व्यतीत करता है। ऐसे व्यक्ति को किसी से भयभीत होने की आवश्यकता नहीं होती तथा संसार के सभी पदार्थ स्वयमेव उसकी और दौड़े चले आते हैं –

जो सुख होत साध कूं भेटे, गावत स्याम सकल दुखु मेटे।
ते किम जानहिं संतन महिमा, जौ माया जंजाल लपेटे।
अट्ट पहरि तिन्हि कछु नहिं सूझई जयूं तेली कूं वषभ संकेटे।
जौ जन राम नाम नहिं उचरै, उदर भरई जयूं गरदभ लेटे।
जन रविदास रामु बल गरजति, मनहुं चयारि पदारथ भेंटे॥

हालाँकि, रैदास सन्त और भेषज में अन्तर करने की सीख भी देते हैं। भेषाचारी, ढोंगी एवं दम्भी साधुओं की उग्र निन्दा करते हुए उन्होंने कहा है –

कहा भयो जे मूंड मुंडायो, कहा तीर्थ व्रत कीन्हे।
स्वामी दास भगत अरू सेवक, परम तत्व नहिं चीन्हे।

जिस व्यक्ति के हृदय में निडरता का भाव नहीं है, वह जीवन में विकास नहीं कर सकता। सन्त रैदास व्यक्ति को निर्भय होने की सीख देते हुए कहते हैं –

पढ़ै गुनै कुछु समझि न परहीं, जौं लौ अनभै भाउ न दरसे।

जहाँ तक सम्भव हो, व्यक्ति को पीड़ित प्राणी की सहायता करनी चाहिए, लेकिन परहित भी वही कर सकता है जिसका मानस सम्वेदना, दया और सहानुभूति से परिपूर्ण हो तथा जिसने स्वयं भी कभी कष्ट भोगा हो –

सो कत जानै पीर पराई, जाकै अन्तरि दरदु न पाई।

सन्त रैदास वैयक्तिक आचरण में नैतिक मूल्यों को धारण करने को ही भक्ति मानते हैं। उन्होंने न तो ईश्वर का कोई रूप सुनिश्चित किया है और न ही किसी विशेष प्रकार के पूजा-विधान की वकालत की है। मन की पवित्रता से उनका अभिप्राय हृदय की कलुषता और आचरण की बुराइयों को दूर करने से है। वे कहते हैं –

देता रहे हज्जार बरस, मुल्ला चाहे अजान।
'रविदास' खुदा नंह मिल सकइ, जौ लौं मन शैतान॥

5.1.4.2. सामाजिक नीति

भारतीय समाज में वर्णाश्रम व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था स्थापित करने के उद्देश्य से स्वीकार किया गया था। परन्तु कालान्तर में यह व्यवस्था पूरी तरह से विकृत एवं आडम्बरयुक्त हो गई तथा जाति-पाँति, छुआछूत, मिथ्याडम्बर आदि निन्दनीय आचार-विचार समाज का अंग बनते गए। इस तरह मानव-जीवन के प्रगतिशील जीवन-मूल्य धीरे-धीरे अपना अर्थ खोने लगे। अन्ततः सामाजिक असमानता का असाध्य रोग समाज के लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। सन्त रैदास की प्रबल धारणा है कि जाति-पाँति तो मानवकृत हैं, ईश्वरकृत नहीं। इस संसार में सभी एक रूप लेकर जीव का रूप धारण करके ही जन्म लेते हैं। जो व्यक्ति व समाज इस भेद को जान लेता है, वही सच्चा इंसान है। उनका वचन है –

ब्रह्मन वैस सूद अरु खत्री, डोम चंडार मलेछ मन सोइ।
होइ पुनीत भगवंत भजन ते, आपु तारि तारे कुल दोई॥

जाति के आधार पर भेदभाव करने वाले समाज को सन्त रैदास ने मानवता का अपमान कहा है। उनका विश्वास है कि सभी प्राणियों को उस एक ही ईश्वर ने बनाया है तथा वह ईश्वर सभी प्राणियों में समान रूप से मौजूद है। उसी से सबका विस्तार हुआ है, इसलिए जो लोग वर्ण-अवर्ण, ऊँच-नीच पर विचार करते हैं, वे मूर्ख और अज्ञानी हैं –

'रविदास' इकही बूंद सों, सभ ही भयो बित्थार।
मूरिख हैं जो करत हैं, बरन अबरन विचार॥

शुद्धता व शुचिता के आधार पर श्रेष्ठ होने का दम्भ भरना तथा इस आधार पर समाज के कमजोर वर्गों से घृणा करने की प्रवृत्ति का सन्त रैदास ने कड़ा विरोध किया है –

दूधु त बछरै थनहु बिटारिओ। फूलु भवरि जलु मीनि बिगारिओ॥
माई गोबिन्द पूजा कहा लै चरावउ। अवरु न फुलु अनूपु न पावउ॥
मैलागर बेर्हे है भुइअंगा। बिखु अमृत बसहि इक संगा॥
धुप दीप नईबेदहि बासा। कैसे पूज करहि तेरी दासा॥
तनु मनु अरपउ पूज चरावउ। गुर परसादि निरंजनु पावउ॥
पूजा अरचा आहि न तोरी। कहि रविदास कवन गति मोरी॥

जन्म पर किसी का अधिकार नहीं है, लेकिन अच्छे या बुरे कर्म करना व्यक्ति पर ही निर्भर करता है। इसलिए वे जन्म के आधार पर जाति-प्रथा या वर्ण-व्यवस्था को मानने से इनकार करते हैं –

'रविदास' जन्म के कारनै, होत न कोउ नीच।
न कूं नीच करि डारि है, ओछे करम कौ कीच॥

अन्य सन्तकवियों की तरह रैदास न तो नारी की निन्दा करते हैं और न ही उसे भक्ति तथा सदाचरण के मार्ग की बाधा घोषित करते हैं। वे समाज की उन तमाम बुराइयों की निन्दा करते हैं जहाँ नारी के चरित्र को लेकर पुरुष समाज ने अतिशयता से काम लिया है। इस आलोक में उन्होंने चेतावनी दी है कि परस्त्री-गमन की प्रवृत्ति विनाशकारी है। जो लोग काम-वासना के रस में विमुग्ध होकर किसी परायी औरत के साथ गमन करते हैं, वे मूढ़ हैं और अपने पतन से अनजान हैं। समय व्यतीत होने के पश्चात् उनका मन जीवनपर्यन्त पश्चात्ताप की अग्नि में जलता रहता है। यदि परस्त्री-गमन भला होता तो रावण शक्तिशाली होने पर भी कभी न मरता और उसकी सोने की लंका कभी नहीं जलती –

पाप गुन्यौ छै धरम निबौली, तू देखि देखि फल चाषि रे।
परत्रिय संग भलौ जो होवै, तौ राणौं रावण देखि रे॥

* * *

पर नारी विषई रची, जैसे पशु हरीआउ।
मन अैसी हरि सिउं प्रीति करि, जमु चरनी लागै आइ॥

सन्त रैदास के अनुसार सती वह नहीं है जो अपने प्रियतम के शव के साथ जल कर राख हो जाती है अपितु सती वह है जो तन और मन से अपने प्रियतम के रंग में रंग जातीहै। वे कहते हैं कि जब तक कोई स्त्री अपने प्रियतम के मन में स्थान नहीं बना लेती तब तक वह चाहे सोलह शृंगार कर ले, उसका कुछ नहीं बनेगा –

जौ लौं पिउ रा मन नहि आई, का सोरह सयंगार बनाई।
सोई सती रविदास बखानी, तन मन सयूं पिउ रंग समानी॥

5.1.4.3. आर्थिक (श्रम) नीति

"थोरै ही थौरै मूसिए परायो धना, कहे रविदास सुनहु संत जना" कहकर सन्त रैदास संयमित जीवन की अनुशंसा करते हैं। वे कठोर परिश्रम कर आजीविका चलाने के हिमायती हैं। श्रम की महत्ता को स्थापित करते हुए उनका कहना है कि श्रमशीलता के कारण ही मनुष्य अन्य जीवों से अधिक विकास करने में सफल हुआ है। श्रम की महिमा का बखान करते हुए उन्होंने बिना श्रम के भोजन करने को भी हेय स्वीकार किया है। वे श्रम को ईश्वर के समतुल्य मानते हैं –

जिह्वां सों ओंकार जप, हत्थन सों कर कार।
राम मिलहिं घर आई कर, कहि 'रविदास' बिचार॥

* * *

नेक कमाई जउ करहि, ग्रह तजि बन नंहि जाय।
'रविदास' हमारो राम राय, ग्रह मंहि मिलिंहि आय॥

रैदास सचेत करते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो सके मनुष्य को श्रम करके ही खाना चाहिए। श्रम की कमाई को उन्होंने नेक कमाई माना है जो कभी निष्फल नहीं होती है। उनकी दृष्टि में वे लोग निकृष्ट हैं जो बिना श्रम के खाते हैं –

'रविदास' स्रम करि खाइहि, जौ लौं पार बसाय।
नेक कमाई जउ करइ, कबहुं न निहफल जाय॥

सन्त रैदास बार-बार सत्य से अवगत कराते हुए चेतावनी देते हैं कि जो व्यक्ति बिना श्रम के संसार के ऐश्वर्य का आनन्द ग्रहण करता है वह कहीं-न-कहीं किसी-न-किसी रूप में वास्तविक सुख से वंचित रहता है। इस सन्दर्भ में उनके कतिपय वचन अनुकरणीय हैं–

स्रम कउ ईसर जानि कै, जउ पूजहि दिन रैन।
'रविदास' तिन्हहि संसार मंह सदा मिलहि सुख चैन॥

* * *

प्रभ भगति स्रम साधना, जग मंह जिन्हहिं।
तिन्हहिं जीवन फल भयो, सत्त भाषै 'रविदास'॥

* * *

धरम करम दुइ एक हैं, समुझि लेहु मन मांहि।
धरम बिना जौ करम है, 'रविदास' न सुख तिस मांहि॥

* * *

'रविदास' हौं निज हत्थहिं, राखौं रांबी आर।
सुकिरित ही मम धरम है, तारैगा भव पार॥

5.1.4.4. राज्य नीति

मध्यकाल में शासन की बागडोर राजतन्त्र के कब्जे में थी जहाँ आम जनता की भागीदारी शून्य हुआ करती थी। राजकाज में शासक-सामन्तों का हस्तक्षेप ही सबकुछ था। प्रजा का सुख-चैन शासक-सामन्तों की कृपा पर ही निर्भर था। सन्त रैदास कल्याणकारी राज्य की कामना करते हैं –

ऐसा चाहों राज मैं, जहां मिलै सबन को अन्न।
छोट बड़ो सभ सम बसैं, 'रविदास' रहैं प्रसन्न॥

स्वाधीनता प्राणी का अभीप्सित गुण है। मानव ही नहीं प्रत्युत पशु-पक्षी भी परतन्त्र रहकर घुटन महसूस करते हैं। सन्त रैदास राजनैतिक गुलामी का निषेध करते हैं। परतन्त्रता की बजाय उन्होंने मृत्यु का वरण श्रेष्ठ माना है –

रविदास मनषु करि बसन कूं, सुख कर हैं दुइ ठांव।
इक सुख है स्वराज मंहि, दूसर मरघट गांव॥

व्यक्ति अपनी तुच्छ आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए पराधीनता स्वीकार कर लेता है। अपनी लालसाओं के जाल में फँसकर मालिक द्वारा वह तमाम तरह से शोषित होता है। रैदास पराधीनता को पाप की संज्ञा देते हैं। पराधीन व्यक्ति को समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता है। उससे कोई प्रेम नहीं करता –

पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।
'रविदास' दास प्राधीन सों, कौन करै है प्रीत॥

* * *

पराधीन कौ दीन क्या, पराधीन बेदीन।
'रविदास' दास प्राधीन कौ, सबही समझै हीन॥

एक सहृदय साहित्यकार जब अपने समय की परिस्थितियों से खिन्न होता है तब वह एक आदर्श समाज की परिकल्पना प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार तुलसी के यहाँ आदर्श राज्य के रूप में रामराज्य की कल्पना की गई है उसी प्रकार रैदास ने एक आदर्श शहर के रूप में बेगमपुरा शहर की संकल्पना की है। बेगमपुरा एक ऐसा शहर है जहाँ दुःख व्याप्त नहीं होता। वहाँ सुख, शान्ति, अहिंसा, निर्भयता, निश्चिन्तता, समता, सम्मान, मानवता, आत्मीयता, दया, मैत्री, शुचिता, ज्ञान, सदाचरण, विनम्रता और सामाजिक सद्भाव का प्रसार है –

बेगमपुरा सहर को नाउं। दुखु अंदोहु नहीं तिहि ठाउं।
नां तसवीस खिराजु न मालु। खऊ न खता न तरसु जवालु॥
अब मोहि खूब वतन गह पाई। ऊहां खैरि सदा मेरे भाई॥

5.1.4.5. धार्मिक नीति

सन्त रैदास की दृष्टि में राम-रहीम, कृष्ण-करीम और ईश्वर-खुदा में कोई अन्तर नहीं है। ये सब एक ही हैं तथा मनुष्य के मन में बसते हैं। इनको प्राप्त करने के लिए घर त्यागने की ज़रूरत नहीं है। ईश्वर-प्राप्ति किसी कर्मकाण्ड द्वारा प्राप्य नहीं है अपितु उसके लिए अपने आचरण को पवित्र करने की महती आवश्यकता है –

राघो क्रिस्न करीम हरि, राम रहीम खुदाय।
'रविदास' मोरे मन बसहिं, कहुं खोजहूं बनजाय॥

सन्त रैदास की प्रबल धारणा है कि जिस ईश्वर को हिन्दू मानते हैं और जिस खुदा को मुसलमान मानते हैं, वह कोई अगल-अलग नहीं हैं। सबका मालिक एक ही है। जो लोग दूसरे के आराध्य की अवहेलना करते हैं, वे वस्तुतः उस एक ईश्वर की ही अवहेलना करते हैं। साम्प्रदायिक सद्भावना के आलोक में उनकी वाणी अनुकरणीय है –

'रविदास' हमारो सांइयां, राघव राम रहीम।
सभ ही राम को रूप हैं, केसो क्रिस्न करीम॥

* * *

अलख अलह खालिक खुदा, क्रिस्न-करीम करतार।
रामह नांउ अनेक हैं, कहै 'रविदास' बिचार॥

एक सच्चा धार्मिक व्यक्ति धार्मिक-स्थलों के लिए अन्य धर्म के लोगों से नहीं लड़ता और न ही अन्य धर्म के पूजा-स्थलों को गिराने या हानि पहुँचाने को धार्मिक कार्य मानता है। मन्दिर, मस्जिद, गिरिजाघर, गुरुद्वारा आदि धार्मिक-स्थलों के लिए लड़ने वाले लोग सन्त रैदास की दृष्टि में धार्मिक नहीं हैं। उनके अनुसार ईश्वर-भक्त को अपने इष्ट की आराधना करने अथवा उसे ढूँढ़ने के लिए किसी पूजा-स्थल में जाने की आवश्यकता नहीं है। वह ईश्वर तो हृदयस्थ होकर प्राणी मात्र के घट ही में रम रहा है –

तुरुक मसीती अल्लह ढूंढइ, देहरे हिंदू राम गुंसाई।
'रविदास' ढुंढिया राम रहीम कूं, जंइ मसीत देहरा नांहि॥

* * *

देहरा अरु मसीत मंहि, 'रविदास' न सीस नवांय।
जिह लौं सीस निवावना, सो ठाकुर सभ थांय॥

* * *

'रविदास' न पुजहूं देहरा, अरु न मसजिद जाय।
जंह जंह ईस का वास है, तंह तंह सीस नवाय॥

* * *

हिंदू पूजह देहरा, मुसलमान मसीति।
'रविदास' पूजह उस राम कूं, जिह निरन्तर प्रीति॥

धार्मिक सद्भाव पर विशेष बल देते हुए रैदास ने हिन्दू-मुसलमानों के धार्मिक स्थलों में भी कोई भेद नहीं माना है। उनकी दृष्टि में काबा-काशी में कोई अन्तर नहीं है –

'रविदास' हमारे राम जोई, सोई है रहमान।
काबा कासी जानीयहि, दोउ एक समान॥

धार्मिक आडम्बरों पर प्रहार करते हुए सन्त रैदास 'ब्राह्मण' और 'मुल्ला' को एक ही नज़र से देखते हैं। उनके अनुसार उन दोनों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है –

'रविदास' उपजइ सभ इक नूर तें, ब्राह्मन मुल्ला शेख।
सभ को करता एक है, सभ कूं एक ही पेख॥

चूँकि, धर्म के मूल स्वरूप व प्रतिपाद्य में कोई अन्तर नहीं है इसलिए धर्म के नाम पर समाज में वैमनस्य बढ़ाना सही मायने में मानवता के प्रति अपराध है। सन्त रैदास कहते हैं –

हिंदू तुरुक मंहि नहीं कुछ भेदा, सभ मंह एक रत्त अरु मासा।
दोउ एकहू दूजा कोउ नांहि, पेख्यो सोध 'रविदासा'॥

इस प्रकार सन्त रैदास अपनी धार्मिक नीति में साम्प्रदायिक विचारधारा के आधार 'धार्मिक तत्त्ववाद' पर प्रहार करके एकता के तत्वों की स्थापना पर बल देते हैं और मानवता के पक्ष को मजबूत करने का प्रयास करते हैं।

5.1.4.6. आध्यात्मिक नीति

सन्त रैदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। उनका प्रभु सर्वज्ञ है, विमल है। वह सदा एक-सा रहता है। न वह उत्पन्न होता है और न ही विनष्ट होता है। उसका न कोई आदि है और न ही उसका अन्त होता है। वह सर्वदा एक समान है। कोई दूसरी या तीसरी शक्ति उसका स्थान नहीं ले सकती –

आदि हूं एक अंता फुनि सोई, मधि उपाधि सु कैसे।
अहै एक पै भ्रम सूं दूजौ, कनक अलंक्रित जैसे॥

इस संसार में न कोई व्यक्ति पतित है और न ही कोई व्यक्ति पावन है। पतित और पावन की संज्ञा तो हरि-भक्ति के मापदण्ड पर ही निर्धारित की जा सकती है। व्यक्ति को अहर्निश प्रभु-नाम का स्मरण करना चाहिए, क्योंकि वही मोक्षदायक भी है तथा यहाँ लौकिक जीवन में भी यश देने वाला है। हरि का नाम-स्मरण करने से पतित भी पावन हो जाते हैं –

ता थैं पतित नहीं को पावन, हरि जत आन न ध्याया रे।
हम अपूजि पूजि भये हरि थैं, नांव अनूपम गाया रे।
अस्टादस व्याकरणा बखानै, तीनी काल षट जीत्या रे।
प्रेम भगति अन्तर गति नाहीं, ताथैं धाणक नीका रे।
ता थैं भलौ स्वान को सत्रू, हरि चरनां चित्त लाया रे।
मुवां मुक्त बैकुंठ हुं बासा, जीवत इहां जस पाया रे।

यह जगत् मिथ्या तथा नाशवान् है। सन्त रैदास की आध्यात्मिक दृष्टि में वह ईश्वर ही एकमात्र सत्य है। वह एक ईश्वर ही सर्वत्र प्रसारित तथा परिव्याप्त हो रहा है। घट-घटव्यापी वह परब्रह्म केवल अनुभूति का विषय है। वह प्रभु कहीं दूर नहीं बैठा हुआ है, वह हमारे हाथ से भी अधिक नजदीक विद्यमान है। यदि मन में उसे प्राप्त करने की सच्ची उत्कण्ठा हो तो प्रेमभाव की भक्ति द्वारा उसे सहज ही में पाया जा सकता है –

जब हम होते तब तू नाही, अब तू है मैं नाहीं।
अनल अगम जैसे लहर महओदधि, जल केवल जल मांही।
माधवै किआ कहीअै भ्रम जैसा, जैसे मानीअै होइ न तैसा।
नरपति एक सिंघासन सोइआ, सुपने भइआ भिखारी।
अछत राज बिछरत दुख पाइआ, सो गति भई हमारी।
राज भइअंग प्रसंग जैसे हहि, अब कछु मरमु जनाइआ।
कनिक कटिक जैसे भूलि परै, अब कहते कहनु न आइआ।
सरबे एक अनेकै सुआमी, सभ घट भोगवै सोई।
कहि रविदास हाथ पै नेरै, सहजै होइ सु लोई॥

अन्य सन्तकवियों की भाँति रैदास भी माया से सर्वदा सचेत रहने और मन को शान्त व स्थिर रखने की सीख देते हैं। सद्गुरु की शरण होकर ही जीव का मन स्थिर हो सकता है। मन स्थिर करके ही जीव गुरु निर्देशित तत्त्वज्ञान को भलीभाँति अंगीकार कर सकता है। गुरु का सान्निध्य पाकर ही विषय-वासना, संशय, भ्रम तथा सांसारिक बन्धनों से पूरी तरह मुक्त होकर प्रभु का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसलिए सन्त रैदास कहते हैं कि संसार में क्षणभंगुर आसनको छोड़कर जो प्राणी गुरु चरणरूपी दृढ़ आसन पर बैठकर राम-नाम में मन लगाता है, उसी का जन्म सार्थक हो सकता है, अन्यथा यह 'मानूषा अवतार दुरलभ' मनुष्य होने का दुर्लभ जन्म व्यर्थ ही चला जाएगा –

जाकौ जनम अकारथ कहिये ।
विषयन रतु संसा भ्रम अटक्यो, भंवर फंद मंह रहिये।
जग महं रहहु कंवल जल जइसै, गुरु चरनां चित रहिये।
आसन छाड़ि द्रिढ आसन बैइठि, राम नांव लिव लइए।
पूजा भजन कीरतनु सब कछु दसधा हु मंहि समइए।
नेत नेत जिंहि वेद बखानहिं, राम रूव तेहि कएि।
कहि रविदास जउ व्यापहि घटु घटु, तिहि काईं बिसरिए।

सन्त रैदास का अटूट विश्वास है कि वैष्णवजन स्वयं तो मुक्ति पाता ही है, आगे आने वाली दो-दो पीढ़ियों का भी उद्धार कर जाता है। ऐसे सन्त को जन्म देने वाले माता, पिता, गाँव तथा धर्म धन्य हैं –

जिह कुल साधू बैसनो होइ।
बरन अबरन रंकु नहीं ईसरू, बिमल बास जानीअै जग सोइ।
ब्रह्मन बैस सूद अरू खत्री, डोम चंडार मलेछ मन सोइ।
होइ पुनीत भगवंत भजन ते, आप तारि तारै कुल दोइ।
धंनि सु गाउं धंनि सु ठाउं धंनि कुटुम्बसब लोइ।
जिनि पीआ सार रस तजे आन रस, होइ रस मगन डारे बिषु खोइ।
पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउरू न कोइ।
जैसे पुरैन पात रहै जल समीप, भनि रविदास जनमें जग ओइ।

सन्त रैदास की भक्ति सहजस्वरूपा है। वे प्राणियों को आत्मोद्धार के लिए प्रेरित करते हैं। निज स्वरूप व निज अस्तित्व भूलकर अपने अन्तस्तल की समस्त चित्तवृत्तियाँ परमपिता परमेश्वर के चरणों में अर्पित कर देने से ही आत्मोद्धार सम्भव है। शुद्धाद्वैत रूप में उनकी वाणी द्रष्टव्य है –

तोही मोही मोही तोही अंतरू कैसा, कनक कटिक जल तरंग कैसा।

5.1.4.7. सांस्कृतिक नीति

सन्त रैदास की सांस्कृतिक चेतना में प्रेम, कर्म, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, त्याग, दया, दान व करुणा आदि उदात्त भावों की अभिव्यक्ति हुई है। उन्होंने मानव प्रेम को सर्वाधिक महत्त्व दिया है तथा उसे ईश्वर की तपस्या के नाम पर किए जाने वाले कर्मकाण्डों से अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। जिस व्यक्ति के मन में प्राणी मात्र के प्रति प्रेम नहीं है, वह चाहे जितनी मर्जी तपस्या कर ले, उसे ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती –

बन खोजइ पिय न मिलहिं, बन मंह प्रीतम नांह।
'रविदास' पिय है बसि रह्यो, मानव प्रेमंहि मांह॥

कर्म सिद्धान्त में सन्त रैदास का अटूट विश्वास है। भारतीय संस्कृति एवं जीवन्दर्शन के अनुसार प्रत्येक मनुष्य को उसके अच्छे या बुरे कर्मों का फल अवश्य मिलता है। रैदास चेतावनी देते हैं कि अभी तो तुम

आनन्दोल्लास में दुर्लभ मानवजीवन नष्ट कर रहे हो। बाद में वह साहिब जब तुम्हारे कर्मों का लेखा-जोखा लेगा तब तुमसे जवाब देते नहीं बनेगा –

नांव न लीआ औगुन कीआ, इस जोबन के ताणि बे।
अपनी पराई गिणी न काई, मंदे करम कमाण बे।
साहिब लेखा लेसी, तू भरि देसी, भीर परे तुझ ताह बे।
जन रविदास कहै बणजारिआ, तू निरषत चालया छांह बे॥

मानव-जीवन में दान का बड़ा महत्त्व है। दान की उपयोगिता एवं महिमा को प्रतिपादित करते हुए सन्त रैदास कहते हैं –

कवन काज किरपन की माया, करत फिरत अपनी अपनी है।
खाई न सकै खरच नहिं जानै, जयौं भवंग सिर रहित मनी है॥

काम, क्रोध, माया, मद एवं मत्सर पंचविकार जीव को भ्रमित करते रहते हैं। इसलिए सन्त रैदास क्रोध-त्याग एवं जीवों के प्रति दयाभाव का बर्ताव करने की प्रेरणा देते हैं –

काम क्रोध माइआ मद मतसर, इन पंचहु मिलि लूटे।
हम बड़ कबि कुलीन हम पंडित, हम जोगी संनियासी।
गिआनी गुनी सूर हम दाते, इहु बुधि कबहि न नासी।
कहु रविदास सभै नहीं समझसि भूल परे जैसे बउरे।
मोहि अधारू नामु नारायनु, जीव प्रान धन मोरे।

5.1.5. पाठ सार

उदारहृदय महात्मा रैदास की वाणी में मानव-जीवनादर्श एवं सदाचरण का कोई पक्ष अछूता नहीं रहा है। दीर्घकालिक अनुभव और गम्भीर चिन्तन-मनन के फलस्वरूप ही उनके नीतिकाव्य में मानव-जीवन का प्रत्येक पक्ष सरल-सहज ढंग से व्याख्यायित हुआ है। मानव-जीवन एवं समाज को सुन्दर, शालीन, सुसंस्कृत एवं सौहार्दपूर्ण बनाने के लिए सन्त रैदास नैतिकता एवं मानवीय मूल्यों को अपनाने पर विशेष बल देते हैं। आत्मिक शान्ति के लिए छल-कपट तथा स्वांगयुक्त जीवन-शैली त्यागकर विकाररहित, शुद्ध, सात्विक, सहज व स्वाभाविक जीवन जीने का अभ्यास करना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, मोह जैसे विषय-विकार और माया, निन्दा आदि कुवृत्तियों को छोड़कर सुकृत और सत्कर्म में प्रवृत्त होना ही मानव-जीवन की सार्थकता है। रैदास साधकों को भेष-भ्रम से सावधान करते हैं और दान, पुण्य, सेवा, साहचर्य, सहानुभूति की प्रवृत्ति विकसित करने का उपदेश करते हैं। रैदास की कथनी एवं करनी में किंचित मात्र अन्तर नहीं है। वे स्वयं गर्व और दोहरे जीवन के मापदण्डों को न अपनाते हुए नैतिक दृष्टि से सर्वमान्य एवं स्वीकार्य जीवन जीते हैं। उनका निर्भय, स्वाभिमान तथा आत्मविश्वास पर आधारित जीवन प्रेरणादायी है।

5.1.6. कठिन शब्दावली

उदात्त	:	श्रेष्ठतम
उदर	:	पेट
अनभै	:	अनुभव
कोप	:	क्रोध
बिरथा	:	व्यर्थ
पुनि	:	पुनः
भवंग	:	सर्प
सुकृत	:	सत्कर्म

5.1.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिंहल, डॉ॰ धर्मपाल एवं बद्दन, डॉ॰ बलदेवसिंह, महाप्राण संतगुरु रविदास, नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. चन्द्र, डॉ॰ सुभाष, दलित मुक्ति की विरासत संत रविदास, आधार प्रकाशन प्रा. लि., पंचकूला, हरियाणा.
3. सिंह, वासुदेव, हिन्दी सन्तकाव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
4. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
5. तिवारी, रामचन्द्र, मध्ययुगीन काव्यसाधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
6. सिंह, सुधा, मध्यकालीन साहित्य विमर्श, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता.

5.1.8. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. मध्ययुगीन सन्तकवि रैदास का व्यक्तित्व।
2. सन्त रैदास की श्रम नीति।
3. सन्त रैदास के काव्य में अभिव्यक्त वैयक्तिक नीति की उपादेयता।
4. सन्त रैदास की राज्य सम्बन्धी संकल्पना।
5. सन्त रैदास की धार्मिक व आध्यात्मिक नीति।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "भक्तहृदय सन्त रैदास का उद्देश्य मानव मात्र के कल्याणार्थ इहलोक का सम्यक् ज्ञान प्रदान करना है।" हिन्दी नीतिकाव्य के आलोक में उक्त कथन का आकलन कीजिए।
2. सन्तकवि रैदास की युगीन चेतना व मानवीय जीवन-दर्शन की मीमांसा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मध्ययुगीन सन्तकवि रैदास हैं –
   (क) सगुणोपासक
   (ख) निर्गुणोपासक
   (ग) धर्मोपासक
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

2. "जात जात में जात है, ज्यों केलन में पात" – यह कथन किसका है ?
   (क) रैदास
   (ख) नानक
   (ग) कबीर
   (घ) दादूदयाल

3. किस सन्तकवि ने श्रम की तुलना भगवान् से की है?
   (क) कबीर
   (ख) जायसी
   (ग) नानक
   (घ) रैदास

4. 'बेगमपुरा' की संकल्पना में सन्त रैदास की कौन दृष्टि अभिव्यक्त हुई है –
   (क) धार्मिक दृष्टि
   (ख) आर्थिक दृष्टि
   (ग) सामाजिक दृष्टि
   (घ) उपर्युक्त सभी

5. "पराधीनता पाप है, जान लेहु रे मीत।" कहकर सन्त रैदास किसकी पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं ?
   (क) स्वतन्त्रता की पीड़ा को
   (ख) पराधीनता की पीड़ा को
   (ग) अन्याय व अधर्म की पीड़ा को
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

❖❖❖

खण्ड – 5 : अन्य कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 2 : नानक और रसखानि के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

5.2.0. उद्देश्य कथन
5.2.1. प्रस्तावना
5.2.2. नानक एवं रसखानि : व्यक्तित्व-कृतित्व
  5.2.2.1. नानक : व्यक्तित्व-कृतित्व
  5.2.2.2. रसखानि : व्यक्तित्व-कृतित्व
5.2.3. नानक एवं रसखानि का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
  5.2.3.1. नानक का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
  5.2.3.2. रसखानि का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
5.2.4. नानक और रसखानि का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  5.2.4.1. वैयक्तिक नीति
  5.2.4.2. सामाजिक नीति
  5.2.4.3. आर्थिक नीति
  5.2.4.4. धार्मिक नीति
  5.2.4.5. आध्यात्मिक नीति
  5.2.4.6. सांस्कृतिक नीति
5.2.5. पाठ सार
5.2.6. कठिन शब्दावली
5.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
5.2.8. बोध प्रश्न

5.2.0. उद्देश्य कथन

नैतिकता और मानवीय मूल्यों की स्थापना एवं सदाचरण की प्रवृत्ति विकसित करने में मध्यकालीन काव्य की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। कबीर, नानक, रैदास, दादूदयाल, रज्जब, सुन्दरदास, दरिया, हरिरामदास, रामदास, रामचरण आदि सन्तकवियों और तुलसीदास, वल्लभाचार्य, सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, मीराँबाई, रहीम, रसखानि आदि भक्तकवियों ने समय-समय पर अपने नीतिपरक काव्य के माध्यम से भटके हुए समाज में मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना का प्रयास किया। ये सन्त और भक्त जाति, वर्ण, वर्ग और धर्म से परे होकर मानव जाति के कल्याणार्थ सतत प्रयत्नशील रहे तथा अपने-अपने समय और परिस्थितियों के अनुरूप काव्यरचना कर समाज को जीवनादर्शों हेतु प्रेरित करते रहे। प्रस्तुत इकाई गुरु नानकदेव और भक्तकवि रसखानि के काव्य में अभिव्यक्त

सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतनापर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. नानक और रसखानि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
ii. नानक और रसखानि के युगबोध एवं जीवन-दर्शन का अनुशीलन कर सकेंगे।
iii. नानक और रसखानि के काव्य में अभिव्यक्त नीति के विभिन्न पहलुओं की विवेचना कर सकेंगे।

5.2.1. प्रस्तावना

मानवीय जीवन-मूल्यों व आदर्शों की सामाजिक स्थापना करने और जनमानस में चिन्तनपरक प्रवृत्ति विकसित करने में सिक्ख धर्मगुरुओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानकदेव ने पन्द्रहवीं सदी के अवसादपूर्ण युग में निराश जनसामान्य को ऐसा सन्देश दिया कि देश की सोयी हुई आत्मा आन्दोलित हो उठी तथा अपनी संस्कृति, भाषा और परम्परा की पहचान करने एवं चुनौतियों का सामना करने हेतु तत्पर हो उठी। महान् दार्शनिक एवं चिन्तक गुरु नानकदेव के जीवन, वाणी एवं विचारधारा से अनुप्राणित होकर सिक्ख समुदाय ने अनुशासित एवं मूल्यपरक जीवन को अपनाया। मध्ययुगीन धर्म संस्थापकों में गुरु नानकदेव का महत्त्व इस मायने में भी और भी बढ़ जाता है कि उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थितियों का सम्यक् अनुशीलन करते हुए भक्ति, कर्म और ज्ञान की त्रिवेणी से जनसामान्य के अतृप्त मन को सिंचित किया। सजगता, सचेष्टता एवं कर्मठता की स्रोतस्विनी उनकी वाणियों से प्रस्फुटित हुई। सर्वेश्वरवादी गुरु नानकदेव ने सनातन मत की मूर्तिपूजा की शैली के विपरीत 'इक ओंकार' (एक ईश्वर) की उपासना का मार्ग प्रशस्त किया। नानक धार्मिक ऐक्य के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। उनके उपदेश का सारतत्त्व यही है कि ईश्वर एक है और उसकी उपासना हिन्दू-मुसलमान दोनों के लिए है। मानवता के सच्चे समर्थक गुरु नानकदेव ने हिन्दू-मुस्लिम धर्म में फैली कुरीतिओं और पाखण्डों का निर्भय होकर विरोध किया। मूर्तिपूजा, बहुदेवोपासना, तीर्थाटन और पूजा के विधि-विधानों को उन्होंने अनावश्यक सिद्ध किया। उनकी वाणी और दर्शन में सूफ़ी कवियों जैसा माधुर्य और ताज़गी है। उनकी सरल-सहज वाणी और उपदेशों ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूप से प्रभावित किया। अन्य सन्तों की तरह नानक ने नारी के मातृरूप के प्रति असीम श्रद्धाभाव प्रकट किया है।

मध्यकाल में एक ओर जहाँ नानक जैसे सन्तकवि निर्गुणोपासना के माध्यम से नैतिकता और जीवन-मूल्यों के संस्थापनार्थ प्राणपण से प्रयत्नशील थे वहीं साथ ही रसखानि जैसे सगुणोपासक भक्तकवि भी सामाजिक कल्याण एवं जनहितार्थ जीवनादर्शों एवं मानवीय मूल्यों की पुनर्प्रतिष्ठा में निरत थे। कृष्ण-भक्तकवि रसखानि की प्रेमाभक्ति अद्वितीय एवं अनुपम है। वर्ण्य-विषय की दृष्टि से रसखानि पूर्णरूपेण भक्त हैं। उनके अनुसार प्रेम की नीति सर्वश्रेष्ठ नीति है। हृदय में प्रेम का उद्रेक होने के बाद अनीति जैसी कुवृत्ति के पनपने का कोई अवकाश ही नहीं रहता। संसार के समस्त प्राणियों के मन में यदि पारस्परिक प्रेमभाव का संचरण हो जाए तो समस्त समस्याएँ स्वयमेव नष्ट हो जाएँगी। प्रेम की महता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने अनेक नीतिपरक उक्तियाँ कही हैं। रसखानि

की अपनी रीति और अभिव्यंजना शैली है। उनकी काव्यकला का वैशिष्ट्य है कि जो भी भाव उनके मन में स्फुरित होता है उसे वे सबल एवं प्रभावोत्पादक अभिव्यंजना के माध्यम से प्रकट करते हैं।

5.2.2. नानक एवं रसखानि : व्यक्तित्व-कृतित्व

गुरु नानकदेव और भक्तकवि रसखानि दोनों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में समान रूप से सर्वत्र मानवीय जीवन-मूल्यों की व्यापक स्वीकृति का मूलाधार परिलक्षित होता है। भक्ति, सामाजिक सरोकार, समतामूलक आग्रह, पीड़ितों के लिए गहरी सम्वेदना तथा अन्याय, उत्पीड़न और अत्याचार के विरुद्ध संघर्षमूलक चिन्तन एवं सदाचरण के निहितार्थ उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में कोई फाँक नहीं दिखता है। हिन्दी नीतिकाव्य के आलोक में दोनों ने भक्ति, ज्ञान, उपासना, आध्यात्मिक चिन्तन, दार्शनिक वाद-विवाद को एक संकुचित व संकीर्ण परिधि से निकालकर मानव-समाज के लिए सर्वसुलभ बना दिया।

5.2.2.1. नानक : व्यक्तित्व-कृतित्व

नानक का जन्म 15 अप्रैल 1469 को एक खत्री परिवार में लाहौर से दूर राय भोये की तलवंडी नामक स्थान पर हुआ। उनके जीवन-वृत्तान्त की स्रोत-सामग्री अनेक 'जन्म साखियों' से प्राप्त होती है। दरअसल 'जन्म साखियाँ' मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुनी-सुनाई जाती रही हैं। कालान्तर में श्रद्धालु सिक्खों द्वारा उनका संकलन किया गया। वैसे तो उनकी रचना-पद्धति पौराणिक है फिर भी उन्हीं में से नानक के जीवन का ऐतिहासिक वृत्त प्राप्त किया जा सकता है। नानक के पिता का नाम मेहता कल्याणचन्द्र बेदी और माता का नाम तृप्ता था। बाल्यकाल से ही उनमें विलक्षण प्रतिभा दिखाई देने लगी। वे आरम्भ से ही आत्मचिन्तन, ईश्वरभक्ति और सन्त-सेवा की ओर उन्मुख रहे। इस बारे में उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएँ प्रचलित हैं। सांसारिक कार्यों में उनकी विरक्ति देखकर लगभग सोलह वर्ष की आयु में ही उनका विवाह कर दिया गया तथा उनके दो पुत्र भी हुए। ध्यातव्य है कि सुलतानपुर लोधी का प्रवास उनके जीवन की दिशा का सबसे निर्णायक मोड़ साबित हुआ। वहाँ उन्हें आत्मानुभूति हुई जिसने उन्हें नानक से गुरु नानकदेव बना दिया। अपने जीवन के लगभग बाईस वर्ष उन्होंने यात्राओं में व्यतीत किए। उन्होंने लगभग सभी दिशाओं में यात्राएँ की थीं। इस सन्दर्भ में सभी धर्मों और मतों के अनुयायी सन्तों से उनकी भेंट होती रहती थी परिणामस्वरूप समाज और धर्म के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा समन्वय और अनुभूति पर आधारित है। धार्मिक रूढ़िवाद व जातिवाद के संकीर्ण बन्धनों तथा अनाचारों के प्रति उन्होंने सदैव विद्रोह का स्वर उठाया है। अपने प्रिय शिष्य भाई लालो को सम्बोधित करते हुए बाबर के आक्रमण का बड़ा मार्मिक चित्रण उन्होंने अपनी वाणी में प्रस्तुत किया है। सत्य के प्रति आस्था के परिणामस्वरूप नानक की अभिव्यक्ति में स्पष्टता व उद्‌बोधन की प्रखरता मिलती है।

सन्त कबीर की भाँति गुरु नानकदेव की रचनाओं में शान्त रस की निर्बाध धारा प्रवाहित हुई है। हालाँकि कहीं-कहीं करुण, अद्‌भुत आदि कुछ अन्य रसों के अनुकूल सामग्री भी प्राप्त होती है। गुरु नानकदेव का मानना है कि ईश्वर कृपा से तत्त्वदर्शन तो हो जाता है परन्तु उस अनुभव की अभिव्यक्ति हमेशा नहीं हो पाती –

आपे जाणै आपे देइ ॥
आखहि सि भि केई केइ ॥
जिस नो बखसे सिफति सालाह ॥
नानक पातिसाही पातिसाहु ॥

नानकदेव ने अनेक पदों की रचना की है जो 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में संकलित हैं। 'जपुजी' नानक-दर्शन का सार है। 'आसा दी वार', 'मलार दी वार', 'रहिरास' तथा 'सोहिला' उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। 'आसा दी वार' उनकी एक बहुचर्चित रचना है, सिक्ख धर्म की नित्य की सभाओं तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर इसका कीर्तन किया जाता है। 'आसा दी वार' का मूल प्रतिपाद्य मनुष्य के आचरण का ऊर्ध्वगामी विकास करना है ताकि वह सांसारिकता से ऊपर उठकर देवत्व की प्राप्ति कर सके। 'मलार दी वार' में उन्होंने कुरीतियों व कलुषित परम्पराओं का त्याग कर वास्तविक धर्म में लीन होने की भावना अभिव्यक्त की है। उनकी काव्यभाषा के तीन रूप हैं – हिन्दी, फ़ारसी बहुल पंजाबी तथा पंजाबी। साथ ही, उन्होंने ब्रजभाषा की शब्दावली का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा में प्रवाह और सहजता है। नानकवाणी में अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ है। उपमा, रूपक, प्रतीक और अनुप्रास उनके प्रिय अलंकार हैं। छन्दों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया, उनके पद राग-रागिनियों में रचित हैं। ऐतिहासिक वर्णनों में करुण रस एवं शृंगार के पद भी उल्लेखनीय हैं।

5.2.2.2. रसखानि : व्यक्तित्व-कृतित्व

आत्म-विज्ञप्ति के अभाव के कारण रसखानि का जीवनवृत्त तिमिराच्छन्न है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में जो थोड़ी-बहुत सामग्री उपलब्ध है, उसमें तथ्य कम और कल्पना अधिक है। अनेक किंवदन्तियों और जनश्रुतियों की उपस्थिति में वास्तविकता तक पहुँचना असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है । फिर भी विद्वानों ने उनकी रचनाओं से कुछ संकेत-सूत्र ग्रहण करके उनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं । इस आलोक में रसखानि कृत 'प्रेमवाटिका' की निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं –

देखि गदर हित-साहबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहि बादसा- बंस की, ठसक छोरि रसखानि ॥

* * *

प्रेम-निकेतन श्रीबनहि, आइ गोबर्द्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहिकै, जुगल सरूप ललाम ॥

उपर्युक्त पंक्तियों में 'गदर' और 'दिल्ली के श्मशान बन जाने' का समय विद्वानों ने सन् 1555 ई. अनुमानित किया है। उस 'गदर' के समय रसखानि की आयु यदि बीस-बाईस वर्ष मान ली जाय तो उनका जन्मकाल सन् 1533 ई. के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। 'शिवसिंह-सरोज' में उनका जन्म वि.सं. 1630 माना गया है । 'शिवसिंह-सरोज' के मत को आधार मानकर ही 'सूरसागर' की भूमिका में बाबू

राधाकृष्णदास ने रसखानि का जन्म वि.सं. 1631 स्वीकार किया है। मिश्रबंधुओं ने 'मिश्रबंधु-विनोद' में भक्तकवि रसखानि का जन्म वि.सं. 1615 में और देहावसान वि.सं. 1685 में माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने रसखानि के केवल कविता-काल का उल्लेख किया है जो वि.सं. 1640 के उपरान्त है। प्रसिद्ध है कि रसखानि ने गोस्वामी विट्ठलनाथ से वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षा ग्रहण की। उनके काव्य में अन्य वल्लभानुयायी कृष्ण-भक्तकवियों जैसी काव्य-शैली से इस बात की सम्पुष्टि होती है। रसखानि काव्य के प्रायः सभी समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि 'प्रेमवाटिका' (रचनाकाल सन् 1614 ई.) उनकी अन्तिम काव्यकृति है। सम्भवतः प्रेमवाटिका रचना के कुछ वर्ष उपरान्त ही सन् 1618 ई. के आसपास उनका देहावसान हो गया होगा।

रसखानि का सम्पूर्ण कृतित्व अभी तक प्राप्त नहीं है। 'प्रेमवाटिका' और 'दानलीला' नामक विशिष्ट आकारबद्ध रचनाओं के अतिरिक्त उनकी सम्पूर्ण वाणी मुक्तक सवैयों में आबद्ध है जिन्हें संकलनकर्त्ताओं ने अपनी-अपनी अभिरुचि के अनुसार संकलित किया है। वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित संकलन 'सुजान रसखानि' है। 'कल्याण' के सन्तवाणी अंक (प्रकाशन वर्ष सन् 1955 ई.) में रसखानि की एक अन्य कृति 'अष्टयाम' प्रकाशित हुई है। इस तरह रसखानि की मुख्यतः चार रचनाएँ प्रामाणिक मानी जा सकती हैं – 'सुजान रसखानि', 'प्रेमवाटिका', 'दानलीला' और 'अष्टयाम'। उनकी काव्यभाषा शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक ब्रज है। माधुर्य एवं प्रसाद गुण के सहजसमावेश ने उनकी काव्यभाषा को सरस एवं सजीव बना दिया है। लाक्षणिक प्रयोगों के कारण उनके काव्यभाषा की अर्थवत्ता और भी बढ़ गई है। शब्द-चमत्कार प्रवृत्ति से मुक्त रहकर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि सरल एवं स्वाभाविक भाषा में रचित काव्य अधिक भावसम्प्रेषणीय एवं प्रभावी हो सकता है। अलंकारमोह का उनके काव्य में सर्वथा अभाव है।

5.2.3. नानक एवं रसखानि का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

युगीन चेतना और मानवीय जीवन-दर्शन के समन्वय पर आधृत रचनाओं का संश्लिट रूप सार्वभौमिक एवं प्रभावी होता है। हिन्दीभाषी भूभाग के साहित्यिक इतिहास व रचनात्मक विधान प्रक्रिया, जिसके अन्तर्गत राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक तत्त्व स्वतः अन्तर्भुक्त रहते हैं, के प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव में विकसित और अभिव्यक्ति के विविध रूपों के माध्यम से प्रस्तुत मानवीय चेतना के विकासक्रम का नैतिक प्रतिमानों के आधार पर आकलन प्रभावपूर्ण एवं तर्कसम्मत होता है। नानक और रसखानि युगदर्शी और मानवधर्मी कवि हैं। उनका काव्य उनकी युगीन चेतना एवं जीवन-दर्शन का समुचित निदर्शन करता है।

5.2.3.1. नानक का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

सन्तकवियों में नानक ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने देश की राष्ट्रीय-राजनैतिक दशा व दिशा पर सदैव पैनी दृष्टि रखी है। राष्ट्र की तत्युगीन राजनैतिक दुर्दशा का उन्होंने बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। उस समय की राज-प्रणाली, विदेशी आक्रमण, सरकारी कर्मचारियों की मानसिकता पर उन्होंने मर्मस्पर्शी व तीक्ष्ण टिप्पणियाँ की हैं। ध्यातव्य है कि बाबर के आक्रमण की विभीषिका को नानक ने अपनी आँखों से देखा व महसूस किया था।

विदेशी आक्रमणकारियों ने उन्हें भी बन्दी बना लिया था। देशवासियों की तत्कालीन दुर्दशा का अनुभवाधारित चित्रण देखिए –

जिन सिरि सोहनि पटीआ मांगी पाइ संधूरु॥
से सिर काती मुंनीअन्हि गल विचि आवै धूड़ि॥
महला अंदरि होदीआ हुणि बहणि न मिलन्हि हदूरि॥
आदेसु बाबा आदेसु॥
आदि पुरख तेरा अंतु न पाइआ करि करि देखहि वेस ॥
जदहु सीआ वीआहीआ लाड़े सोहनि पासि॥
हीडोली चड़ि आईआ दंद खंड कीते रासि॥
उपरहु पाणी वारीऐ झले झिमकनि पासि॥
इकु लखु लहन्हि बहिठीआ लखु लहन्हि खड़ीआ॥
गरी छुहारे खांदीआ माणन्हि सेजड़ीआ॥
तिन्ह गलि सिलका पाईआ तुटन्हि मोतसरीआ॥
धनु जोबनु दुइ वैरी होए जिन्ही रखे रंगु लाइ॥
दूता नो फुरमाइआ लै चले पति गवाइ॥
जे तिसु भावै दे वडिआई जे भावै देइ सजाइ॥
अगो दे जे चेतीऐ तां काइतु मिलै सजाइ॥
साहां सुरति गवाईआ रंगि तमासै चाइ॥
बाबरवाणी फिरि गई कुइरु न रोटी खाइ॥
इकना वखत खुआईअहि इकन्हा पूजा जाइ॥
चउके विणु हिंदवाणीआ किउ टिके कढहि नाइ॥
रामु न कबहू चेतिओ हुणि कहणि न मिलै खुदाइ॥
इकि घरि आवहि आपणै इकि मिलि मिलि पुछहि सुख॥
इकन्हा एहो लिखिआ बहि बहि रोवहि दुख॥
जो तिसु भावै सो थीऐ नानक किआ मानुख॥

अपने राष्ट्र पर विदेशियों द्वारा हुए अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर ऐसी मार्मिक अभिव्यक्ति मध्ययुगीन साहित्य में अन्यत्र मिलना कठिन है।

नानक उन लोगों को भी क्षमा नहीं करते जिनकी चरित्रहीनता, अकर्मण्यता एवं ऐशपरस्ती के कारण अपने राष्ट्र की ऐसी दुर्दशा हुई है। वे क्षुब्ध होकर कहते हैं कि इन कुत्तों ने रत्न के समान इस सुन्दर राष्ट्र को बिगाड़ कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। मरने के बाद इन्हें कौन पूछेगा –

रतन बिगाड़ि विगोए कुत्तीं। मुइआ सार न काइ।

गुरु नानकदेव ने अपनी वाणी में वर्ण व्यवस्था, ऊँच-नीच, सामाजिक असमानता, धार्मिक पाखण्ड, प्रदर्शन आदि का खुलकर विरोध किया है। सामाजिक जीवन की विद्रूपता को लक्ष्य कर वे कहते हैं कि आजकल लोग कुत्ते के मुँह वाले हो गए हैं। उनका खाद्य पदार्थ मनुष्य का मांस है। जब समाज के मूल्य विघटित होने लगें तथा धर्म के नाम पर पाखण्ड का बोलबाला हो, समाज के नेता भ्रष्ट एवं स्वार्थी हो जाएँ, शासक वर्ग निरंकुश होकर जनता का शोषण करने लगे तो स्वाभाविक है कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अनेक प्रकार की विसंगतियों और विरोधाभासों का शिकार हो जाएगा। मुगल शासन के हिन्दू कर्मचारियों को फटकारते हुए वे कहते हैं –

गउ बिराहमण कउ करु लावहु गोबरि तरणिन जाई।
धोती टिका ते जपमाली धानु मलेच्छां खाई॥
अंतरि पूजा पड़डि कतेबा संजुम तुरका भाई।
छोड़ी ले पाखंड नाम लहिऐ जाहि तरंदा॥

मानवधर्मी नानक कहते हैं कि जिस व्यक्ति के पास सच है उसे व्यथित होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसके पास सभी दुःखों की दवा उसका सच है। सच उसके भीतर के समस्त पाप धोकर बाहर निकाल देता है। उन्होंने जोर देकर बार-बार कहा है कि सच मात्र एक अवधारणा नहीं है अपितु मानव-जीवन में चरितार्थ भी होना चाहिए। उनकी दृष्टि में संसार भर के पदार्थ सच से कमतर हैं परन्तु सत्य का आचरण सच से भी बढ़कर है –

सचहु औरे सभु को उपरि सचु अचारु।

5.2.3.2. रसखानि का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

मध्ययुगीन साहित्यिक चेतना के दो स्वरूप स्पष्ट रूप से उभरते हैं – शास्त्रमार्गी तथा लोकमार्गी। रसखानि की भक्ति-भावना लोकमार्गी है। युगीन चेतना एवं मानवीय जीवन-दर्शन वहाँ स्पष्ट रूप से मुखरित होता दिखाई देता है। वस्तुतः रसखानि भक्त और कवि से भी पहले एक सहृदय भावुक व्यक्ति हैं। उनका मानव-प्रेम किसी विशिष्ट ताप की उष्णता से विगलित होकर मानो विविध भाव-सरणियों के रूप में उमड़ पड़ा है।

बादशाह वंश के जन्मजात कवि रसखानि ने स्वयं को राज्यलिप्साजन्य द्वन्द्व से पूर्णतः मुक्त कर जिस श्रद्धा, निष्ठा, सदाचरण, प्रेम तथा भक्तिमय रससागर में निमज्जित किया, उनका काव्य-चिन्तन भी जीवनपर्यन्त उसी में केन्द्रित रहा। प्रेमतत्त्व के निरूपण में रसखानि को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। उनका प्रेमवर्णन एक साथ अत्यन्त सूक्ष्म भी है और उतना ही व्यापक एवं विशद् भी है। काव्य-रचना उनका साधन कभी नहीं रहा और न ही उनकी वाणी का विलास यश और धन प्राप्ति के निमित्त रहा। उन्होंने तो अलौकिक रस के आगार श्रीकृष्ण के लीलागान के रसास्वादन में ही स्वयं को कृतकृत्य समझा। स्वयं उन्हीं के शब्दों में इस समर्पणभाव को समझिए –

त्यों रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि, सो है रसखानी॥

सही मायने में देखा जाय तो रसखानि की युगीन चेतना एवं जीवन-दर्शन के केन्द्र में उनकी 'कृष्णभक्ति' है जो मनुष्य और समाज में भेद करने वाली स्थितियों का अतिक्रमण करती है। उनके कृष्ण-काव्य में तत्युगीन चेतना के अनुरूप धार्मिक एवं जातीय सामासिकता ढल पड़ी है तथा कृष्ण के माध्यम से सफल भाव-सर्जना हुई है। कृष्ण-काव्य का क्षेत्र यद्यपि चिर-परिचित है किन्तु प्रेम और सौन्दर्य पर आधारित होने के कारण यह मनुष्य मात्र के हृदय को स्पन्दित करने वाला है।

कहना सही होगा कि मानवीय जीवन-मूल्य प्रत्येक देशकाल के मनुष्य और समाज और कवियों के लिए आत्मीय व परिचित प्रसंग रहे हैं। रसखानि के कृष्णकाव्य-चिन्तन का प्रभाव क्षेत्रीय न होकर अखिल भारतीय स्वरूप का रहा है। चूँकि, सामासिकता भारतीय समाज और संस्कृति की ऐतिहासिक विशेषता है, इसलिए रसखानि जैसा कृष्ण-भक्तकवि तो अपनी युगीन चेतना एवं जीवन-दर्शन के निहितार्थ 'सामासिकता' को ही मानव-जीवन के भाव-प्रसंगों में परिणत करता है। इस मायने में उनकी काव्य-चेतना इस देश की सांस्कृतिक रागधर्मिता का प्रतीक भी है और यथार्थ भी।

5.2.4. नानक और रसखानि का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

लोक-कल्याण के लिए सदाचरण आवश्यक गुण है। यदि सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा, दया, मानवता, उदारता आदि गुणों का संचार करना है तो इसके लिए व्यापक स्तर पर मानवीय आदर्श एवं नैतिक मूल्यों की स्थापना आवश्यक है। केवल कामना करने और आशीर्वाद देने से यह सम्भव नहीं है। और यह भी सत्य है कि लोकमंगल और लोकहित की बात करने वाले महापुरुष को अनिवार्यतः प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी-न-किसी रूप में आततायी शक्तियों से संघर्ष करना पड़ता है। कबीर, दादूदयाल, तुलसीदास, मीराँबाई आदि सन्तों-भक्तों के जीवन-संघर्ष इसके प्रमाण हैं। नानक और रसखानि को भी लोक-हितार्थ ऐसे संघर्षों से जूझना पड़ा था। तमाम संघर्षों के बावजूद उनका काव्य-चिन्तन मानवीय सदाशयता एवं लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित है। लोकहित में मानवीय जीवन-मूल्यों की पहचान व स्थापना ही उनके नीतिकाव्य की असली चिन्ता है।

5.2.4.1. वैयक्तिक नीति

वैयक्तिक नीति में वैयक्तिक उदात्तीकरण, उदात्त चरित्र और सदाचरण पर बल दिया जाता है। यद्यपि वैयक्तिक जीवन-मूल्य और आदर्श व्यक्ति की इच्छा व उसकी सम्वेदना से सम्बन्धित हैं तथापि इसे सामाजिक, राष्ट्रीय एवं परम जीवन-मूल्यों का विरोधी नहीं माना जा सकता है। सन्त नानक की दृष्टि में व्यक्ति का सदाचरण ही सबकुछ है। उनके अनुसार राज, माल, रूप, जाति और यौवन, मानव-जीवन के पाँच बड़े शक्तिशाली ठग हैं। इनकी ठगी का आलम यह है कि इन्होंने केवल व्यक्ति को ही नहीं बल्कि पूरे संसार को ठग लिया है, किसी की लाज नहीं रखी। इसलिए इनसे बचने की सीख देते हुए उन्होंने कहा है –

राजु मालु रूपु जाति जोबनु पंजे ठग।
एनी ठगों जुग ठगिआ किने न रखी लज ॥

व्यक्ति की आन्तरिक शुचिता पर नानक ने सर्वत्र जोर दिया है। उन्हें यह देखकर बहुत पीड़ा होती है कि व्यक्ति बातें तो बड़ी भली करता है किन्तु बुरे आचरण में लीन है। बाहर से तो स्वयं को शुभ बताता है लेकिन मन मलिन और हृदय कलुषित है –

गल्ली असी चंगिया आचारि बुरि आह।
मनहु कुसुधा कालिया बाहरी चिट बी आह॥

गुरु नानकदेव का विश्वास है कि सत्य की कमाई ही श्रेयस्कर होती है। इसलिए व्यक्ति को परमात्मा के सम्मुख सम्मान प्राप्त करने के लिए वे सत्य और श्रम का आश्रय लेने की सलाह देते हैं। झूठी बातें करने से झूठ ही पल्ले पड़ता है। झूठ से व्यक्ति स्वयं को तथा अपने लोगों को ठगता है इसलिए वे झूठ का परिणाम अमांगलिक बताते हुए व्यक्ति को झूठ से बचने की सीख देते हैं –

कूड़ु बोलि मुरदारु खाइ॥
अवरी नो समझावणि जाइ॥
मुठा आपि मुहाए साथै॥
नानक ऐसा आगू जापै॥

जो व्यक्ति श्रमपूर्वक कार्य करके उपार्जन करता है और उसी में से भलाई के लिए कुछ देता है, वही सही राह को पहचानता है। नानक कहते हैं –

चाल खाय किछु हत्थहुं देई।
नानक राह पछानसि सेई॥

गुरु नानकदेव के अनुसार "विद्या विचारी ताँ परउपकारी" इन तीन शब्दों में ज्ञान का सार छिपा हुआ है। आत्मकल्याण के साधक में विद्यार्जन की प्रवृत्ति, विचारपूर्वक कर्म और परोपकार की भावना होनी आवश्यक है। उनके अनुसार जो व्यक्ति अपने निजी स्वार्थ का परित्याग करके दूसरों के लिए विनत होता है, वही गौरवान्वित होता है। नानक कहते हैं –

सभु को निवै आप कउ परकउ नवै न कोइ।
धरी तराजू तोलिए निवै सु गउरा होइ॥

विनम्रता की अद्भुत मिठास का भावन करते हुए वे जीवन में विनम्र होने की सीख देते हैं –

मीठतु नीवी नानका गुण चंगि आइआ तत्तु।

गुरु नानकदेव की दृष्टि में चौर्यकर्म परम निन्दनीय है। चोरी से जो कुछ मिलता है वह मन को भी नहीं भाता है –

करि चोरी मै जा किछु लीआ ता मनि भला भाइआ।
हलाते न सोभा पलति न ढोई अहिला जनमु गवाइआ॥

आन्तरिक शुचिता के अभाव में नानक सचेत करते हैं कि मन की शुद्धि तीर्थों से नहीं होती है, वह तो मन की कल्मषता को दूर करने से ही सम्भव है। उन्होंने कहा है –

अंदरहु झूठै पैज बाहरि दुनीया अंदरि फैलु।
अठसठि तीरथ जे नावहि उतरै नाहि मैलु॥

इसी प्रकार भक्तकवि रसखानि मानव-जीवन में प्रेम को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं। अपने मत पुष्टि करते हुए वे कहते हैं कि व्यक्ति ज्ञान का गर्व करके चाहे उसकी महत्ता का प्रतिपादन करने के लिए अनेक प्रयत्न करे लेकिन अन्ततः वह व्यर्थ ही सिद्ध होता है क्योंकि बिना प्रेम का ज्ञान फीका ही होता है –

भले वृथा करि पचि मरौ, ज्ञान गरूर बढ़ाय।
बिना प्रेम फीको सबै, कोटन कियें उपाय॥

रसखानि सांसारिक मनुष्यों को सीख देते हुए कहते हैं कि हे मनुष्य ! तुम इस असत्य संसार में इस प्रकार रहो कि सबकी सुनो, पर अपनी बात किसी से भी मत कहो। जो भी व्रत और नियम ग्रहण करो, वे सत्य हों। सत्य नियमों एवं व्रत से ही मन का सागर पार किया जा सकता है यानी मन को नियन्त्रित किया जा सकता है –

सुनियै सब की कहिये न कछू रहियै इमि भव-बागर मैं।
करियै ब्रत नेम सचाई लिये जिन तें तरियै भव-सागर मैं॥

नानक और रसखानि ने परनिन्दा-प्रवृत्ति की कठोर निन्दा की है। उनका मानना है कि निन्दा में वे लोग ही प्रवृत्त होते हैं जो मूर्ख एवं अज्ञानी हैं। व्यक्ति को पर-निन्दा नहीं करनी चाहिए। निन्दा एक घृणित वृत्ति है।

5.2.4.2. सामाजिक नीति

सामाजिक नीति को सामाजिक जीवन-मूल्यों के सन्दर्भ में भली प्रकार समझा जा सकता है। समाज का निर्माण पारस्परिक हित तथा सामूहिक सुरक्षा के लिए किया जाता है इसलिए सामाजिक नीति में समाज के विभिन्न पक्षों और सम्बन्धित जीवन-मूल्यों का समावेश स्वाभाविक है। 'संगत' शब्द का सिक्ख-परिवेश में महत्त्वपूर्ण स्थान है। संगत शब्द में ही सामाजिकता की ध्वनि है और गुरबाणी बार-बार यह आग्रह करती है कि संगत के बिना व्यक्ति एवं समाज का कल्याण सम्भव नहीं है –

आपि तरै संगति कुल तारै।

सामाजिक बोध और सामाजिक सरोकार ही सन्त नानक की सामाजिक नीति का मुख्य पहलू है। सामाजिक जातीय संरचना पर नानक तीव्र प्रहार करते हैं। उनकी दृष्टि में जातिगत अहंकार मानव समाज के बीच ऐसी गहरी खाई खोद देता है कि वह शताब्दियों तक नहीं पटती। जाति सम्बन्धी अहंकार को दूर करने की सीख देते हुए वे कहते हैं कि जीव मात्र में परमात्मा का निवास है। मनुष्य के अंदर की ज्योति को पहचानो, जाति को क्यों पूछते हो? जाति के सम्बन्ध में कभी प्रश्न नहीं करना चाहिए –

जाणहु जोति न पूछहु जाती। आगे जाति न है।

भारतीय समाज में गुरु का स्थान सर्वोपरि है। हालाँकि, सन्तों ने कपटी-ढोंगी गुरुओं से बचने के लिए सचेत किया है। सन्त नानक सद्गुरु के लक्षणों को स्पष्ट करते हैं –

सो गुरु करउ जि साचु द्रिड़ावै॥ अकथु कथावै सबदि मिलावै ॥

उन्होंने कर्ममार्ग, योगमार्ग, ज्ञानमार्ग सभी में सद्गुरु का महत्त्व स्वीकार किया है –

नानक सतिगुरि भेटिऐ पूरी होवै जुगति॥
हसंदिआ खेलंदिआ पैनंदिआ खावंदिआ विचे होवै मुकति॥

गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता, धर्म के बिना ध्यान नहीं होता, सत्य की अनुभूति के बिना साखी आदि पदों की रचना नहीं हो सकती। मूलधन के बिना बाकी नहीं रह सकती।

नानक समाज में परिव्याप्त अन्धविश्वास और दिखावे का घोर विरोध करते हैं। इस आलोक में वे सचेत करते हैं कि पण्डित पोथी पढ़ते हैं, किन्तु विचार को नहीं समझते। दूसरों को उपदेश देते हैं। उनकी कथनी झूठी है तथा वे वाद-विवाद में ही पड़े रहते हैं –

पंडित वाचहि पोथीआ आ बूझहि वीचारु।
अन कउ मती दे चलहि माइआ का वापारु॥
कथनी झूठी जगु भवै रहणी सबदु सु सारु ॥

वास्तविक रूप में समाजसेवा-कार्य में रत किन्तु नीच समझी जाने वाली जातियों से अपना सम्बन्ध जोड़कर सन्त नानक ने समाजसेवा-कार्य को महत्त्व दिया है। उन्होंने यह अनुभव किया कि नीची समझी जाने वाली जातियों से गहरी सम्पृक्ति ही सेवावृत्ति को सामान्य स्थिति तक लाने की पहली शर्त है। 'विचि दुनिया सेवा कमाईऐ, ता दरगह बैसणुं पाईऐ' कहकर उन्होंने सीख दी है कि ईश्वर के घर में उसी को स्थान प्राप्त है जो दुनिया में सेवा अर्पित करते हैं। समाजसेवा के रूप में मानवसेवा सबसे बड़ी सेवा है। वे कहते हैं –

नीचा अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीचु॥
नानकु तिन कै संगि साथि वडिआ सिउ किआ रीस॥
जिथै नीच समालीअनि तिथै नदरि तेरी बखसीस॥

नानक की दृष्टि में ब्राह्मण कुल में जन्म लेने से कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। सच्चा ब्राह्मण वह है जो ब्रह्म को जानता है। वे कहते हैं कि ऐसा ब्राह्मण जप, तप और संयम का आचरण करता है। साथ ही शील की शक्ति व सन्तोष के धर्म को रखते हुए वह सांसारिक बन्धनों को तोड़कर मुक्त हो जाता है। वे ऐसे ही ब्राह्मण को पूजनीय मानते हैं –

सोई ब्राह्मण पूजण जुगतु॥
सो ब्रहमणु जो बिंदै ब्रहमु॥
जपु तपु संजमु कमावै करमु॥
सील संतोख का रखै धरमु॥
बंधन तोड़ै होवै मुकतु॥
सोई ब्रहमणु पूजण जुगतु॥

जो कर्मों का शूरवीर है, वही वास्तविक क्षत्रिय है। ऐसा व्यक्ति अपने को जीवन का पुण्यदान करने वाला बना लेता है। नानक कहते हैं कि जो क्षत्रिय लालच, लोभ और झूठ की कमाई करता है वह तो अपने किये का परिणाम खुद ही पाता है –

खत्री सो जु करमा का सूरु॥
पुंन दान का करै सरीरु॥
खेतु पछाणै बीजै दानु॥
सो खत्री दरगह परवाणु॥
लबु लोभु जे कूड़ु कमावै॥
अपणा कीता आपे पावै॥
तनु न तपाइ तनूर जिउ बालणु हड न बालि॥
सिरि पैरी किआ फेड़िआ अंदरि पिरी सम्हालि॥

समाज में ज्ञानविहीन तथा विवेकहीन लोग बिना सोचे-विचारे नाना प्रकार की पूजा आदि विधि-विधानों में उलझे रहते हैं। उनके आचरण व व्यवहार भी अविवेकपूर्ण होते हैं –

गिआन हीण अगिआन पूजा। अंध वरतावा भाउ दूजा॥

भक्तकवि रसखानि भी आचरण की शुद्धता पर बल देते हैं। वे सलाह देते हैं कि सभी लोगों से पवित्र भावना से मिलना चाहिए। सदैव सत्संग में रहना चाहिए। रसखानि अच्छी संगति में रहकर ही एकाग्र मन से प्रभुभक्ति की सलाह भी देते हैं। उनके अनुसार भक्ति में उसी प्रकार एकाग्रतापूर्वक मन लगना चाहिए जिस प्रकार

गृहिणी का मन अपने पानी के बर्तन में लगा रहता है। कुशल गृहिणियाँ जब अपने सिर पर पानी का बर्तन लेकर चलती हैं तो उस बर्तन को हाथ नहीं लगातीं। वह गिर न जाए इसलिए उसका सन्तुलन बनाए रखने के लिए वे उसकी ओर मन एकाग्र किये रहती हैं –

मिलियै सब सों दुभाव बिना रहिये सतसंग उजागर मैं।
रसखानि गुबिंदहिं यौ भजियै जिमि नागरि को चित गागर मैं॥

5.2.4.3. आर्थिक नीति

आर्थिक नीति के अन्तर्गत सामान्यतः भौतिक जीवन एवं आर्थिक आचरण सम्बन्धी मूल्यों की उपयोगिता निर्देशित की जाती है। भारतीय मनीषियों ने भौतिक सुख-सुविधाओं से युक्त मानव-जीवन की बजाय सर्वथा संयमपूर्ण जीवन की अनुशंसा की है। ध्यातव्य है कि भोजन, वस्त्र, आवास एवं अन्य आनुषंगिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही विभिन्न साधनों अथवा सुविधाओं का संचयन किया जाता है। रसखान का मानना है कि अर्थोपार्जन व्यक्ति को भक्ति से दूर करता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताएँ जितनी कम कर लेता है अर्थ पर उसकी निर्भरता उतनी ही कम होती जाती है। व्यक्ति को सीमित संसाधनों में जीवन जीने का अभ्यास करना चाहिए ताकि वह अपना कीमती समय अर्थोपार्जन की बजाय भगवद्भक्ति में व्यतीत कर सके। इसी प्रकार गुरुवाणी में धन को न्यूनतम भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ परमार्थ में व्यय करने का उपदेश किया गया है। सन्त नानक सलाह देते हैं कि जो व्यक्ति स्वयं परिश्रम करके धन अर्जित करता है और फिर उसमें से धार्मिक-सामाजिक कार्यों के लिए देता है, वही सही मार्ग को पहचानता है –

घालि खाइ किछु हथहु देइ। नानक राह पछाणै सेइ॥

5.2.4.4. धार्मिक नीति

धर्म का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है जिसमें मानव-जीवन का प्रत्येक पक्ष समाहित हो सकता है। लेकिन संकुचित अर्थ में धर्म किसी उदात्त शक्ति पर विश्वास करके आराधना, भजन, कीर्तन, गुणगान आदि के माध्यम से भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की प्रविधि है। नानक और रसखानि धर्म के दोनों स्वरूपों को स्वीकार करते हुए मनुष्य को धर्ममय होने की प्रेरणा देते हैं। किन्तु साथ ही सचेत करते हैं कि धर्म के लिए मनुष्य को संसार से भागकर अकर्मण्य जीवन व्यतीत करने की आवश्यकता नहीं है, गार्हस्थ्य में रहकर धर्ममय आचरण करना ही सही अर्थों में धर्म का पालन है। गुरुवाणी में इसीलिए गृहस्थ धर्म को उदात्त व श्रेष्ठ माना गया है। नानक कहते हैं कि जिस प्रकार जल में रहकर कमल जल से निर्लिप्त रहता है, ठीक उसी प्रकार गृहस्थ जीवन में रहकर भी व्यक्ति वासनाओं से निर्लिप्त रह सकता है –

विचै गृहि सदा रहै उदासी। जिस कमलु रहै विचि पाणी है॥

धार्मिक नीति के आलोक में सन्त नानक ईश्वर के निर्गुण और निराकार रूप की उपासना का उपदेश करते हैं। वे अवतारवाद का समर्थन नहीं करते हैं। उनका मानना है कि उस परम सत्ता ने अव्यक्त निर्गुण से सगुण रूप को पैदा किया है। इस अर्थ में वे निर्गुण व सगुण के विभेद को पाटने की कोशिश करते हैं–

अविगतो निरमाइलु उपजे, निरगुण ते सरगुणु थीआ॥

सन्त नानक मानव धर्म के पुजारी हैं। धार्मिक आडम्बरों का उन्होंने खुलकर विरोध किया है। उनका प्रबल विश्वास है कि धर्मान्धता व शुभ कर्मों के अभाव के कारण ही लोग दुखी होते हैं –

पूछण खोल किताब नूं, हिंदू वड्डा कि मुसलमान।
बाबा आखे हाजीआं शुभ अमलां बाझहुं दोवैंरोई॥

धर्म के ठेकेदारों की भ्रष्टता का उल्लेख करते हुए नानक कहते हैं कि काजी झूठ बोलकर हराम की कमाई खाता है, ब्राह्मण जीवों को दुःख देकर तीर्थों में स्नान करता घूमता है, जिसे युक्ति का पता नहीं ऐसा अन्धा योगी लोगों को साधना का मार्ग बताता है। जिन तीनों पर समाज के पथ-प्रदर्शक की ज़िम्मेदारी है वे स्वयं अज्ञान के उजाड़ में पड़े हुए हैं –

कादी कूड़ बोलि मलु खाइ॥ बाहमणुनावै जीआ घाइ॥
जोगी जुगति न जाणै अंधु॥ तीने ओजाड़े का बंधु॥

समाज को मिथ्याडम्बरों, पाखण्डों, अवनतिमूलक अन्धविश्वासों, ऊँच-नीच के मानवकृत सामाजिक-धार्मिक भेदों से ऊपर उठाकर उनमें प्रेम, समता, बन्धुत्व और परमेश्वर में अनन्य प्रीति उत्पन्न कर चिरन्तन आनन्द की अनुभूति उत्पन्न करना ही नानक की धार्मिक नीति का मूल प्रतिपाद्य है।

रसखानि मूलतः भक्तकवि हैं। वे अपनी वाणी की सार्थकता प्रभु का गुणगान करने, कानों की सार्थकता प्रभु का नाम सुनने, हाथों की सार्थकता प्रभु की सेवा करने तथा पैरों की उपयोगिता उनका अनुगमन करने में समझते हैं –

बैन वही उनकौ गुन गाइ, औ कान वही उन बैन सों सानी।
हाथ वही उन गात सरैं, अरु पाइ वही जु वही अनुजानी।
जान वही उन प्रान के संग, औ मान वही जु करै मनमानी।
त्यों रसखानि वही रसखानि, जु है रसखानि, सो है रसखानी॥

मुसलमान होते हुए भी कृष्णभक्त रसखानि ने हिन्दू देवी-देवताओं में अपनी गहरी आस्था व्यक्त की है। इस सन्दर्भ में वे गंगा की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे गंगे! जिस व्यक्ति पर तुम्हारी कृपा हो जाती है उसे न तो वैद्य की औषधि खाने की आवश्यकता है और न ही किसी प्रकार का संयम करने की ज़रूरत है। तेरे जल को पीने से संजीवन शक्ति और अपार आनन्द की प्राप्ति होती है। हे अमृत जल से युक्त गंगे! तेरे प्रसन्न होने

पर बद-परहेज भी परहेज के समान लाभदायक बन जाता है। तेरे भरोसे भगवान् शिव आक और धतूरे को चबाते हैं तथा विष को खाते हैं –

बैद की औषध खाइ कछू न करै बहु संजम री सुनि मोसें।
तो जल-पान कियौ रसखानि सजीवन जानि लियौ रस तोसें।
ए री सुधामई भागीरथी नित पथ्य अपथ्य बनै तोहिं पोसें।
आक धतूरो चबात फिरै बिख खात फिरै सिब तेरै भरोसे॥

भगवान् शिव की स्तुति करते हुए रसखानि कहते हैं कि शिव धतूरे के पत्ते चबाते हैं तथा शरीर में धूलि लगाते हैं। उनकी जटाएँ चारों ओर बिखर कर लटक रही हैं। उनके गले में पड़ा हुआ सर्प साधु-वस्त्र के समान फहरा रहा है। जो लोग मन लगाकर शिव की इस मूर्ति को देखते हैं, शिव उनके समस्त दुःखों को नष्ट करते हैं –

यह देखि धतूरे के पात चबात औ गात सों धूलि लगावत हैं।
चहुँ ओर जटा अटकै लटके फनि सों कफनी फहरावत हैं।
रसखानि गेई चितवैं चित दे तिनके दुखदुंद भजावत हैं।
गजखाल कपाल की माल विसाल सो गाल बजावत आवत हैं॥

सगुणोपासक कवि रसखानि की धार्मिक चेतना में बाह्याडम्बरों का निषेध सहज ही अनुभूत है। इस परिप्रेक्ष्य में वे तीर्थादि बाह्याडम्बरों का खण्डन और कृष्णप्रेम का मण्डन करते हुए कहते हैं कि कोई तीर्थों की यात्रा करता हुआ घूमता है तो कोई हजारों बार पुराणों की कथाओं को सुनता है। कोई जप-तप में निरत है तो कोई सिद्ध बनकर समाधि में अटका हुआ है। रसखानि सीख देते हैं कि यदि सावधान होकर इन्हें देखा जाए तो यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सब महामूर्खता में पड़कर भटक रहे हैं। सही तो वे मनुष्य हैं जो स्वयं को कृष्ण के लिए समर्पित कर उसी चेतना में लीन हैं –

एक सु तीरथ डोलत है इक बार हजार पुरान बके हैं।
एक लगे जप में तप में इक सिद्ध समाधिन में अटके हैं।
चेत जू देखत हौ रसखानि सु मूढ़ महा सिगरे भटके हैं।
सांचहिं वे जिन आपनुपौ यह स्याम गुपाल पै वारि दके हैं॥

5.2.4.5. आध्यात्मिक नीति

आध्यात्मिक नीति का सम्बन्ध मानव की उन अंतरंग अभिवृत्तियों से है जो मन, आत्मा और परमात्मा से सम्बन्धित होती है। यह मानव के शारीरिक, आर्थिक और सामाजिक व्यक्तित्व से इतर एक सूक्ष्म व्यक्तित्व से सम्बन्धित होता है जो एक मायने में व्यक्ति की कुछ वैचारिक जिज्ञासाओं से जुड़ा होता है। रसखानि का आध्यात्मिक भाव और चिन्तन सबकुछ उसी दयालु ईश्वर को समर्पित है। वे अहर्निश अपने वृन्दावनविहारी बाँके कृष्ण के चिन्तन में निमग्न रहते हैं। उनके अनुसार आठों याम उसी दीनदयालु प्रभु का चिन्तन करना ही जीवन की

सार्थकता है। वे प्रत्येक उस प्राणी, पदार्थ और वस्तु को कृष्णमय मानते हैं और उनका साहचर्य चाहते हैं जो कभी किसी भी रूप में कृष्ण के सम्पर्क में आयी हों –

मानुष हौं तो वहै रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वहै गिरि को जो धर्‌यो कर छत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दीकूल कदम्ब की डारन॥

* * *

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहुँ पुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख नन्द की धेनु चराय बिसारौं।
रसखान कबौं इन आँखिन सों ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हु कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

सन्त नानकदेव परमात्मा को ही सबकुछ मानते हैं। मूलमन्त्र 'इक ओंकार सतनाम' में उन्होंने ओंकार के साथ 'इक' शब्द लगाकर इस परम तथ्य को आग्रहपूर्वक दोहराया है कि वह परम सत्ता अपने अनेक रूपों में दिखकर भी मूलतः एक ही है –

एकंकारु अवरु नहीं दूजा नानक एकु समाई।

वह एक है, ओंकारस्वरूप है, सतनाम है, कर्त्तापुरुष है, भय से रहित है, वैर से रहित है, कालातीत-मूर्ति है, अयोनि है, स्वयंभू है और केवल गुरु की कृपा से प्राप्य है। सन्त नानकदेव 'जपु जी साहिब' में परम ब्रह्म की नित्यता तथा सर्वसत्यता पर अपनी आस्था प्रकट करते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि वह आदि में भी सच था, युगों के प्रारम्भ में भी सच था और भविष्य में भी सच रहेगा –

आदि सचु जुगादि सचु॥
है भी सचु नानक होसी भी सचु॥

प्रत्येक वस्तु उसी परमात्मा के भीतर विद्यमान है, उसके बाहर कुछ भी नहीं है। उस 'हुकम' (परम ब्रह्म) को यदि कोई भली-भाँति समझ सके तो फिर उसे अपने को भिन्न सिद्ध करने वाले अहंकार का बोध नहीं होता। नानक का वचन है –

हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोइ॥
नानक हुकमै जे बुझै त हउमै कहै न कोइ॥

आधुनिक वैज्ञानिक अनुसंधानकर्त्ताओं ने गवेषणात्मक अध्ययन के उपरान्त सृष्टि की अनन्तता स्वीकार की है। गुरुवाणी में सृष्टि की इस अनन्तता की चर्चा बार-बार की गई है। 'जपुजी' में गुरु नानकदेव कहते हैं –

असंख नाव असंख थाव॥ अगम अगम असंख लोअ॥

सभी प्राणियों में एक ही परमात्मा की ज्योति व्याप्त है। उसी के प्रकाश से सबकुछ प्रकाशित हो रहा है –

सभ महि जोति-जोति है सोई।
तिस दै चानणि सभ महि चानणु होएं॥

प्राणवायु गुरु के समान है। धरती सभी की माता है। रात्रि और दिन सभी की सेवा करने वाले दाई और दाया हैं तथा उनकी गोद में सारा संसार खेलता है। धर्म सभी लोगों की अच्छाइयों और बुराइयों की परख करता है। अपने कर्मों के अनुसार कुछ लोग उसके निकट स्थान पाते हैं और कुछ लोग दूर रहते हैं। नानक कहते हैं कि जो लोग प्रभुनाम का स्मरण करते हैं, उनकी साधना सफल होती है। प्रभु के सम्मुख वे निष्पाप होकर जाते हैं। अपने साथ ही वे अन्य अनेक लोगों की मुक्ति का कारण बन जाते हैं –

पवणु गुरु पाणी पिता माता धरति महतु।
दिवसु राति दुइ दाई दाइआ खेलै सगल जगतु॥
चंगिआईआ बुरिआईया वाचै धरमु हदूरि।
करमी आपा आपणी के नेड़े के दूरि॥
जिनी नामु धिआइआ गए मसकति घालि।
नानक ते मुख उजले केती छूटी नालि॥

माया को इंगित करते हुए नानक कहते हैं कि वह 'निरंजन' यानी माया से रहित प्रभु आप ही आप है तथा उसी ने स्वयं को सृष्टि के रूप में पैदा किया है। उसने स्वयं जगत् रूपी खेल की रचना की है। उस प्रभु ने ही सत्व, रज और तम त्रिगुणों की रचना की है तथा माया-मोह में वृद्धि की है –

आपे आपि निरंजना जिनि आपु उपाइआ॥
आपे खेलु रचाइओनु सभु जगतु सबाइआ ॥
त्रै गुण आपि सिरजिअनु माइआ मोहु वधाइआ॥

गुरु नानकदेव अपनी आध्यात्मिक नीति को एक उत्कृष्ट रूपक प्रदान करते हुए कहते हैं कि समयरूपी दुकान और धैर्यरूपी सुनार विवेक की निहाई और ज्ञानरूपी हथौड़ी से भय की धौंकनी में तप की अग्नि द्वारा तपाकर प्रेमभाव की कुठाली में प्रभु के नामरूपी अमृत को ढालता है। इसी वास्तविक टकसाल में ईश्वर नाम का सिक्का बनता है। यह कार्य उन मनुष्यों का है जिन पर प्रभु की कृपा-दृष्टि पड़ती है। वह मनुष्य ईश्वर की कृपा-दृष्टि प्राप्ति कर निहाल हो जाता है –

जतु पाहारा धीरजु सुनिआरु ॥
अहरणि मति वेदु हथीआरु ॥
भउ खला अगनि तप ताउ ॥
भांडा भाउ अम्रितु तितु ढालि॥
घड़ीऐ सबदु सची टकसाल ॥
जिन कउ नदरि करमु तिन कार ॥
नानक नदरी नदरि निहाल ॥

5.2.4.6. सांस्कृतिक नीति

मानव समाज एवं व्यवहार के लिए उपयोगी तथा संस्कारित करने वाली नीति व दर्शन के आलोक में प्रेम, दया, दान, अहिंसा, क्षमा, विनय, परोपकार, शील आदि ऐसी वृत्तियाँ हैं जो किसी संस्कृति की मोहक व्याख्या प्रस्तुत करती हैं।

मध्ययुगीन सन्तकवियों के लिए प्रेम अद्भुत वस्तु है। वह ईश्वर का प्रतिरूप है। प्रेम का ज्ञाता ही सच्चा ज्ञानी प्रतीत होता है। प्रेमरहित व्यक्ति, समाज व संसार निरर्थक और निस्सार है। उसी का जीवन धन्य है जिसने हरि के प्रेमरस का पान किया है। नानक ने कहा है –

नानक रंगि रवै रसि रसीआ हरि सिउ प्रीति सनेहो।

भक्तकवि रसखानि के अनुसार जिस प्रेम के मूल में स्वार्थ निहित है, वह अशुद्ध है। शुद्धप्रेम श्रवण, कीर्तन और दर्शन से उपजता है। प्रेम के शुद्ध-अशुद्ध भेद को नहीं भूलना चाहिए। शुद्धप्रेम में विषयवासना के लिए कोई स्थान नहीं होता है। शुद्धप्रेम पूजा, निष्ठा और ध्यान से भी परे है –

दंपतिसुख अरु विषयरस, पूजा, निष्ठा, ध्यान।
इनतें परे बखानिए, शुद्ध प्रेम रसखान॥

'हेतुरहित' प्रेम पर बल देते हुए रसखानि ने कहा है –

इक अंगी बिनु कारनहि, इकरस सदा समान।
गनै प्रियहि सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

प्रेम मुक्ति से बड़ा है तथा इसके होने पर संसार के सारे नियम समाप्त हो जाते हैं। ध्यातव्य है कि नारदभक्ति सूत्र व गीता में भी यही सारतत्त्व प्रतिपादित है। रसखानि कहते हैं –

याही तें सब मुक्ति तें, लही बड़ाई प्रेम।
प्रेम भए, नस जाहिं सब, बँधे जगत के नेम॥

गुरुवाणी में दान की महत्ता को बड़ी विशिष्टता के साथ रेखांकित किया गया है। सन्त नानक दान को ईश्वर का स्वरूप कहते हैं। वे ईश्वर को बड़ा दाता मानते हैं। लोग उसका गुणानुवाद करते हैं –

गावै को ताणु होवै किसै ताणु॥
गावै को दाति जाणै नीसाणु॥
गावै को गुण वडिआईआ चार॥
गावै को विदिआ विखमु वीचारु॥
गावै को साजि करे तनु खेह॥
गावै को जीअ लै फिरि देह॥
गावै को जापै दिसै दूरि॥

सन्त नानकदेव मानव को दयावान् होने की सीख देते हैं। जीव-हत्या का निषेध करते हुए उन्होंने कलियुग के राजाओं को कसाई तथा हिंसक मानते हुए कलियुग को छुरी की तरह बताया है –

कलि कती राजे कासाई धरमु पंख करि उडरिआ।

स्वार्थ को हेय और त्याज्य मानते हुए सन्त नानक परमार्थ-परोपकार की व्यापक प्रतिष्ठा करते हैं। उनकी प्रबल धारणा है कि जो व्यक्ति विद्या को विचारसहित ग्रहण करता है, वही परोपकारी होता है। जो व्यक्ति अपने स्वार्थ का विसर्जन करके दूसरों के लिए विनत होता है, वही गौरवान्वित होता है।

सन्तों की दृष्टि में क्षमा का महनीय स्थान है। इस आलोक में सन्त नानकदेव आत्मारूपी सुन्दरी को क्षमा का शृंगार धारण करने का उपदेश देते हैं। उनका विश्वास है कि क्षमा से ही नारी अपने प्रिय को प्यारी लगती है। क्षमाशीलता को उन्होंने अद्भुत माना है तथा उनकी दृष्टि में क्षमावान् समस्त रोगों एवं दोषों से विनिर्मुक्त होता है –

खिमा गही ब्रतु सील संतोखं॥ रोगु न बिआपै न जम दोखं॥ मुकत भए प्रभ रूप न रेखं॥
जोगी कउ कैसा डरु होइ॥ रूखि बिरखि ग्रिहि बाहरि सोइ॥
निरभउ जोगी निरंजनु धिआवै॥ अनदिनु जागै सचि लिव लावै॥ सो जोगी मेरै मनि भावै॥
कालु जालु ब्रहम अगनी जारे॥ जरा मरण गतु गरबु निवारे॥ आपि तरै पितरी निसतारे॥
सतिगुरु सेवे सो जोगी होइ॥ भै रचि रहै सु निरभउ होइ॥ जैसा सेवै तैसो होइ॥

नानकवाणी में अभिमान, मान या अहंकार का व्यापक निषेध मिलता है। नानक का विश्वास है कि अभिमान ही व्यक्ति व समाज के पराभव का मूल कारण है। इसलिए वे 'मन रे, हउमै छोड़ि गुमानु' कहकर मानव मन को अभिमान छोड़ देने की सीख देते हैं।

भक्त रसखानि अपनी रचनाओं में ज्ञान, ध्यान तथा पण्डिताई का सर्वथा खण्डन करते हैं, क्योंकि ज्ञान अहंकार का मूलहै। अहंकार औरप्रेम का वैमनस्य है। अहंकारी के हृदय में प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता और बिना प्रेम प्रभुमिलन सम्भव ही नहीं है –

ज्ञान करम रु उपासना, सब अहमिति को मूल।
दृढ़ निश्चय नहिं होत-बिन, किए प्रेम अनुकूल॥

5.2.5. पाठ सार

नैतिकता एवं मानवीय जीवन-मूल्यों की स्थापना मध्ययुगीन कवि नानक और रसखानि की सकल चेतना का केन्द्रीय तत्त्व है। उनका मत, धर्म, कर्म तथा भक्ति मानवीयता एवं सदाचरण से अनुप्राणित है। उन्होंने अपनी बात चाहे जहाँ से आरम्भ की हो, उसका पर्यवसान प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में नैतिक जीवन-मूल्यों की स्थापना के निमित्त ही किया है। उनकी रचनाओं में नैतिक भावनाओं की अभिव्यक्ति आचारिक एवं मानसिक परिष्कार की शिक्षा देती है। वास्तविक अर्थ में उनकी नैतिक भावाभिव्यक्ति कोई ओढ़ी हुई वस्तु प्रतीत नहीं होती, अपितु वह अन्तस् की अविरज भूमि से उन्मिषित हुई है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि नानक और रसखानि जैसे मध्ययुगीन कवियों की दृष्टि में नीतिकाव्य का प्रतिपाद्य आचारिक और मानसिक उज्ज्वलता ही सिद्ध होता है।

5.2.6. कठिन शब्दावली

निरंजन	:	मायारहित
कादी	:	काजी
कूड़	:	झूठ
इमि	:	इस प्रकार
भव-बागर	:	असत्य संसार
नागरि	:	स्त्री
सगल	:	समस्त
खिमा	:	क्षमा
गुमानु	:	अभिमान
अहमिति	:	अहंकार

5.2.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. सिंह, डॉ॰ महीप, सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रन्थ साहब तक, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नयी दिल्ली.
2. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद, हिन्दी साहित्य का अतीत, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. भाटी, देशराज सिंह, रसखान ग्रन्थावली, नमन प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. नारायण, डॉ॰ निर्मला, रसखान विवेचनात्मक अध्ययन, मिलिंद प्रकाशन, हैदराबाद.
5. सिंह, वासुदेव, हिन्दी सन्तकाव्य समाजशास्त्रीय अध्ययन, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
6. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
7. तिवारी, रामचन्द्र, मध्ययुगीन काव्यसाधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.

8. सिंह, सुधा, मध्यकालीन साहित्य विमर्श, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता.
9. चौधरी, तेजपाल, मध्ययुगीन काव्य के आधार स्तम्भ, विकास प्रकाशन, कानपुर.
10. मिश्र, सत्यप्रकाश, मध्यकालीन काव्यधाराएँ एवं प्रतिनिधि कवि, हरियाणा साहित्य अकादेमी, चंडीगढ़.

5.2.8. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. मध्ययुगीन सन्त नानक का व्यक्तित्व एवं कृतित्व।
2. कृष्ण-भक्तकवि रसखानि की रचनाएँ।
3. नानक की धार्मिक नीति।
4. रसखानि के काव्य में प्रेम-अभिव्यंजना।
5. गुरु नानकदेव की सांस्कृतिक मूल्य-चेतना के विभिन्न पक्ष।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "सन्त नानक की वाणी में मूलतः आचारिक एवं मानसिक परिष्कार की शिक्षा है।" हिन्दी नीतिकाव्य के आलोक में इस कथन का परीक्षण कीजिए।
2. भक्तकवि रसखानि के काव्य में निहित नीति के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. नानकवाणी अनुप्राणित है –
   (क) कर्म से
   (ख) धर्म से
   (ग) अध्यात्म से
   (घ) उपर्युक्त सभी

2. गुरु नानकदेव आत्मारूपी सुन्दरी को किसका शृंगार धारण करने का उपदेश देते हैं?
   (क) परोपकार का
   (ख) त्याग का
   (ग) क्षमा का
   (घ) विवेक का

3. 'प्रेमवाटिका' किसकी रचना है ?
   (क) रसखानि
   (ख) नानक
   (ग) दादूदयाल
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

4. निम्नलिखित में से ब्रजभाषा के रससिद्ध कवि माने जाते हैं –
   (क) कबीर
   (ख) नानक
   (ग) रसखानि
   (घ) उपर्युक्त सभी

5. रसखानि की प्रेमाभिव्यक्ति है –
   (क) सहजमार्गी
   (ख) ज्ञानमार्गी
   (ग) रहस्यवादी
   (घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

उपयोगी इंटरनेट स्रोत :

1. http://epgp.inflibnet.ac.in/ahl.php?csrno=18
2. http://www.hindisamay.com/
3. http://hindinest.com/
4. http://www.dli.ernet.in/
5. http://www.archive.org

❖❖❖

खण्ड – 5 : अन्य कवियों के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई – 3 : जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना

इकाई की रूपरेखा

5.3.0. उद्देश्य कथन
5.3.1. प्रस्तावना
5.3.2. जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल : व्यक्तित्व-कृतित्व
  5.3.2.1. जमाल : व्यक्तित्व-कृतित्व
  5.3.2.2. रामसहाय दास : व्यक्तित्व-कृतित्व
  5.3.2.3. सम्मन : व्यक्तित्व-कृतित्व
  5.3.2.4. बेताल : व्यक्तित्व-कृतित्व
5.3.3. जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
  5.3.3.1. जमाल का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
  5.3.3.2. रामसहाय दास का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
  5.3.3.3. सम्मन का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
  5.3.3.4. बेताल का युगबोध एवं जीवन-दर्शन
5.3.4. जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन
  5.3.4.1. वैयक्तिक एवं सामाजिक नीति
  5.3.4.2. आर्थिक नीति
  5.3.4.3. राज्य नीति
  5.3.4.4. धार्मिक नीति
  5.3.4.5. आध्यात्मिक नीति
  5.3.4.6. सांस्कृतिक नीति
5.3.5. पाठ सार
5.3.6. कठिन शब्दावली
5.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची
5.3.8. बोध प्रश्न

5.3.0. उद्देश्य कथन

मध्यकालीन कवि जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल की लोकप्रियता नीतिकवि के रूप अधिक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में यद्यपि इनको अपेक्षाकृत कम महत्त्व दिया गया है तथापि लोक में इनकी ख्याति समान रूप से देखी जाती है। उनकी नीति विषयक रचनाएँ विविध आयामी न होते हुए भी मानव-जीवन के लिए

बेहद उपयोगी व अनुकरणीय हैं। प्रस्तुत इकाई जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल के काव्य में अभिव्यक्त सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य चेतना पर आधारित है। प्रस्तुत पाठ का अध्ययन करने के उपरान्त आप –

i. जमाल, रामसहाय दास, सम्मन व बेताल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की जानकारी ग्रहण कर सकेंगे।
ii. उनकी युगीन चेतना एवं मानवीय जीवन-दर्शन की व्याख्या कर सकेंगे।
iii. उनके काव्य में निहित नीति के उल्लेखनीय पक्षों की विवेचना कर सकेंगे।

5.3.1. प्रस्तावना

नीति-विवेचना मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। मध्यकाल से बहुत पूर्व ही नीति विषयक रचनाओं की सुदीर्घ परम्परा रही है। नीतिकाव्य का उद्भव विश्व साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद से माना गया है। ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों, स्मृतिग्रन्थों, रामायण, महाभारत आदि में भी धर्म और नीति के सदुपदेश सम्मिलित हैं। इन नीति-ग्रन्थों में तत्त्वज्ञान और वैराग्य का सुन्दर सन्निवेश हुआ है। दैनिक जीवन में लोक-व्यवहार की नीति के साथ ही जीवन की असारता का निरूपण कर मानव मात्र को 'मोक्ष' के साधन का उपदेश भी इन नीतिग्रन्थों में हुआ है। महाभारत के दो बड़े प्रसंग श्रीमद्भगवद्गीता एवं विदुरनीति भारतीय नीतिकाव्य के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। श्रीमद्भगवद्गीता में जीवन की असारता, आत्मा की अमरता, निष्काम कर्मवाद आदि की शिक्षा दी गई है। इसी प्रकार विदुर नीति में कुलधर्म, सर्वधर्म, राजधर्म, विश्वधर्म व आत्मधर्म के विविध स्वरूपों का विवेचन हुआ है।

नीतिकाव्य का सर्वप्रथम संग्रह 'चाणक्यनीति' है। इसमें दी गई शिक्षा, उपदेश व नीतिवाक्य सार्वभौमिक हैं। मानव जीवन के लिए सर्वथा उपादेय इस नीतिग्रन्थ में अनुभव एवं बुद्धि की सूक्ष्माभिव्यक्ति हुई है। भर्तृहरि विरचित नीतिशतकम् एवं वैराग्यशतकम् उत्कृष्ट शैली में लिखे गए नीतिकाव्य हैं। मानवीय व्यवहारों, प्रवृतियों और सदाचार की व्यापक चर्चा इन ग्रन्थों में की गई है। संस्कृत साहित्य में उनके नीतिवचनों का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। अपने लौकिक व्यावहारिक ज्ञान का परिचय देते हुए भर्तृहरि ने अपने अनुभूत सत्य को अत्यन्त सहज, सरल, स्वाभाविक एवं सुन्दर शब्दों में प्रस्तुत किया है।

नीतिकाव्य की परम्परा में सुन्दर पाण्डेय-रचित नीतिद्विषष्ठिका, शंकराचार्य-विरचित मोहमुद्गर, कवि दामोदरगुप्त-विरचित कुट्टनीमत, कवि हेमचन्द्र-कृत व्याकरणग्रन्थ सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासनम्, महाकवि क्षेमेन्द्र-विरचित कलाविलास, दर्पदलन, चारुचर्या, चतुर्वर्गसंग्रह, सेव्यसेवकोपदेशम्, समयमातृका, देशोपदेशम्, कवि जल्हण-कृत मुग्धोपदेशम्, शिल्हण-कृत शान्तिशतकम्, सोमप्रभ-कृत शृंगारवैराग्यतरंगिणी, वेदान्तदेशिक-रचित सुभाषितनीवी और वैराग्यपंचक, कवि कुसुमदेव-रचित दृष्टान्तकलिकाशतम्, द्याद्विवेद-कृत नीतिमंजरी, पण्डितराजजगन्नाथ-कृत भामिनीविलास, नीलकण्ठ दीक्षित-रचित कलिविडम्बनम्, सभारंजनशतकम्, शान्तिविलास, वैराग्यशतकम्, वेंकटाध्वरी-कृत सुभाषितकौस्तुभ, दक्षिणामूर्ति-कृत लोकोक्तिमुक्तावली आदि

प्रमुख नीति विषयक ग्रन्थ हैं जिनमें नैतिक भावों एवं उपदेशों की सुन्दर अभिव्यंजना हुईहै। इन समस्त नीतिग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य सदाचरण, नैतिकता एवं मानवीय जीवन-मूल्यों की स्थापना करना रहा है।

भक्तिकाल में कबीर, नानक, रैदास, दादूदयाल, रज्जब, सुन्दरदास, दरिया, हरिरामदास, रामदास, रामचरण प्रभृति सन्तकवियों एवं तुलसीदास, वल्लभाचार्य, सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, मीराँबाई, रहीम, रसखानि आदि भक्तकवियों की काव्य-रचनाओं में नीतितत्त्व की सुन्दर एवं प्रभावी अभिव्यंजना हुई है। रीतिकालीन कवि बिहारीलाल, वृन्द, घाघ-भड्डरी, गिरिधर कविराय, दीनदयाल गिरि ने तत्कालीन परिवेश एवं परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुरूप इस परम्परा को आगे बढ़ाया।

मध्यकाल में ही जमाल, रामसहाय दास, सम्मन एवं बेताल ने भी लोक-व्यवहार, सदाचरण एवं मानवीय-मूल्यों को लक्ष्य कर नीतिविषयक रचनाएँ की हैं। इन कवियों का नीतिसाहित्य किसी धर्म, रीति, सम्प्रदाय, जाति अथवा समुदाय विशेष का आख्यान नहीं है अपितु वह उनकी स्वच्छन्द चेतना का शब्दायन है। इनके द्वारा रचित नीतिकाव्य विभिन्न जातियों, धर्मों व सम्प्रदायों के मध्य स्वस्थ, सुदृढ़ एवं ठोस महासेतु का निर्माण करता है। वह मानवता की महावाणी है जो प्राणियों को सद्भाव, सदाचार, भ्रातृत्व एवं संस्कार का पाठ पढ़ाते हुए जीवन की निस्सारता एवं ईश्वर की नित्यता का बोध कराता है।

5.3.2. जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल : व्यक्तित्व-कृतित्व

महापुरुषों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में बहुत नजदीकी सम्बन्ध होता है। उनकी कथनी और करनी में भेद नहीं होता। वे उसी का उपदेश करते हैं जिसका पालन वे स्वयं अपने जीवन में करते हैं। वास्तव में उपदेश करना उनका लक्ष्य नहीं होता। वे तो अपने परदुःखकातर स्वभाव के वशीभूत हो पीड़ित एवं दिग्भ्रमित जनसामान्य के प्रति अपने दायित्वों का निर्वहन भर करते हैं। सहृदय साहित्यकार अपने अनुभूत सत्य को परम सदाशयता के साथ श्यामवर्णी मेघ के पवित्र जल सदृश बरसाते हैं जो पात्र सीधे रखे होते हैं वे इसे धारण कर अपना होना सार्थक करते हैं। रचनाकारों का व्यक्तित्व और कृतित्व मानवीय जीवनदर्शों एवं नैतिक जीवन-मूल्यों की स्थापनार्थ होता है। जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल का व्यक्तित्व जनमानस को चिन्तन एवं सदाचरण की अभिप्रेरणा देता है। इनका कृतित्व आदर्श व नैतिकता से अनुप्राणित-अनुचालित है तथा एक मायने में वह आचारिक एवं मानसिक परिष्कार का संवाहक है। इनकी कृतियाँ नैतिकता और जीवन-मूल्यों का प्रचार-प्रसार करती हैं जिसमें बाह्याडम्बरों की कालिमा को छटकाकर अन्तःसाधना की उज्ज्वलता प्रकाशित करने का उद्देश्य अन्तर्निहित है।

5.3.2.1. जमाल : व्यक्तित्व-कृतित्व

'शिवसिंहसरोज' में जमाल को जमालुद्दीन कहा गया है। शिवसिंह के अनुसार जमालुद्दीन को पिहानी (हरदोई) निवासी और वि.सं. 1625 में उपस्थित माना गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जमाल को मुस्लिम कवि माना है और उनका रचनाकाल वि.सं. 1627 अनुमानतः स्वीकार किया है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र कवि जमाल के विषय में एक दन्तकथा का उल्लेख करते हैं जो उन्होंने प्रसिद्ध कवि दीनदयाल गिरि के प्रशिष्य

चुन्नीलाल से सुनी थी। उसके अनुसार जमाल सुकवि अब्दुर्रहीम खानखाना के पुत्र थे। विलास में डूबे रहने के कारण जमाल अन्तःपुर से बाहर बहुत कम ही निकलते थे। पिता रहीम को यह बहुत बुरा लगता था। पुत्र को विषयभोग से बाहर खींचने और उसमें काव्य-रचना की शक्ति जगाने के लिए रहीम ने प्रतिदिन रंगमहल के द्वार पर एक कूट दोहा लिखने का उपाय किया। जमाल नित्य उस दोहे को पढ़ते, देर तक उसका आशय समझते और प्रत्युत्तर में एक अन्य दोहा उसी द्वार पर अंकित कर देते थे। प्रश्नोत्तर रूप में उस दोहांकन का शुभ परिणाम यह हुआ कि जमाल भोग से दूर होकर काव्य-रचना में लग गए। इस कपोलकथा से यह तो स्पष्ट होता है कि जमाल सम्राट अकबर के समय अवश्य विद्यमान थे।

अब तक जमाल के पौने चार सौ के आसपास फुटकर दोहे और कतिपय छप्पय ही प्राप्त हो सके हैं। वैसे 'जमाल पचीसी' और 'भक्त जमाल की टिप्पणी' उनके दो अन्य ग्रन्थ माने जाते हैं। उन्होंने मुख्य रूप से कूट दोहों की ही रचना की है जिनका प्रधान विषय शृंगार है। उनकी सम्पूर्ण रचनाएँ प्रेम, नीति और कृष्ण-कथा से सम्बन्धित है। 'चित्रकाव्य' की रचना में उन्होंने विशिष्ट प्रकार की विचित्रता दिखाई है। उनकी रचनाओं में भावव्यंजना की सहज मार्मिकता, शब्दक्रीड़ा की निपुणता और कूट काव्य-रचना की प्रवीणता सहज ही परिलक्षित है। उदाहरण देखिए –

तिन तिन सत, अठ दूइ, सत दुइ, अठ दुई, पँच एक।
तीन पुनहि मम कण्ठ मँह, कर जमाल करि टेक॥

5.3.2.2. रामसहाय दास : व्यक्तित्व-कृतित्व

विद्वानों ने कवि रामसहाय दास को कायस्थ जाति में जन्मा माना है। वे बनारस जिला के चौबेपुर गाँव के रहने वाले थे। कविता में उनके उपनाम 'राम' का उल्लेख मिलता है। बिहारीलाल की 'सतसई' की भाँति उनकी 'राम-सतसई' भी शब्दों की कारीगरी और वाक्चातुर्य की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध है। प्रो॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी ने रामसहाय दास का कविता-काल सन् 1703 ई. से सन् 1823 ई. तक स्वीकार किया है। उल्लेखनीय है कि रामसहाय दास ने मलिक मुहम्मद जायसी के 'अखरावट' के ढंग पर 'ककहरा' की रचना की है जिसमें नीतिविषयक उपदेशों की बहुलता है। उनकी एक अन्य बहुचर्चित कृति 'वाणीभूषण' में काव्यशास्त्र के विषयों का विशद् विवेचन मिलता है। अन्योक्ति-आश्रित नीतिकाव्य के क्षेत्र में उनकी मार्मिकता व सौन्दर्यानुभूति का विशिष्ट स्थान है। उनकी रचनाओं में सहृदयता एवं भावुकता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। उदाहरण देखिए –

साधु मिलै सुख उपजै, भाव भगति रस पाय।
सति सिरोमनि साईयाँ, जहँ आनंद अंग न माय॥

5.3.2.3. सम्मन : व्यक्तित्व-कृतित्व

रीतिकालीन कवि सम्मन का जन्म वर्ष सन् 1777 ई. में हुआ था। वे ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनका निवासस्थान मल्लावां, जिला हरदोई माना है। सम्मन के नीति सम्बन्धी दोहे ग्रामीण जनता में आज भी बहुप्रचलित एवं लोकप्रिय हैं। उनकी भाषा सरल व सीधी एवं मर्मस्पर्शी है। रचनात्मक वैविध्य के आलोक में उनके प्रमुख विषय उनके स्वयंसिद्ध अनुभवों की थाती हैं जो अत्यन्त सरस, सरल, सुन्दर और सुगठित शैली में अभिव्यक्त हुए हैं। उदाहरण देखिए –

सम्मन रस की खान, सो हम देखा ऊख में।
ताहू में एक हानि, जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं॥

5.3.2.4. बेताल : व्यक्तित्व-कृतित्व

बेताल जाति के 'बंदीजन' स्वीकार किए जाते हैं। समीक्षकों और आलोचकों ने रीतिकालीन कवि बेताल को प्रमुख नीतिकवि स्वीकार किया है। उनका 'बेताल' नाम ही प्रसिद्ध है तथापि डॉ॰ भोलानाथ तिवारी ने आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के कथन के आधार पर उनके वास्तविक नाम के विषय में सन्देह प्रकट किया है। संस्कृत का 'वेताल' शब्द ही लोक में बेताल हो गया है। 'वेताल' शब्द के चार अर्थ मिलते हैं – (i) एक प्रकार की भूतयोनि, (ii) छप्पय छन्द के छठे भेद का नाम, (iii) अपनी छाया, (iv) द्वारपाल। इसी प्रकार बेताल के समय के विषय में भी विभिन्न मत देखने में आते हैं। 'शिवसिंहसरोज' में उनका जन्म वर्ष सन् 1677 ई. मिलता है। बेताल ने अपने सभी छप्पयों में 'बेताल कहै बिक्रम सुनो' कहा है अतः कुछ लोग अनुमान करते हैं कि बेताल 'विक्रम सतसई' के प्रसिद्ध रचयिता चरखारी नरेश विक्रम साही के दरबार में विद्यमान थे। इस तथ्य के आधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनका समय सन् 1782 ई. और सन् 1829 ई. के मध्य माना है। बेताल की लोकप्रियता की पुष्टि करते हुए डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी कहते हैं कि "काल के अनिश्चित होते हुए भी इतना तो निश्चित ही है कि बेताल मध्यकाल के एक सुप्रसिद्ध नीतिकवि थे और उनके छन्द बहुत लोकप्रिय थे।"

कवि बेताल की प्रसिद्धि व्यवहार और नीति के छप्पयों की वजह से है। वे आम जनता में लोकप्रिय कवि के रूप में विख्यात हैं। व्यावहारिक जीवन की नीतियों को अत्यन्त सरल एवं स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करना उनके छप्पयों की प्रमुख विशेषता है। उनके छप्पयों के विषय दुर्जन, सज्जन, ज्ञान, धन, बुद्धि, पुत्र, स्त्री आदि हैं। रहीम, वृन्द या दीनदयाल गिरि की तरह बेताल नीतिकाव्योचित अलंकारों द्वारा अपने छन्दों में प्रभविष्णुता लाने का प्रयास नहीं करते हैं फिर भी उनका आकर्षण देखते ही बनता है। उदाहरण देखिए –

दया चट्ट ह्वै गई धरम धँसि गयो धरन में।
पुन्न गयो पाताल पाप भयो बरन बरन में।
राजा करै न न्याय प्रजा की होत खुआरी।
घर घर में बेपीर दुखित भे सब नर-नारी।

अब उलटि दान गजपति माँगे सील सँतोष कितै गयो।
बेताल कहै बिक्रम सुनो यह कलियुग परगट भयो॥

बेताल का लिखा कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, केवल फुटकल छन्द ही मिलते हैं। उनके द्वारा विरचित प्राप्त छन्दों की संख्या तीस से अधिक नहीं है। 'गोरा लेवा', फ्री स्कूल स्ट्रीट, कोलकाता से 1881 ई. में प्रकाशित 'गिरिधर के कुण्डलियाँ' शीर्षक ग्रन्थ में उनके कुछ छप्पय प्रकाशित हुए हैं।

5.3.3. जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

प्रायः प्रत्येक मध्यकालीन कवि ने प्रत्यक्ष वा परोक्ष रूप में नीति की बात कही है। इसका मूल कारण तत्युगीन काव्य का अपनी प्रकृति में ऐहिक, लौकिक, सांसारिक होना है। इस दौर में रचित साहित्य में उस संसार की बात अपेक्षाकृत अधिक कही गई है जो वर्तमान है, दृश्यमान है। स्वाभाविक है कि जहाँ लोक या संसार की अनुभूति होगी, वहाँ लोकशिक्षा, सांसारिक शिक्षा अथवा व्यावहारिक शिक्षा जिसे एक अर्थ में नैतिक शिक्षा भी कहा जा सकता है, की आवश्यकता सर्वाधिक होगी। मध्यकालीन कवि जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल अपनी व्यावहारिक दृष्टि, नीति व प्रभावी छन्दों के कारण जन सामान्य में सुविख्यात रहे हैं। उनका युगबोध एवं मानवीय जीवन-दर्शन उनके काव्य को लोकप्रिय बनाता है।

5.3.3.1. जमाल का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

विदित है कि सत्रहवीं शताब्दी का मध्य आते-आते हिन्दी कविता की विकास-प्रक्रिया में भक्ति का आवेश कम होने लगा। लगभग तीन सौ वर्षों तक निरन्तर सामाजिक मर्यादा का वहन करने वाली एवं देह तथा सांसारिक लिप्तता का निषेध करने वाली काव्य-धारा अब भक्ति और अध्यात्म का दामन छोड़ देह और काम विषयों की ओर बहुत तेजी से उन्मुख हुई। राजदरबार के दबाव में शृंगारिक कविताएँ रची जाने लगीं लेकिन यह भी सच है कि दरबारी और शृंगारिक अभिरुचियों के बावजूद तत्युगीन नीतिकाव्य में मानवीय जीवन-मूल्यों को संजोने का अदम्य प्रयास समानान्तर प्रवाहित होता रहा। दरबारी संस्कृति से अछूते रहकर नीतिविषयक काव्य की रचना कर अपने सामाजिक दायित्व का निर्वहन करने वाले नीतिकवियों में जमाल प्रमुख हैं जिन्होंने भक्ति और नीति के घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में समरसता व सदाचरण के निहितार्थ नीति का संचार कर अपने ढंग सेव्यक्ति व समाज का वास्तविक अर्थों में उपकार किया।

5.3.3.2. रामसहाय दास का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

रीतिकाल में जहाँ एक ओर सामन्तों और राजाओं का जीवन आपादमस्तक विलासिता में निमग्न था, वहीं दूसरी ओर सामान्य जनता दरबारी संस्कृति और भोग-विलास की प्रवृत्ति से बहुत दूर थी। जन सामान्य के अभावग्रस्त और नैराश्यपूर्ण जीवन में आशा, सन्तोष, चरित्र, भक्ति और नीति का संचार करने हेतु तत्कालीन नीतिकवि प्राणपण से जुटे थे। ऐसे ही नीतिकवियों में रामसहाय दास जनसामान्य के हितार्थ सद्साहित्य का निर्माण

कर रहे थे। रामसहाय दास की रचनाओं में नीति सामान्यतः भक्ति और साधना की अंगीभूत होकर आई है लेकिन उन पर उनके निजी अनुभवों की छाप अधिक रही है । अपने काव्य में उन्होंने समकालीन समय की केन्द्रीय समस्याओं को प्रमुखता से उठाया है। उनका काव्य चरित्र-निर्माण का मार्ग प्रस्तुत करता है। वहाँ व्यावहारिक विसंगतियों का कोई उदाहरण नहीं मिलता । रामसहाय दास ने अपने काव्य में लोकानुभवों एवं व्यवहारों को अत्यन्त संयत वाणी में सहेज कर मानव-जीवन को उदात्त बनाने का सार्थक प्रयास किया है। सामाजिक न्याय, आपसी सद्भाव व सादगीपूर्ण जीवनशैली उनके नीतिकाव्य का मूल स्वर है। धार्मिक संकीर्णता व संस्थागत धर्म की आलोचना करते हुए वे धर्म के मानवीय पहलू को उजागर करने की कोशिश करते हैं।

5.3.3.3. सम्मन का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

कवि सम्मन का युगबोध एवं जीवन दर्शन लोकभूमि पर अवस्थित दिखाई देता है। व्यक्तिबद्ध अनुभूति के लिए उसमें कहीं कोई स्थान परिलक्षित नहीं होता है । वे मानवीय चेतना एवं जीवन-मूल्यों को मजबूत आधार प्रदान करने के हिमायती हैं । उनका युगबोध समय के गतिचक्र से प्रभावित न होकर विचारधारा, आचरण, व्यवस्था और उनसे जुड़ी मानसिकता पर आधारित है । वे मनुष्य मात्र के प्रति होने वाले सामाजिक-आर्थिक अन्याय का प्रतिवाद करते हैं। महज विचार के धरातल पर ही नहीं, अपितु मानव चरित्र-चित्रण के धरातल पर भी वे अपनी उन्नत सोच को अभिव्यक्त करते हैं। परहित के निहितार्थ वे परपीड़ा पर टिकी हुई परम्परागत सामाजिक व्यवस्था को परिष्कृत करने पर जोर देते हैं। राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक संक्रान्ति के दौर में मानवप्रेम व सदाचरण पर आधारित उनका नीतिकाव्य जनसामान्य का मार्ग प्रशस्त करने व भूली-भटकी जनता को नैतिक पथ पर अग्रसर कर उन्हें नव-प्रकाश प्रदान करने का आकांक्षी है।

5.3.3.4. बेताल का युगबोध एवं जीवन-दर्शन

रीतिकालीन कवि बेताल प्रतिभाशाली रचनाकार हैं । उनकी काव्य-चेतना का निर्माण तत्युगीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक परिस्थितिवश हुआ। चूँकि, उनकी वैचारिक संस्कृति के केन्द्र में नैतिकता और सदाचरण का भाव अपेक्षाकृत अधिक है इसलिए वे रीतिकालीन परम्परा से जुड़े होकर भी कई बिन्दुओं पर सर्वथा अलग दिखलाई पड़ते हैं। उनका युगबोध एवं जीवन-दर्शन मानव-हित में अन्याय व दमन के विरुद्ध मानव-संघर्ष की गाथा बन जाता है। उल्लेखनीय है कि रीतिकालीन दरबारी संस्कृति में राजनीति स्वप्नशून्य होकर विलासिता का पर्याय बन चुकी थी। तत्युगीन परिवेश में सामाजिक व्यवस्था की भूमिका स्खलित हो चुकी थी । राजनैतिक-सामाजिक मूल्यों के नष्ट-भ्रष्ट होने के परिणामस्वरूप पाखण्ड व षड्यंत्र का बोलबाला एक सामान्य परिघटना मानी जा सकती है । ऐसी परिस्थितियों में बेताल अपने काव्य-चिन्तन में युगीन राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को उद्घाटित करते हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार सरस उक्ति को ही काव्य माना जाना चाहिए, शेष को सूक्ति या पद्य मात्र। इस दृष्टि से बेताल के काव्य में रसवत्ता की न्यूनता सिद्ध की जा सकती है परन्तु सच तो यह है कि घोर विलासितापूर्ण उस युग में बेताल का काव्य-चिन्तन मानवीय जीवन-दर्शन एवं लोकहित के इर्द-गिर्द घूमता है अतः वे दरबारदारी न करके सदैव लोकमानस के मध्य रहते हुए

उन्हीं की भाषा में उन्हीं के समूह व समाज की बात करते हैं और इस तरह लोकप्रिय जनकवि का दर्जा हासिल करते हैं।

5.3.4. जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल का नीतिकाव्य : एक सिंहावलोकन

जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल ने अपनी रचनाओं में मानवीय मूल्यों की महिमा को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में बड़ी व्यापकता के साथ अभिव्यंजित किया है। इन कवियों की दृष्टि में मानवीय आचरण की शुचिता ही सबकुछ है। इनकी नैतिक भावना आचारिक एवं मानसिक शुद्धता की शिक्षा देती है। समग्र मानवता का विकास इन कवियों की सकल चेतना का मूल तत्त्व है। इस तरह इनकी नैतिक भावना कोई थोपी हुई वस्तु नहीं है, अपितु मंगलविधायिनी भावना से सर्वदा अभिप्रेरित है। वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, आध्यात्मिक व सांस्कृतिक नीति के आलोक में उनका काव्य आचारिक व मानसिक उज्ज्वलता का परिचायक है।

5.3.4.1. वैयक्तिक एवं सामाजिक नीति

रीतिकालीन नीतिकाव्य वैयक्तिक व सामाजिक जीवन-मूल्यों से परिपूर्ण है। समाज व्यक्ति से नीतिसम्मत व्यवहार की अपेक्षा करता है अतः व्यक्ति को सोच-समझकर अवसरानुकूल कार्य एवं व्यवहार करना चाहिए। वैयक्तिक व सामाजिक नीति के सन्दर्भ में नीतिकवियों ने सदैव एक कल्याणकारी एवं आदर्श रूप प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। उदाहरण के तौर पर वैयक्तिक नीति के आलोक में कवि बेताल परिवार के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों का एक आदर्श रूप प्रस्तुत करते हैं। वे 'पति बिनु सूनी कामिनी' कहकर दाम्पत्य जीवन में पारस्परिक निर्भरता की महत्ता को उद्घाटित करते हैं। कुल के मंगल के लिए सुपुत्र की कामना अभिव्यक्त करते हैं। सुपुत्र अपने कुल-वंश की मान-मर्यादाओं का रक्षक होता है। ऐसे में वे कहते हैं कि जो पुत्र अपने कुल अथवा वंश में दाग (कलंक) का कारण बने, ऐसे पुत्र का तो मर जाना ही श्रेष्ठ है – 'पूत वही मरि जाय जु कुल में दाग लगावै।'

सामाजिक जीवन में मित्र प्रत्यक्ष रूप से घर-परिवार का सदस्य न होते हुए भी एक प्रकार से परिवार के सदस्य के समान ही होता है। मित्रता स्वार्थप्रेरित नहीं होती। मित्रता में सदैव एक-दूसरे का सहयोग करने की भावना बलवती होती है। इस सन्दर्भ में कवि बेताल अपने काव्य में सच्चे मित्र की बार-बार प्रशंसा करते हैं। उनके विचार में मित्र की असली पहचान संकट की घड़ी में होती है। जो मित्र समय पर काम न आए, उसका मर जाना ही बेहतर है – 'मित्र वही मरि जाय अड़ी पर काम न आवै।'

नीतिकवियों ने व्यक्ति को हमेशा मीठी वाणी बोलने की सीख दी है। उनकी प्रबल धारणा है कि व्यक्ति का जीवन समय के फेर से अच्छा-बुरा बनता रहता है। इसलिए व्यक्ति को क्रुद्ध, क्षुब्ध या खिन्न होकर कभी भी दुर्वचन नहीं बोलने चाहिए। पारस्परिक भ्रातृभाव बढ़ाने के लिए मधुर वाणी का प्रभाव आवश्यक है। कवि सम्मन का विश्वास है कि मीठी वाणी बोलने से संसारभर के समस्त सुखप्राप्त हो जाते हैं। जो व्यक्ति खूब पढ़ाई-लिखाई करके भी मीठी वाणी बोलना नहीं सीखा, उसका ज्ञान निरर्थक है –

सम्मन मीठी बात सों, होत सबै सुख पूर।
जेहि नहिं सीखो बोलिवो, तेहि सीखो सब धूर॥

बेताल कवि भी मधुर वाणी के हिमायती हैं तभी तो 'मरै करकसा नारि' कहकर कर्कशा नारी का मर जाना ज़्यादा अच्छा मानते हैं और मृदुवाणी की महिमा को सुस्थापित करते हैं।

नीतिकवियों ने व्यसन और व्यसनियों की घोर निन्दा की है। बेताल उन ब्राह्मणों (अध्यापन कर्म करने वालों) का मर जाना ज़्यादा उचित समझते हैं जो मदिरासेवी हैं। वैज्ञानिक तथ्य है कि मदिरा-पान करने से व्यक्ति का विवेक भ्रष्ट हो जाता है, उसकी भला-बुरा, उचित-अनुचित सोचने-समझने की शक्ति पूरी तरह से नष्ट हो जाती है, शरीर अस्वस्थ हो जाता है। जिसका विवेक नष्ट हो चुका वह अध्यापक भला क्या तो विद्यार्थियों को ज्ञान बाँटेगा और क्या उनके समक्ष जीवनादर्श प्रस्तुत करेगा। इसलिए बेताल कवि ऐसे अध्यापकों का मर जाना ही ज़्यादा ठीक समझते हैं – "बाँभन सो मरि जाय हाथ लै मदिरा प्यावै।"

5.3.4.2. आर्थिक नीति

जीवन में अर्थ का अपना महत्त्व है। उसके अभाव में जीवनयापन कठिन है। जीवन की सामान्य भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ की तथा अर्थोपार्जन हेतु उद्यम की महत्ता समस्त नीतिकवियों ने किसी-न-किसी रूप में स्वीकार की है। गार्हस्थ्य में अर्थोपार्जन एक महत्त्वपूर्ण पहलू है। भारतीय समाज में पति का यह दायित्व निर्धारित किया गया है कि वह ईमानदारीपूर्वक कठोर परिश्रम करे एवं अपने परिवार की सामान्य अपेक्षाओं को पूर्ण करे। इस सन्दर्भ में कवि बेताल अकर्मण्य पति पर लानत भेजते हैं –

मरै बैल गरियार मरै वह अड़ियल टट्टू।
मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू।

जीवन में धन सबकुछ नहीं होता फिर भी एक सीमा तक धन की भी अपनी महत्ता है। धन की महिमा का बखान करते हुए बेताल कवि कहते हैं कि धनाभाव में जीवन क्लेशमय हो जाता है। टका यानी धन ही मस्तक पर छत्र धराता है, मान-सम्मान दिलाता है। टका ही जीवन में मृदंग बजाता है यानी खुशियाँ लाता है। बिना टके के जीवन को धिक्कार है –

टका करै कुल हूल टका मिरदंग बजावै।
टका चढ़ै सुखपाल टका सिर छत्र धरावै।
टका माय अरु बाप टका भैयन को भैया।
टका सास अरु ससुर टका सिर लाड़-लड़ैया।
अब एक टके बिनु टकटका रहत लगाये रात दिन।
बेताल कहै विक्रम सुनो धिक्क जीवन एक टके बिन॥

इसीलिए भारतीय साहित्य और संस्कृति में बारम्बार संयमित जीवन की अनुशंसा की गई है। संयमित जीवन में अर्थ महज एक साधन होता है तब जीवन उस पर निर्भर नहीं होता।

5.3.4.3. राज्य नीति

किसी देश विशेष का शासक या राजा ही वहाँ की राजनीति का केन्द्र होता है। जो प्रजा-रक्षण करे, प्रजा का पालन-पोषण करे, प्रजा के सुख-दुःख में सहभागी बने, सही मायने में वही राजा है। अयोग्य, अकर्मण्य व विधिहीन राजा प्रजा के लिए दुःखदायी होता है। कवि बेताल ऐसे राजा के मरने पर शोक नहीं करने की सीख देते हैं –

अरु बेनियाउ राजा मरै तबै नींद भरि सोइए।
बेताल कहै बिक्रम सुनो एते मरे न रोइए॥

5.3.4.4. धार्मिक नीति

यह नीतिकवियों का वैशिष्ट्य है कि उनका उपदेश मात्र अपने समय में ही नहीं अपितु युगों-युगों तक जन सामान्य का पथ-प्रदर्शन करता है। नीतिकाव्य अन्धानुकरण की खिलाफ़त करता है। वह विवेकनिष्ठ धर्म का प्रतिष्ठापक है। भजन-कीर्तन के मूल में विघ्नहरण और सर्वकल्याणकारी आराध्य के प्रति एकनिष्ठ होने का भाव परिलक्षित होता है। कवि जमाल का अंकाक्षरी विद्या आधारित कथन उल्लेखनीय है –

तिन तिन सत, दुइ तीन, चर पाँच छवो, सत पाँच।
बिघ्न हरहु कल्यान करु, भज जमाल करि जाँच॥

सगुणोपासक कवि रामसहाय दास राधा-कृष्ण की भक्ति में ही जीवन की सफलता मानते हैं। वे 'वृन्दावन विहरत फिरै, राधा नन्दकिशोर' कहकर अपनी धार्मिक भावना को अभिव्यक्त करते हैं। उनकी दृष्टि में व्यक्ति अहर्निश ईश्वर का भजन-कीर्तन कर अपने आचरण को शुद्ध और पवित्र कर सकता है। अधिकांश नीतिकवियों ने भक्ति-आधारित धर्माचरण के आधार पर ही सन्त जनों की पहचान की है। बेताल कवि के अनुसार जो सन्त हरि नाम का भजन नहीं करता, वह सन्त कहलाने के योग्य नहीं है। जिस प्रकार दामिनी के बिना बादल सूना होता है, ठीक उसी प्रकार हरि भजन के बिना सन्तों का कोई अस्तित्व नहीं है। वे कहते हैं –

हरिनाम भजन बिनु संत अरु घटा सून बिनु दामिनी।
बेताल कहै विक्रम सुनो पति बिनु सूनी कामिनी॥

5.3.4.5. आध्यात्मिक नीति

सामान्य अर्थ में आध्यात्मिकता का सम्बन्ध मन, आत्मा और परमात्मा से है। इसके अन्तर्गत मानव की प्रायः अंतरंग अभिवृत्तियों को शामिल किया जाता है। मोक्षादि सम्बन्धी मूल्यों का विवेचन भी नीतिकवियों ने

इसी श्रेणी में किया है। ईश्वर की सत्ता में विश्वास, आस्था तथा आस्तिकता ही आध्यात्मिकता का मूल आधार है। जमाल कवि की दृष्टि में अपने रचयिता और नियन्ता को जानने की स्वाभाविक इच्छा ही सही मार्ग पाकर आध्यात्मिक ज्ञान तथा विवेक की प्रतिक्रिया रूप में परमतत्त्व के प्रति अनुराग एवं समर्पण के भाव उजागर करती है –

तिन तिन सत, छौ पाँचो करि ध्यान।
नासहु दुख दारिद सबै, कहत जमाल सुजान॥

* * *

तिन तिन सत, छौ पाँच, अठ, तीन, एक, पँच तीन।
छवो, सात चर ध्यान धरि कहत जमाल प्रबीन॥

आत्मा अमर, अचल, अजर है जबकि मन चंचल और अस्थिर है इसलिए सम्मन कवि 'मन अति जानि चंचला सों' कहकर केवल आत्म-चिन्तन में निरत रहने का उपदेश करते हैं। बिना प्रभु-अनुग्रह और आध्यात्मिक ज्ञान के मन को वश में करना सम्भव नहीं है इसलिए वे कहते हैं –

बिनु ज्ञान अनुग्रह बिनु, मन दृढ़ न होवै।
मेरी जान ब्रह्म को, बिचारिबो सुख होवै॥

5.3.4.6. सांस्कृतिक नीति

वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक नीतियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं। इनके सामूहिक परिपालन से ही आदर्श सुसंस्कृत राज्य का निर्माण हो सकता है। नीतिकवियों ने लोककल्याण के निहितार्थ वैयक्तिक-सामाजिक एवं अन्य जीवन-मूल्यों की भाँति सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। सांस्कृतिक जीवन-मूल्यों को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के अनुरूप वर्गीकृत किया जा सकता है। नीतिकवियों ने अपने काव्य में एक ओर जहाँ भारतीय संस्कृति के परम्परागत मूल्यों यथा प्रेम, दया, परोपकार, त्याग, काम, मोक्ष आदि को अपनाने की अनुशंसा की है, वहीं दूसरी ओर वे संसार की कार्यकारण शृंखला को समझ कर सदाचरण एवं व्यवहार पर बल देते हैं। उदाहरणार्थ, रामसहाय दास ने प्रेम की ऐसी अभिव्यक्ति दी है जिसमें गूढ़ता शायद कम है, लेकिन सरलता व सच्चाई बहुत है। उनके अनुसार प्रेम के बिना संसार मिथ्या भासित होता है –

प्रेम प्रीती सनेह बिनु, सब झूठे संसार।
संबत ससि रस ससि, कातिक सुदि ससिबार॥

सम्मन कवि कहते हैं कि जो व्यक्ति दयाविहीन होता है, वह अधर्मी व पापी होता है । दया से बढ़कर दूसरा कोई पुण्य नहीं है । संसार में परदुःखकातर, परोपकारी, सरल हृदय और मृदुल स्वभाव वाले व्यक्ति का ही सुयश होता है –

कहा कहौं मृदुल सुभाव, सरस सम्मन सुवास ।
तेहि कौ सुयश जान, गायौ हरषि उल्लास ॥

बेताल कवि का मानना है कि इस दुनिया में मूर्ख, ज्ञानी, ध्यानी और योगी व्यक्ति तो बहुत हैं लेकिन शीलवान् व्यक्ति कम हैं । चूँकि, संसार में सभी भले कर्म शीलवान् व्याक्ति द्वारा ही सम्पन्न किए जा सकते हैं इसलिए बेताल मनुष्यों को शीलसम्पन्न होने की सीख देते हैं । प्रेम, दया, करुणा, परोपकार व त्याग जैसे उदात्त मानवीय गुणों का विकास भी शील द्वारा ही सम्भव है । बेताल का मानना है कि यदि मनुष्य में शील गुण नहीं है तो उसका जीना बेकार है । इसी प्रकार 'ज्ञान बिनु हिरदय सूनो' कहकर उन्होंने अपनी रचनाओं में ज्ञान की महिमा का भी गुणगान किया है । साथ ही साथ 'पात बिनु तरुवर सूनो' कहकर उन्होंने व्यक्ति व समाज की पारस्परिक निर्भरता, सहभागिता एवं सद्भाव की महत्ता को उद्घाटित किया है –

ससि बिनु सूनी रैनि ज्ञान बिनु हिरदय सूनो।
कुल सूनो बिन पुत्र पात बिनु तरुवर सूनो।
गज सूनो बिन दंत सलिल बिनु सायर सूनो।
बिप्र सूनो बिनु बेद और बन पुहुप बिहूनो।
हरिनाम भजन बिनु संत अरु घटा सून बिनु दामिनी ।
बेताल कहै विक्रम सुनो पति बिनु सूनी कामिनी ॥

5.3.5. पाठ सार

नीतिकाव्य की सुदीर्घ परम्परा भारतीय साहित्य में वैदिक युग से अविच्छिन्न रूप में प्रवाहमान है । मानव-कल्याण, सामाजिक उद्धार और परदुःखकातरता के भाव से लिखित नीतिकाव्य की वाणी में कहीं कोई दिखावा, आडम्बर और बनावटीपन नहीं है । नीतिकवियों की जीवन-दृष्टि एवं व्यवहार में मानवता के सरोकार हैं जहाँ वे अपनी हार्दिक अनुभूतियों को सहर्ष अभिव्यक्त करने में ही कवि-कर्म की सार्थकता महसूस करते हैं । जमाल, रामसहाय दास, सम्मन, बेताल आदि मध्यकालीन कवियों के काव्य में नैतिकता मानवीय उपादानों से रहित नहीं है लेकिन काव्य में वे उनका सायास प्रयोग नहीं करते हैं । हिन्दी साहित्य के इतिहास में इन कवियों की प्रसिद्धि भी इसी रूप में रही है । प्रयोजन की दृष्टि से सीधे लोकमंगल की भावना से जुड़ा होने के कारण इन नीतिकवियों का काव्य अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि का बन पड़ा है । व्यक्ति को जीवन के हर मोड़ पर निर्णय लेना होता है । नीतिकवियों द्वारा विरचित काव्य मनुष्य को जीवनोपयोगी संस्कार और नैतिक मूल्यों की शिक्षा प्रदान करते हैं । लोक में गाहे-बगाहे सुनकर स्मृति में प्रसुप्तावस्था में अवस्थित ये नीतिवाक्य किंकर्त्तव्यविमूढ़ स्थितियों में व्यक्ति का समुचित मार्गदर्शन करते हैं ।

5.3.6. कठिन शब्दावली

खसम	:	पति
दामिनी	:	बिजली
कामिनी	:	स्त्री
तरुवर	:	वृक्ष
टका	:	पैसा
सुजान	:	सज्जन

5.3.7. उपयोगी ग्रन्थ-सूची

1. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, मध्यकालीन बोध का स्वरूप, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. मिश्र, आचार्य विश्वनाथ, हिन्दी साहित्य का अतीत (भाग-2), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. तिवारी, रामचन्द्र, मध्ययुगीन काव्य-साधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी.
4. सिंह, सुधा, मध्यकालीन साहित्य विमर्श, आनन्द प्रकाशन, कोलकाता.
5. चौधरी, तेजपाल, मध्ययुगीन काव्य के आधार स्तम्भ, विकास प्रकाशन, कानपुर.
6. मिश्र, सत्यप्रकाश, मध्यकालीन काव्यधाराएँ एवं प्रतिनिधि कवि, हरियाणा साहित्य अकादेमी, चंडीगढ़.

5.3.8. बोध प्रश्न

टिप्पणी लिखिए –

1. मध्ययुगीन नीतिकवि जमाल।
2. कवि बेताल के काव्य में वैयक्तिक-सामाजिक नीति की अभिव्यक्ति।
3. नीतिकवि रामसहाय दास का व्यक्तित्व एवं कृतित्व।
4. सम्मन कवि की वाणी विषयक नीति।
5. कवि बेताल की आर्थिक नीति।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "रीतिकालीन कवि बेताल के व्यक्तित्व की छाप उनके काव्य पर स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।" हिन्दी नीतिकाव्य के आलोक में इस कथन की समीक्षा कीजिए।
2. हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में नीतिकाव्य एक प्रमुख प्रवृत्ति रही है। इस सन्दर्भ में जमाल, रामसहाय दास, सम्मन और बेताल के रचनात्मक अवदान पर संक्षिप्त चर्चा कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'अंकाक्षरी विद्या' से सम्बन्धित हैं –
   (क) जमाल
   (ख) रामसहाय दास
   (ग) सम्मन
   (घ) बेताल

2. "मरै करकसा नारि मरै वह खसम निखट्टू" – यह कथन किसका है ?
   (क) रामसहाय दास
   (ख) सम्मन
   (ग) बेताल
   (घ) जमाल

3. निम्नलिखित नीतिकवियों में से किस कवि ने मीठी वाणी बोलने की सीख दी है ?
   (क) जमाल
   (ख) सम्मन
   (ग) बेताल
   (घ) रामसहाय दास

4. 'राम-सतसई' के रचयिता हैं –
   (क) सम्मन
   (ख) जमाल
   (ग) बेताल
   (घ) रामसहाय दास

5. कवि जमाल किस सुप्रसिद्ध कवि के पुत्र माने जाते हैं ?
   (क) कबीर
   (ख) रैदास
   (ग) रहीम
   (घ) नानक

❖❖❖